CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE Grant 2

Rajguru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment Heritage Foundation, Jalgaon

n Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-

uru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Ja

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-Mo

Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation,

In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

श्रीहरिः

गीताका ज्ञानयोग

[श्रीमद्भगवद्गीताके तेरहवें और चौदहवें अध्यायोंकी विस्तृत व्याख्या]

स्वामी रामसुखदास

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

प्रकाशक—गोविन्दभवन-कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर

सवत्	२०३५	प्रथम संस्करण	१५,०००
संवत्	२०३७	द्वितीय संस्करण	२०,०००
संवत्	२०४१	तृतीय संस्करण	२५,०००
		कुल	६०,०००

(संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण)

मूल्य चार रुपये

मुद्रक—गीताप्रेस, गोरखपुर

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

श्रीहरिः

प्रथम संस्करणका निवेदन

श्रीमद्भगवद्गीता ज्ञानका असीम भण्डार है। इसका आशय पूर्णरूपेण समझनेमें मूर्धन्य विद्वानोंकी बुद्धि भी कुण्ठित हो जाती है। इसे समझानेमें अच्छे-अच्छे तत्त्वालोचक भी अपने आपको असमर्थ पाते हैं; क्योंकि यह स्वयं श्रीभगवान्‌के श्रीमुखसे निःसृत अति रहस्यमयी दिव्य वाणी है।

हमारे श्रद्धेय एवं अधिकांश पाठकोंके लिये सुपरिचित स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजद्वारा लिखित यह 'गीताका ज्ञानयोग' छोटी-छोटी कड़ियोंके रूपमें 'कल्याण'के ३३ अङ्कोंमें (वर्ष ४८, अङ्क ७ से वर्ष ५१, अङ्क १२ तक) प्रकाशित होता रहा। इसके अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीताके तेरहवें एवं चौदहवें अध्यायोंकी विस्तृत व्याख्याका प्रस्तुतीकरण अत्यन्त सरल एवं बोधगम्य भाषा-शैलीमें हुआ है। अनेक परमार्थ-पथपथिक भाई-बहिनोंके विशेष आग्रहवश आज वही गीताका ज्ञानयोग पुस्तकके रूपमें आपके हाथोंमें है। यह पुस्तक केवल साधकोंके लाभकी दृष्टिसे लिखी गयी है।

गीताप्रेमी पाठक-पाठिकाओंसे मेरा यह विनम्र निवेदन है कि ज्ञानयोगद्वारा परमात्म-प्राप्तिकी अनेक सहज एवं अनुभूत युक्तियोंसे युक्त इस ग्रन्थमें वर्णित विषयोंको गहराईसे समझनेका सत्प्रयत्न करें और तदनुसार जीवन बनायें।

—प्रकाशक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

श्रीहरिः

विषय-सूची

श्रीमद्भगवद्गीताके तेरहवें और चौदहवें अध्यायोंका मूल पाठ ... अ–त
श्रीमद्भगवद्गीताका संक्षिप्त परिचय १–१६

तेरहवाँ अध्याय

श्लोक-संख्या	प्रधान विषय	पृष्ठ
१–१८	क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा) ज्ञान और ज्ञेय (परमात्मा)का भक्तिसहित विवेचन ...	१७–१९५
१९–३४	ज्ञानसहित प्रकृति-पुरुषका विवेचन ...	१९६–२९६
	सूक्ष्म विषय	
१–२	क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके स्वरूपका कथन और क्षेत्रज्ञकी परमात्माके साथ एकता तथा ज्ञानका लक्षण ... (विशेष ध्यान देनेकी बात ३३)	१७–५५
३	विकारसहित क्षेत्र और प्रभावसहित क्षेत्रज्ञके स्वरूपको सुननेकी आज्ञा ... (विशेषार्थ ५९)	५६–६१
४	क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके विषयमें ऋषि, वेद और ब्रह्मसूत्रका प्रमाण ...	६२–६३
५	क्षेत्रके स्वरूपका कथन ... (विशेषार्थ ७०)	६३–७२
६	क्षेत्रके विकारोंका कथन ... (विशेषार्थ ८२)	७२–८६

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

श्लोक-संख्या	सूक्ष्म विषय	पृष्ठ
७–११	ज्ञान (बोध) प्राप्तिके २० उपायोंका कथन··· (विशेषार्थ ८७, अमानित्व ८९ और अमानी होनेका उपाय ९०; अदम्भित्व ९२ और दम्भसे बचनेका उपाय ९४, अहिंसा ९६ व हिंसाके भेद ९६ तथा अहिंसाव्रतके पालनके उपाय ९७, क्षान्ति ९९ और उसका उपाय ९९, आर्जव १०१ और उसका उपाय १०१, आचार्योपासना १०३, विशेष बात १०५, शुचि १०६, स्थैर्य १०८ और उसका उपाय १०८, आत्म-विनिग्रह १०८ और उसका उपाय १०९, विषयोंसे विरक्ति ११० और उसका उपाय १११, अनहंकारिता ११३ एवं उसके सम्बन्धमें विशेष बात ११४ तथा अहंकाररहित होनेके उपाय ११६, जन्म-मृत्यु-जरादिमें दुःखरूप दोषका दर्शन १२४ और उसका उपाय १२८, पुत्र-दार-गृहादिमें आसक्तिरहित होना १२९ और उसका उपाय १३०, पुत्र-दार-गृहादिमें सम्बन्ध न होना १३२ और उसका उपाय १३३, अनुकूलता-प्रतिकूलतामें सम रहना १३३ और उसका उपाय १३४, भगवान्‌में अनन्य योगसे भक्ति १३५ और उसका उपाय १४१, एकान्तसेवन १४१ और उसका उपाय १४२, विषयासक्त मनुष्योंसे प्रेम न करना १४३ और उसके उपाय १४४, अध्यात्मज्ञानमें नित्यता १४५ और उसमें नित्यस्थितिके उपाय १४७, तत्त्व-	८६–

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

श्लोक-संख्या	सूक्ष्म विषय	पृष्ठ
	ज्ञानको सर्वत्र परिपूर्ण देखना १४८ और उस तत्त्वज्ञानदर्शनके उपाय १४९, विशेषार्थ १५३)	
१२	प्रतिज्ञापूर्वक ज्ञेयके निर्गुणस्वरूपका वर्णन ···	१५४–१६०
१३	ज्ञेयके सगुण निराकारस्वरूपका वर्णन ··· (विशेषार्थ १६३)	१६०–१६४
१४	ज्ञेयके सगुण-निर्गुण स्वरूपकी एकता ···	१६४–१६७
१५	ज्ञेयकी व्यापकताका विवेचन ··· (विशेषार्थ १६७, अविज्ञेयको जाननेका उपाय १७२)	१६७–१७३
१६	ब्रह्मा-विष्णु-महेशकी ज्ञेय तत्त्वके साथ अभिन्नता	१७३–१७६
१७	ज्ञेयके परमप्रकाशमय स्वरूपका कथन ··· (परमात्मस्वरूप-सम्बन्धी विशेष बात १८६)	१७६–१८९
१८	क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेयके तत्त्वको जाननेका फल ···	१८९–१९५
१९	प्रकृति-पुरुषकी अनादिता एवं प्रकृतिसे विकारों एवं गुणोंकी उत्पत्ति ··· ···	१९६–१९९
२०	कर्तृत्वमें प्रकृतिकी और भोक्तृत्वमें पुरुषकी हेतुताका कथन ··· ··· (विशेष बात २०४, मैं-पनको मिटानेका सर्वोत्तम उपाय २११)	१९९–२१३
२१	पुरुषका प्रकृति एवं गुणोंके साथ सङ्ग होनेका फल ··· ···	२१३–२१९
२२	परमपुरुषके स्वरूपका निरूपण ···	२१९–२२४
२३	प्रकृति और पुरुषको तत्त्वसे जाननेका फल ··· (विशेष बात २३१, मार्मिक बात २३२)	२२४–२३४
२४-२५	परमात्माकी प्राप्तिके निमित्त चार विभिन्न साधनोंका कथन ··· ···	२३४–२५३

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

श्लोक-संख्या	सूक्ष्म विषय	पृष्ठ
२६	चराचर जगत्‌की उत्पत्तिका हेतु ···	२५३–२५६
२७	समभावसे परिपूर्ण परमात्माको जाननेवालेकी महिमा ··· ···	२५६–२६०
२८	परमात्माके समदर्शनका फल ···	२६०–२६४
	(विशेष बात २६३)	
२९	आत्माको अकर्ता देखनेवालेकी प्रशंसा ···	२६४–२६८
३०	ब्रह्मप्राप्तिके उपाय ··· ···	२६८–२७४
	(विशेष बात २७१)	
३१	परमात्माके अकर्तृत्व और निर्लेपत्वमें हेतु ···	२७४–२८०
	(विशेष बात २७८)	
३२	दृष्टान्तसहित आत्माकी निर्लिप्तता ···	२८०–२८४
३३	दृष्टान्तसहित आत्माका अकर्तृत्व ···	२८४–२८७
३४	क्षेत्रके साथ अपने माने हुए सम्बन्धको तोड़नेका फलकथन ··· ···	२८७–२९५
	तेरहवें अध्यायके पद, अक्षर, उवाच एवं छन्दोंपर विचार ··· ···	२९६

चौदहवाँ अध्याय

श्लोक-संख्या	प्रधान विषय	पृष्ठ
१–४	ज्ञानकी महिमा और प्रकृति-पुरुषसे जगत्‌की उत्पत्ति ··· ···	२९८–३२१
५–१८	सत्त्व-रज-तम—इन तीनों गुणोंका विवेचन···	३२१–३८७
१९–२७	भगवत्प्राप्तिका उपाय एवं गुणातीत पुरुषके लक्षण ··· ···	३८७–४३२

सूक्ष्म विषय

१–२ परमज्ञानके कथनकी प्रतिज्ञा एवं उसकी महिमा २९८–३११

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

श्लोक-संख्या	सूक्ष्म विषय	पृष्ठ
	("मम साधर्म्यमागताः" पर विशेष टिप्पणी ३०५)	
३–४	सर्वभूतोंकी उत्पत्तिका कथन ...	३११–३२१
	('महत् ब्रह्म'का अभिप्राय ३१३)	
५	तीनों गुणोंद्वारा बन्धन ...	३२१–३२९
	(मार्मिक बात ३२५)	
६–८	सत्त्व-रज-तम तीनों गुणोंद्वारा अलग-अलग बाँधे जानेका प्रकार	३२९–३४७
	(विशेष बात ३४७, कर्मोंमें राग ही बाँधता है (टिप्पणीमें) ३३६)	
९	तीनों गुणोंद्वारा पुरुषपर विजय प्राप्त करनेका प्रकार	३४७–३५०
१०	दो गुणोंको दबाकर क्रमशः प्रत्येक गुणका उत्कर्ष-कथन	३५०–३५२
११–१३	'सत्त्व, रज, तम' तीनों गुणोंकी वृद्धिके अलग-अलग लक्षण	३५२–३६४
	(विशेष बात ३६१)	
१४–१५	तीनों गुणोंकी वृद्धिके समय मरनेवालोंकी अलग-अलग गतिका वर्णन ...	३६४–३७१
	(विशेष बात ३६८ एवं ३६९)	
१६	सात्त्विक-राजस-तामस कर्मोंका फल ...	३७२–३७९
	(विशेष बात ३७७)	
१७	तीनों गुणोंकी मुख्य वृत्तियोंका विवेचन ...	३७९–३८१
१८	तीनों गुणोंमें स्थित पुरुषोंकी अलग-अलग गतिका विवेचन	३८१
	(ऊर्ध्वगतिके दो भेद (टिप्पणीमें)	३८१,

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

श्लोक-संख्या	सूक्ष्म विषय	पृष्ठ
	(विशेष बात ३८५)	
१९–२०	गुणातीत होनेका उपाय एवं फल ...	३८७–४०३
	(विशेष बात ३९४)	
	(गुणोंके विषयमें ज्ञातव्य बातें ३९७, १४ वें अध्यायके क्रमके विषयमें विशेष शङ्का-समाधान ३९९)	
२१	गुणातीत पुरुषके विषयमें तीन प्रश्न ...	४०३–४०५
२२–२३	गुणातीत पुरुषके लक्षण	४०५–४१२
२४–२५	गुणातीत पुरुषके आचरण	४१२–४२०
	(गुणातीत होनेका सुगम उपाय (टिप्पणीमें) ४१७, गुणातीतके विषयमें महत्त्वपूर्ण बात ४१९)	
२६	गुणातीत होनेका सुगम उपाय ...	४२०–४२९
	(मार्मिक बात ४२४)	
२७	भगवत्स्वरूपकी महिमा	४२९–४३२
	(सनातन-धर्म (टिप्पणीमें) ४३०)	
	चौदहवें अध्यायके पद, अक्षर, उवाच एवं छन्दोंपर विचार	४३१–४३२

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥ १॥
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥ २॥
तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु॥ ३॥
ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः॥ ४॥
महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥ ५॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥ ६॥
अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः॥ ७॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्॥ ८॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥ ९॥

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalg

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१०॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥११॥
ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥१२॥
सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१३॥
सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥१४॥
बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥१५॥
अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥१६॥
ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥१७॥
इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद् विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥१८॥
प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥१९॥

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥२०॥
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥२१॥
उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥२२॥
य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥२३॥
ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥२४॥
अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥२५॥
यावत्संजायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥२६॥
समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥२७॥
समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥२८॥
प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥२९॥

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalg

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥३०॥
अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥३१॥
यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥३२॥
यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥३३॥
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥३४॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम
त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥ १ ॥
इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ २ ॥
मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ ३ ॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४ ॥
सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५ ॥
तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥ ६ ॥
रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥ ७ ॥
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ ८ ॥
सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥ ९ ॥

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalg

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust: Funding IKS-MoE-Gra

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥१०॥
सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥११॥
लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥१२॥
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥१३॥
यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥१४॥
रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥१५॥
कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥१६॥
सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥१७॥
ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥१८॥
नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥१९॥
गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥२०॥

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥२१॥

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥२२॥
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥२३॥
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥२४॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥२५॥
मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥२६॥
ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥२७॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो
नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

श्रीहरिः

श्रीमद्भगवद्गीताका संक्षिप्त परिचय

श्रीमद्भगवद्गीता एक अत्यन्त अलौकिक एवं विचित्र ग्रन्थ है। इसमें मनुष्यमात्रके कल्याणकी बात कही गयी है। इस ग्रन्थकी अनेक विलक्षणताओंमें एक विलक्षणता यह भी है कि यह मनुष्य-मात्रके अनुभवपर आधारित है।

श्रीमद्भगवद्गीताके प्रारम्भमें धृतराष्ट्र और संजयका संवाद है। धृतराष्ट्रने पूछा कि युद्धके लिये एकत्रित मेरे और पाण्डुके पुत्रोंने क्या किया? उत्तरमें संजयने दुर्योधनके द्वारा द्रोणाचार्यको कही गयी युद्धभूमिमें एकत्रित दोनों सेनाओंके प्रधान शूरवीरोंकी महिमाका वर्णन किया। दुर्योधनने द्रोणाचार्यसे बहुत चतुराईके साथ बात की, जिसे सुनकर द्रोणाचार्य कुछ बोले नहीं, चुप ही रहे। इस बातका दुर्योधनपर प्रभाव पड़ा और वह दुःखी हो गया। तब दुर्योधनको प्रसन्न करनेके लिये पितामह भीष्मने सिंहके समान गरजकर शङ्ख बजाया*। फिर कौरव और पाण्डव सेनाके शङ्ख और बाजे बजे, जिसकी बहुत भयंकर ध्वनि हुई। इस भयंकर ध्वनिसे धृतराष्ट्रके सम्बन्धियों (कौरवों) के हृदय विदीर्ण हो गये (१। १९); क्योंकि वे अन्यायके पक्षमें थे। परंतु पाण्डवोंके हृदय बिल्कुल अचल रहे; क्योंकि वे न्यायके पक्षमें थे। ग्यारह अक्षौहिणी

* भीष्मने दुर्योधनके हृदयमें हर्ष उत्पन्न करते हुए (तस्य संजनयन्हर्षं) सिंहके समान गरजकर शङ्ख बजाया (१। १२)। इस बातसे यही सिद्ध होता है कि दुर्योधन दुःखी था।

CC-0. RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

सेना होते हुए भी कौरव भयभीत हो गये और केवल सात अक्षौहिणी सेना होते हुए भी पाण्डव भयभीत नहीं हुए !

इसके बाद संजय 'अथ' शब्दसे गीताका प्रारम्भ करते हैं—'अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा' (१।२०) । ऐसे ही संजय "इति' शब्दसे गीताकी समाप्ति भी करते हैं—'इत्यहं वासुदेवस्य' (१८ । ७४)।

गीताके उपदेशका प्रारम्भ दूसरे अध्यायके ग्यारहवें श्लोकसे होता है । यहाँसे तीसवें श्लोक (२ । ११–३०) तक एक प्रकरण है, जिसे टीकाकार प्रायः आत्मा-अनात्माके विवेचनका प्रकरण कहते हैं । परंतु ध्यान देनेकी बात यह है कि इस प्रकरणमें भगवान्‌ने आत्मा, अनात्मा, ब्रह्म, ईश्वर, जीव, प्रकृति, पुरुष, अविद्या, माया आदि कोई दार्शनिक शब्द दिया ही नहीं । केवल शरीर-शरीरी, देह-देही-जैसे सर्वसाधारणकी समझमें आनेवाले शब्द ही दिये हैं । इस प्रकरणमें मुख्य बात है—शरीर और शरीरी दोनों अलग-अलग हैं । शरीरीके साथ शरीर नहीं जाता और शरीरके साथ शरीरी नहीं रहता । इसे समझ लेनेपर फिर शोक हो ही नहीं सकता । शरीर नाशवान् है और नाशवान्‌का नाश अवश्यम्भावी है; अतः इसके नाशके विषयमें शोक कैसा ! इसके विपरीत शरीरी अविनाशी है और अविनाशीका नाश कभी सम्भव ही नहीं; अतः उसके लिये शोक करनेका प्रश्न ही नहीं है । इस प्रकार शरीर-शरीरीके भेदका अनुभव करनेको भगवान्‌ने सांख्ययोग कहा है । शरीर और शरीरी दोनों भिन्न-भिन्न हैं—यह मनुष्यमात्रके अपने अनुभवकी बात है । इसलिये गीताका उपदेश मनुष्यमात्रके अनुभवपर आधारित है ।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

सांख्ययोगका वर्णन करके भगवान् (२ । ३९ से) 'कर्मयोग' का वर्णन प्रारम्भ करते हैं। संसार अंशी है और शरीर उसका अंश। इसलिये शरीरकी संसारसे एकता है। अतः इसे संसारकी ही वस्तु समझते हुए (जो वास्तवमें संसारकी ही है) संसारकी सेवामें लगा देना 'कर्मयोग' है। कर्मयोगमें 'कर्म' संसारके लिये और 'योग' अपने लिये होता है; क्योंकि कर्मका सम्बन्ध सदैव शरीर और संसारके साथ ही होता है। कर्म सदैव शरीरके द्वारा और संसारके लिये ही होता है।

परमात्माका अंश होते हुए भी चेतन-तत्त्व (स्वरूप) भूलसे जड़-तत्त्व (शरीर) से अपना सम्बन्ध मान लेता है, जो वास्तवमें है नहीं; अपितु केवल माना हुआ है। भूलसे माने हुए सम्बन्धको मिटाकर स्वरूपका अनुभव कर लेना सांख्ययोग कहलाता है। दूसरे शब्दोंमें, स्वरूपमें अपनी स्वतः सिद्ध एवं स्वाभाविक स्थितिका अनुभव करना सांख्ययोग है।

केवल दूसरोंके हितके लिये सब कर्तव्य-कर्म करनेसे शरीरादि जड़ पदार्थोंका प्रवाह जड़ता (संसार) की ओर हो जाता है और इस प्रकार जड़तासे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर परमात्माके साथ स्वतःसिद्ध नित्ययोगकी अनुभूति हो जाती है। इसे कर्मयोग कहते हैं।

कर्मयोगमें तीन बातें मुख्य हैं—(१) मेरा (स्वयंका) कुछ नहीं है, (२) मुझे (स्वयंको) कुछ नहीं चाहिये और (३) मुझे अपने (स्वयंके) लिये कुछ नहीं करना है। शरीरादि पदार्थ 'अपने' नहीं

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

है; क्योंकि संसारसे मिले होनेके कारण वे संसारके ही हैं। शरीरादि पदार्थ 'अपने लिये' भी नहीं हैं; क्योंकि जो वस्तु अपनी होती है, वही अपने लिये होती है। संसारकी वस्तु संसारके लिये ही होती है। अपनेको कुछ नहीं चाहिये; क्योंकि कामना (चाह) अभावसे उत्पन्न होती है, जबकि सत् होनेके कारण अपने (आत्मा) में कभी अभाव नहीं होता। अतः जिसमें अभाव है ही नहीं, उस स्वयंको कुछ नहीं चाहिये। यही निष्कामता है। अपने लिये कुछ भी नहीं करना है। सब कुछ संसारके लिये ही करना है; क्योंकि कर्म करनेकी सब सामग्री (शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि) संसारकी है।

कर्मयोगमें अपने लिये कुछ नहीं करनेसे कर्तृत्व स्वतः नष्ट हो जाता है। कुछ-न-कुछ पानेकी इच्छापर ही कर्तृत्व टिका हुआ है। इसलिये अपने लिये कुछ न चाहे, तो कर्तृत्वभाव नहीं रहता। जबतक कर्म और कर्मफल अर्थात् उत्पन्न होनेवाली वस्तुसे किञ्चित् भी सम्बन्ध रहता है, तबतक कर्म अपने लिये होते हैं, और जबतक कर्म अपने लिये होते हैं, तभीतक कर्तृत्व-भाव रहता है। कर्म और कर्मफलसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर कर्तृत्वभाव नहीं रहता। परहितके लिये कर्तृत्व-कर्म करनेपर कर्तृत्व कर्तव्यमें लीन हो जाता है—यह नियम है।

कर्मयोगके विषयमें भगवान्‌ने बतलाया—**'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।'** (२ । ४७) 'तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है, उसके फलोंमें कभी नहीं।' शरीर आदि जो भी सामग्री मिली हुई है, वह सब-की-सब संसारसे अभिन्न है और संसारकी सेवाके

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

लिये ही मिली है। इसलिये अपने कर्तव्य-कर्मोंके द्वारा संसारकी सेवा करनेका ही हमें अधिकार है। उन कर्मोंके फलस्वरूप मिली हुई सामग्रीपर हमारा अधिकार नहीं है। सम्पूर्ण कर्म उत्पन्न और नष्ट होनेवाले हैं, इसलिये उनके फल भी उत्पन्न और नष्ट होनेवाले ही हैं। ऐसे नाशवान् फल हमें लेने ही नहीं हैं। अतः हमें फलोंका हेतु भी नहीं बनना है—'मा कर्मफलहेतुर्भूः।' अर्थात् कर्म करनेकी सामग्री (शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि आदि) में ममता, आसक्ति और कामना नहीं करनी है। परंतु कर्म न करनेमें भी आसक्ति नहीं होनी चाहिये—'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।' क्योंकि मोहपूर्वक कर्मोंका त्याग तामस होनेसे नरकोंमें ले जानेवाला होता है। संसारसे मिली वस्तुको संसारकी सेवामें लगा ही देनी चाहिये। फिर समताकी प्राप्ति स्वतः होगी। उस समतामें स्थित होकर संसारके लिये कर्म करने हैं। इस प्रकार भगवान्‌ने कर्मयोगकी बात बतलायी।

एक बहुत विलक्षण बात आयी है। भगवान्‌ने दूसरे अध्यायके उन्तालीसवें श्लोकमें कहा—'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।' 'यह बुद्धि तेरे लिये सांख्यके विषयमें कही गयी और अब तू इसे योगके विषयमें सुन।' यहाँ एक गहरी बात समझनेकी है कि भगवान्‌ने सर्वप्रथम 'बुद्धि' शब्दका प्रयोग यहीं (२। ३९ में) किया है। इसके पहले अड़तीस श्लोकोंमें 'बुद्धि' शब्दका प्रयोग किया ही नहीं। सांख्यके विषयमें बुद्धिका तात्पर्य है—जड़-चेतनका विभाग समझकर जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद करके अपने स्वरूप ('है')में स्थित हो जाना, जो स्वतःसिद्ध है। इस

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

प्रकार स्वरूप (आत्मा) को जान लेनेपर चिन्ता-शोक हो ही नहीं सकते—'तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ।' (२ । २५) इत्यादि । सांख्ययोगमें स्वरूपका अनुभव होनेसे उसके परिणाम-स्वरूप बुद्धि स्थिर हो जाती है । परंतु कर्मयोगमें व्यवसायात्मिका (एक निश्चयवाली) बुद्धिकी प्रधानता कही गयी है—'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह' (२ । ४१) । बुद्धिका एक दृढ़ निश्चय होनेके बाद स्वरूपका अनुभव हो जाता है । इस प्रकार सांख्ययोगमें अनुभवके बाद बुद्धिकी स्थिरता होती है, और कर्मयोगमें बुद्धिकी स्थिरताके बाद अनुभव होता है ।

दूसरे अध्यायके चौवालीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा कि सांसारिक भोग और संग्रहमें लगे हुए अविवेकी मनुष्योंकी व्यवसायात्मिका बुद्धि नहीं होती । फिर नवें अध्यायके तीसवें श्लोकमें कहा कि अतिशय दुराचारी मनुष्य भी अनन्यभावसे भजन करनेके कारण एवं एक निश्चयवाला होनेके कारण साधु ही मानने योग्य है । इससे सिद्ध होता है कि कर्मयोग और भक्तियोग दोनोंमें ही व्यवसायात्मिका बुद्धिकी बहुत आवश्यकता एवं महिमा है ।

कर्मयोगमें एक ही निश्चय होता है कि केवल संसारके हितके लिये ही सब कुछ करना है, क्योंकि शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, पदार्थ आदि सब संसारसे मिले हुए हैं, अपने नहीं हैं । भक्तियोगमें एक ही निश्चय होता है कि मैं भगवान्‌का हूँ, इसलिये केवल भगवान्‌के लिये ही सब कुछ करना है, सब कुछ भगवान्‌का ही

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

मानना है और भगवान्‌के प्रत्येक विधानमें प्रसन्न होना है। सांसारिक भोग और संग्रह—ये दोनों ही इस निश्चयमें बाधा डालनेवाले हैं। इसलिये इन दोनोंमें आसक्त पुरुष कभी बुद्धिका एक निश्चय नहीं कर पाता।

मुझे कामनाकी पूर्तिका सुख तथा अपूर्तिका दुःख होता है—इससे सिद्ध होता है मुझमें कामना है; इस प्रकार जिनमें कामना है, ऐसे पुरुषोंके लिये भागवतमें आया है—'**कर्मयोगस्तु कामिनाम्**' (११। २०। ७) अर्थात् कामनावाला पुरुष कर्मयोगका अधिकारी होता है। क्योंकि कर्मयोगमें कामनाको मिटानेके उद्देश्यसे केवल दूसरोंके लिये कर्म किये जाते हैं। जिसमें कामना होती है, उसे ही निष्काम होना है। इसलिये साधक संसारके लिये ही सब कर्म करके निष्काम होता है। मुझे न भोग चाहिये, न संग्रह चाहिये—ऐसा दृढ़ निश्चय होनेपर साधक स्थितप्रज्ञ हो जाता है (२। ५५–७२)। स्थितप्रज्ञ होनेपर स्वतः स्वरूपका अनुभव हो जाता है।

इसके बाद तीसरे और चौथे अध्यायमें भगवान् कर्मयोगका विस्तारसे वर्णन करते हैं। फिर पाँचवें अध्यायमें कर्मयोग और सांख्ययोग दोनोंका वर्णन करते हैं। छठे अध्यायमें कर्मयोग और सांख्ययोगमें उपयोगी ध्यानयोगका वर्णन करते हैं। सातसे बारहवें अध्यायतक विशेषरूपसे भक्तिका वर्णन करते हैं। फिर तेरहवें और चौदहवें अध्यायमें ज्ञानका वर्णन करके पंद्रहवें अध्यायमें पुनः भक्तिका वर्णन करते हैं। सोलहवें अध्यायमें भक्तिके अधिकारी

CC-0. RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

(दैवी सम्पत्तिवाले) और अनधिकारी (आसुरी-सम्पत्तिवाले) मनुष्योंका वर्णन करते हैं। सत्रहवें अध्यायमें अर्जुनके प्रश्न करनेपर तीन प्रकारकी श्रद्धाका वर्णन करके 'ॐ तत्सत्'की महिमा और उसके प्रयोगका वर्णन करते हैं।

अठारहवें अध्यायके प्रारम्भमें अर्जुनने संन्यास (सांख्ययोग) और त्याग (कर्मयोग)—दोनों निष्ठाओंके अलग-अलग भेद पूछे। उत्तरमें भगवान्‌ने दोनोंके तत्त्वका बहुत ही सुन्दर विवेचन किया। सत्रहवें अध्यायतक भगवान्‌ने जो बात संक्षेपमें कही थी, उसे यहाँ (अठारहवें अध्यायमें) विस्तारसे कह दिया और जो बात विस्तारसे कही थी, उसे यहाँ संक्षेपमें कह दिया। इस प्रकार गीताके सभी विषयोंका उपसंहार भगवान्‌ने अठारहवें अध्यायमें किया। इस अध्यायमें भगवान्‌ने दूसरेसे बारहवें श्लोकतक 'कर्मप्रधान कर्मयोग' का वर्णन किया। फिर तेरहवेंसे चालीसवें श्लोकतक 'विचार-प्रधान सांख्ययोग'का वर्णन किया। इकतालीसवेंसे अड़तालीसवें श्लोकतक 'भक्तिमिश्रित कर्मयोग'का वर्णन करते हुए कहा कि अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा भगवान्‌का पूजन करके मनुष्य परमसिद्धिको प्राप्त हो जाता है—'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥' (१८ । ४६) इसके बाद उनचासवेंसे पचपनवें श्लोकतक 'ध्यान-प्रधान सांख्ययोग'का वर्णन किया कि साधक विवेक और वैराग्य-पूर्वक एकान्तमें रहकर ध्यानयोगका अभ्यास करे। फिर छप्पनवेंसे छाछठवें श्लोकतक 'भक्तिप्रधान कर्मयोग'का वर्णन किया, जो बहुत ही मधुर एवं विलक्षण प्रकरण है। छाछठवें श्लोकमें भगवान्‌ने

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

गीताके उपदेशका उपसंहार किया। फिर गीताकी महिमाका वर्णन करके बहत्तरवें श्लोकमें भगवान्‌ने अर्जुनसे पूछा कि 'क्या तुमने एकाग्रचित्तसे मेरे वचन सुने ? और क्या तुम्हारा अज्ञानजनित मोह नष्ट हो गया ?' अर्जुनने उत्तर दिया कि 'हे अच्युत ! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया और मैंने स्मृति प्राप्त कर ली है; अब मैं संदेहरहित हो गया हूँ; अतः अब आपकी आज्ञाका पालन करूँगा' (१८ । ७३)। इसके बाद संजय श्रीकृष्ण और अर्जुनके अद्भुत और रोमहर्षक संवादको सुननेकी और फिर भगवान्‌के विराट्‌रूपको देखनेकी महिमाका गान करते हैं। अन्तमें गीताशास्त्रका उपसंहार करते हुए संजय कहते हैं कि 'जहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण हैं और जहाँ धनुर्धारी अर्जुन हैं, वहीं श्री, विजय, विभूति और अचल नीति है—ऐसा मेरा मत है' (१८ । ७८)।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्‌ने विशेषरूपसे मनुष्यमात्रके अनुभवपर ही उपदेश दिया है। इसमें द्वैत-अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, विशुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत आदि किसी मतविशेषका आग्रह न रखकर जीवमात्रके कल्याणकी बात कही गयी है।

जीव स्वयं परमात्माका अंश होते हुए भी जड़ताके साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है (१५ । ७)। इसी कारण वह बँध जाता है। जड़तासे माने हुए सम्बन्धका परित्याग कैसे किया जाय इसके लिये तीन योग बतलाये गये हैं—(१) कर्मोंसे संसारकी सेवा करके जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद करना, जिसे कर्मयोग कहते

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

हैं, (२) विवेक-विचारपूर्वक जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेदका अनुभव करना, जिसे सांख्ययोग कहते हैं और (३) सर्वस्व अर्पण करके (सब प्रकारसे) एक भगवान्‌की शरण होकर (भगवान्‌को ही अपना मानकर) जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद करना, जिसे भक्तियोग कहते हैं। भगवान्‌ने इन तीनोंका गीतामें विवेचन किया; किंतु उनमें केवल दो ही निष्ठा बतलायी—सांख्ययोग और कर्मयोग (३ । ३)। भक्तियोगको भगवान्‌ने निष्ठा नहीं कहा; क्योंकि भक्ति निष्ठासे विलक्षण है। निष्ठा नाम स्थितिका है और वह स्थिति साधककी होती है; परंतु भगवान्‌पर ही आश्रित, केवल भगवत्परायण भक्तकी अपनी कोई निष्ठा नहीं होती। वह ज्ञाननिष्ठ या कर्तव्यनिष्ठ न होकर भगवन्निष्ठ होता है।

भक्तका स्वरूप-बोधके लिये अलगसे अपना प्रयास नहीं करना पड़ता। सर्वस्व भगवान्‌के अर्पित होनेके कारण उसे भगवत्कृपासे अपने-आप बोध हो जाता है। भगवान् स्वयं कहते हैं कि जो केवल मेरे ही परायण हैं, उन भक्तोंको मैं बुद्धियोग (तत्त्वज्ञान) प्रदान करता हूँ और उनके अज्ञानजनित अन्धकारका नाश कर देता हूँ (१० । १०-११)।

'योग' नाम समताका है। पातञ्जलयोगदर्शनने चित्तवृत्तियोंके निरोधको योग कहा है—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' (१ । २) परंतु गीता समताको ही योग कहती है—'समत्वं योग उच्यते'

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

(२ । ४८)* । गीताका मुख्य उद्देश्य समताकी प्राप्ति है । समताकी प्राप्ति जड़ताका त्याग करके चिन्मयतामें स्थित होनेसे स्वतः होती है और समता प्राप्त होनेसे चिन्मयतामें स्वतः स्थिति होती है । जिनका मन निर्दोष और सम हो गया है, वे सदाके लिये जन्म-मरणसे मुक्त हो जाते हैं—'इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।' (५ । १९ पूर्वार्ध) । परमात्मा निर्दोष और सम हैं, इसलिये उनकी स्थिति परमात्मामें ही हो जाती है—'निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥' (५ । १९ उत्तरार्ध) ।

गीताने परमात्मा (चिन्मयता) के प्राप्त होनेकी कसौटी बतलायी है—'वासुदेवः सर्वम्' (७ । १९) । अर्थात् सब कुछ वासुदेव ही है—ऐसा अनुभव होना । जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर जड़ताका महत्त्व हृदयसे हट जाता है और फिर सब जगह एक परमात्मतत्त्व दीखने लगता है । कारण यह है कि निरन्तर परिवर्तनशील होनेके कारण वास्तवमें संसारकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है । परिवर्तनरहित एक परमात्मतत्त्वकी ही वास्तविक सत्ता है ।

एक और बहुत विलक्षण बात गीतामें आयी है । दूसरे अध्यायके उन्तालीसवें श्लोकसे कर्मयोगका विषय चल रहा था । मुख्य बात थी—अपने कर्तव्यसे सबको सुख पहुँचाना, सबकी सेवा करना, जिसे लोकसंग्रहार्थ-कर्म और यज्ञार्थ-कर्मके

---

* पातञ्जलयोगदर्शनका योग शब्द 'युज् समाधौ' धातुसे और गीताका योग शब्द 'युजिर् योगे' धातुसे बनता है ।

CC-0. RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

नामसे कहा गया है। चौथे अध्यायमें इसीका विवेचन करते हुए बीचमें जब ज्ञानका प्रसङ्ग चला, तब भगवान्‌ने कहा कि द्रव्यमय यज्ञकी अपेक्षा ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है—'श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।' (४ । ३३ पूर्वार्ध)। फिर भगवान्‌ने ज्ञानको कर्मकी अपेक्षा श्रेष्ठ बतलाते हुए कहा कि ज्ञानमें सम्पूर्ण कर्म समाप्त हो जाते हैं—'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥' (४ । ३३ उत्तरार्ध)। यह ज्ञान वही ज्ञान प्रतीत होता है, जो उपनिषदोंका है और अनादि कालसे चला आ रहा है। उपनिषदोंके ज्ञानकी प्रणाली है—कर्मोंका त्याग करके, जिज्ञासापूर्वक गुरु (तत्त्वज्ञानी पुरुष) के पास जाकर विधिपूर्वक ज्ञान प्राप्त करना।* इसी प्रणालीका वर्णन करते हुए भगवान् कहते हैं—'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया। उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥' (४ । ३४)†।

---

* 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ।'
(मुण्डकोपनिषद् १ । २ । १२)
'उस ज्ञानको प्राप्त करनेके लिये वह (जिज्ञासु-साधक) हाथमें समिधा लिये हुए विनयपूर्वक वेद-शास्त्रोंके ज्ञाता तत्त्वज्ञानी गुरुके पास जाय।'

† आदौ स्ववर्णाश्रमवर्णिताः क्रियाः कृत्वा समासादितशुद्धमानसः।
समाप्य तत्पूर्वमुपात्तसाधनः समाश्रयेत्सद्गुरुमात्मलब्धये ॥
(अध्यात्मरामायण, उत्तर० ५ । ७)
'सबसे पहले अपने-अपने वर्ण और आश्रमके लिये (शास्त्रोंमें) बतलायी हुई क्रियाओंका यथावत् पालन कर चित्त शुद्ध हो जानेपर उन कर्मोंको छोड़ दे और शम-दमादि साधनोंसे सम्पन्न होकर आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये सद्गुरुकी शरणमें जाय।'

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

तात्पर्य यह है कि साधक ज्ञानी पुरुषकी शरणमें जाय और जिज्ञासापूर्वक बड़ी नम्रतासे उनसे तत्त्वको पूछे, तो वे ज्ञानका उपदेश करेंगे, जिससे पहले अपने-आप (स्वरूप) का और फिर परमात्मतत्त्वका अनुभव हो जायगा (४ । ३५); 'तत्' एवं 'त्वम्' दोनों पदोंके लक्ष्यार्थका बोध हो जायगा। इस प्रकार ज्ञानकी महिमाका वर्णन करते हुए भगवान्‌ने यहाँतक कह दिया कि ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला दूसरा कुछ नहीं है—'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।' (४ । ३८ पूर्वार्ध) ऐसा कहकर भगवान्‌ने एक बहुत विचित्र बात कह दी कि वही तत्त्व-ज्ञान, जो गुरुसे विधिपूर्वक प्राप्त होता है, 'योगसंसिद्ध' (कर्मयोगके द्वारा तत्त्वको प्राप्त) होनेपर स्वतः अर्थात् अन्य किसी साधनके बिना स्वयं अपने-आपमें प्राप्त कर लेता है—'तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥' (४ । ३८ उत्तरार्ध)।*

गुरुसे ज्ञान प्राप्त करानेवाली ज्ञानकी प्रणाली उपनिषदोंकी है; परंतु भगवान्‌का ज्ञानयोग (जिसका वर्णन दूसरे अध्यायमें ग्यारहवेंसे तीसवें श्लोकतक हुआ है और जिसका विस्तृत वर्णन तेरहवें-चौदहवें अध्यायोंमें हुआ है) उपनिषदोंकी प्रणालीपर आधारित नहीं है; अपितु मनुष्यमात्रके अपने अनुभवपर आधारित है। उपनिषदोंकी प्रणालीका भी आदर करनेके लिये भगवान्‌ने बीचमें उसका वर्णन कर दिया। कर्म करते हुए ही ज्ञान प्राप्त हो जाय—यह गीताका

---

* 'कालेन'—यहाँ 'अपवर्गे तृतीया' इस पाणिनि-सूत्रसे अवश्य फलप्राप्तिके अर्थमें तृतीया विभक्ति हुई है (द्रष्टव्य पृष्ठ २४८)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

सिद्धान्त है । भगवान्‌के मतानुसार ज्ञान-प्राप्तिके लिये कर्मोंको त्यागनेकी आवश्यकता नहीं है । इसलिये भगवान्‌ने कहा कि मुमुक्षुओंने भी कर्म किये हैं—'एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।' (४ । १५) और जनकादि ज्ञानी महापुरुषोंने भी कर्मद्वारा ही सिद्धि प्राप्त की थी—'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।' (३ । २०) इसीलिये (४ । ३४में) भगवान् अर्जुनसे मानो यह कहते हैं कि यदि तुझे कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करके ज्ञान प्राप्त करना है, तो तू ज्ञानी पुरुषोंके पास ही जा; मैं तुझे ऐसा उपदेश नहीं करूँगा !

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, स्वयं परमात्माका अंश होते हुए भी जीव प्रकृतिको पकड़कर बन्धनमें पड़ जाता है । वह परमात्माके साथ अपने नित्य-सम्बन्धको भूलकर प्रकृतिके साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है जो वास्तवमें है नहीं । यह प्रकृतिका सम्बन्ध ही वास्तवमें बन्धन-कारक है । शास्त्रोंमें प्रकृतिके विषयमें अनेक मतभेद हैं । पर सार बात यह है कि साधक किसी मतविशेषका आग्रह न रखकर प्रकृतिसे माने हुए सम्बन्धका विच्छेद कर ले; क्योंकि प्रकृतिका सम्बन्ध ही अनर्थका मूल है । प्रकृति चाहे अनादि-अनन्त हो या अनादि-सान्त, उसका माना हुआ सम्बन्ध ही बन्धनका मुख्य कारण है । प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर साधक कृतकृत्य, ज्ञातज्ञातव्य और प्राप्तप्राप्तव्य हो जाता है ।

कर्मयोगसे कृतकृत्यता, ज्ञानयोगसे ज्ञातज्ञातव्यता और भक्तियोगसे प्राप्तप्राप्तव्यता होती है । यदि साधक कर्मयोग, ज्ञानयोग

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

और भक्तियोग तीनोंमेंसे किसी एकका आग्रह नहीं रखेगा, तो किसी एकके भी पूर्ण होनेपर कृतकृत्यता, ज्ञातज्ञातव्यता और प्राप्तप्राप्तव्यता तीनों हो जाती हैं। फिर जीवकी परवशता मिट जाती है और वह सदाके लिये स्ववश अर्थात् स्वतन्त्र हो जाता है। जीव प्रकृतिके माने हुए सम्बन्धको सत्य माननेके कारण प्रकृतिके वशमें होकर ही प्रकृति-जन्य गुणोंसे बँधता है (३। ५, ८। १९, ९। ८)। जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर वह उस बन्धनसे मुक्त हो जाता है और उसे योग अथवा समताकी प्राप्ति हो जाती है—'तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।' (६ । २३)। इसलिये गीतामें जड़ताके माने हुए सम्बन्धके त्यागकी बात मुख्य है। इस जड़ताके माने हुए सम्बन्धका त्याग करनेके लिये ही भगवान्‌ने स्वयंको शरीरसे भिन्न बतलानेके लिये 'इदं शरीरम्' पदसे तेरहवें अध्यायका प्रारम्भ किया। तेरहवें अध्यायके परिशिष्ट विषयका वर्णन चौदहवें अध्यायमें किया गया। प्रकृतिसे पुरुषके भेद (अलगाव) का विवेचन तेरहवें अध्यायमें एवं प्रकृतिजन्य गुणोंसे पुरुषके भेद तथा गुणातीतके लक्षणोंका विवेचन चौदहवें अध्यायमें किया गया। उन्हीं तेरहवें और चौदहवें अध्यायोंकी विस्तृत व्याख्या साधकोंकी सेवामें प्रस्तुत है।

विनीत—

स्वामी रामसुखदास

CC-0. RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

श्रीहरिः

सांसारिक मान-बड़ाई, राज्य, वैभव आदि कितने ही क्यों न मिल जायँ, पर उनसे कभी तृप्ति नहीं होती; क्योंकि सांसारिक इच्छाका विषय असत् और अनित्य है। इसके विपरीत परमात्मतत्त्वके अनुभवकी अभिलाषा सदा पूर्ण ही होती है; क्योंकि परमात्मतत्त्वकी अभिलाषाका विषय सत्य और नित्य है। इसके अतिरिक्त सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्तिमें सब परतन्त्र हैं और किन्हीं दो व्यक्तियोंको भी उनकी समान प्राप्ति नहीं होती। प्रारब्ध-कर्मकी प्रधानता तथा योग्यताके अनुसार ही वस्तुएँ प्राप्त होती हैं। इसके विपरीत परमात्माकी प्राप्तिमें सब-के-सब स्वतन्त्र हैं, योग्य-अयोग्य सब इसके अधिकारी हैं और सबको परमात्माकी समान प्राप्ति होती है। अतः सांसारिक पदार्थोंकी इच्छा करना महान् प्रमाद है, जिसका त्याग करना साधकोंके लिये आवश्यक है।

—इसी पुस्तकसे

ajGuru Math, Shivala, Varanasi.Collection Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

श्रीबाँकेविहारी

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

श्रीहरिः

गीताका ज्ञानयोग

[श्रीमद्भगवद्गीताके तेरहवें और चौदहवें अध्यायोंकी विस्तृत व्याख्या]

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥

सम्बन्ध—

बारहवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णसे पूछते हैं कि आपके व्यक्त (सगुण) और अव्यक्त (निर्गुण) स्वरूपके उपासकोंमें कौन श्रेष्ठ है ? इस प्रश्नके उत्तरमें भगवान् अपने सगुण स्वरूपके उपासकोंको श्रेष्ठ बतलाते हैं और आगे कहते हैं कि निर्गुणोपासक भी मुझे ही प्राप्त होते हैं, किंतु देहाभिमान रहनेके कारण उन्हें उपासनामें क्लेश अधिकतर होता है । यद्यपि दोनों प्रकारकी उपासनाओंके फलमें तो भेद नहीं है, किंतु अपने परायण सगुणोपासकोंके लिये भगवान् कहते हैं—'मुझमें चित्त लगाये रखनेवाले उन भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्यु-संसार-सागरसे उद्धार करनेवाला

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

होता हूँ।' फिर सगुणोपासनाओंके भेद एवं उनसे सिद्ध हुए भगवद्भक्तोंके लक्षणोंका वर्णन करते हुए उस अध्यायका उपसंहार कर देते हैं। अब निर्गुण-तत्त्वका विस्तारसे वर्णन करनेके लिये एवं उसके ज्ञानमें देहाभिमानरूप प्रधान बाधाको दूर करनेहेतु इस तेरहवें अध्यायका आरम्भ करते हैं, जिसमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके विभागका, सगुण और निर्गुण स्वरूपकी एकताका तथा प्रकृति-पुरुषके विभागका स्पष्टरूपसे वर्णन किया गया है। इस अध्यायके परिशिष्ट विषयका ही प्रकारान्तरसे अर्थात् महत्-ब्रह्म (प्रकृति)का उसके कार्यभूत गुणोंका एवं देहीके नामसे पुरुषका चौदहवें अध्यायमें प्रतिपादन किया गया है। अतः तेरहवें अध्यायके ३४ और चौदहवेंके २० श्लोक—कुल ५४ श्लोकोंका यह एक प्रकरण है। इस प्रकरणको हम 'गीताका ज्ञानयोग' कह सकते हैं।

जैसे स्वभावसे ही मनुष्य सम्पूर्ण संसारको इदंतासे देखता है, अर्थात् अपनेसे पृथक् जानता-मानता है, उसी प्रकार वह आत्मीय माने-जानेवाले शरीरको भी इदंतासे देखे—अपनेसे पृथक् जाने, इस भावको प्रकाशमें लाने एवं क्षेत्रज्ञ (आत्मा) की परमात्मामें अभिन्न भावसे स्थितिका अनुभव करानेके लिये भगवान् प्रारम्भके दो श्लोक प्रस्तुत करते हैं—

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥ १॥
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥ २॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

भावार्थ—

श्रीभगवान् बोले—कुन्तीनन्दन ! मन, बुद्धि और इन्द्रिय आदिसहित जो स्थूल शरीर देखनेमें आता है, यह 'क्षेत्र' कहा जाता है। [अर्थात् क्षेत्र परिवर्तनशील, क्षयिण्णु (क्षीण होनेवाला) एवं नाशवान् है।] इस क्षेत्रको जो जानता है, उसे क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके तत्त्वको जाननेवाले महापुरुष 'क्षेत्रज्ञ'के नामसे कहते हैं और हे भरतवंशोद्भव (भरतवंशमें उत्पन्न) ! सम्पूर्ण क्षेत्रोंमें जो क्षेत्रज्ञ है, उसे भी मुझे ही जान—मेरा ही स्वरूप समझ अर्थात् वह क्षेत्रज्ञ मुझसे भिन्न नहीं है। इस प्रकार मुझसे अभिन्न क्षेत्रज्ञ और उससे भिन्न क्षेत्र—इन दोनोंका जो ज्ञान है, वही मेरे मतमें ज्ञान है। तात्पर्य यह कि सम्पूर्ण नाशवान् पदार्थोंसे विमुख होकर एक सच्चिदानन्दघन परमात्मामें अभिन्नभावसे स्थित होना ही 'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका वास्तविक ज्ञान' है॥ १-२॥

अन्वय—

कौन्तेय, इदम्, शरीरम्, क्षेत्रम्, इति, अभिधीयते। यः, एतत् (क्षेत्रम्), वेत्ति, तम्, तद्विदः, क्षेत्रज्ञः, इति, प्राहुः। च, भारत, सर्वक्षेत्रेषु, क्षेत्रज्ञम्, अपि, माम्, विद्धि, यत्, क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः, ज्ञानम्, तत्, ज्ञानम्, मम, मत।

कौन्तेय—कुन्तीनन्दन * !

---

* कुन्ती भगवान् श्रीकृष्णकी बुआ थीं। अपने इस सम्बन्धको लेकर भगवान्‌द्वारा किये गये इस सम्बोधनमें कुन्तीपुत्र अर्जुनके प्रति उनकी आत्मीयता झलकती है। भगवान्‌ने गीतामें चौबीस बार इस सम्बोधनका प्रयोग किया है। अतः अर्जुनके प्रति आये हुए समस्त सम्बोधनोंमें इसका दूसरा स्थान है।

CC-0. RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

'इदम् शरीरम् क्षेत्रम् इति अभिधीयते'—यह शरीर क्षेत्र है, ऐसा कहा जाता है ।

इस श्लोकमें आये हुए 'इदम्* शरीरम् क्षेत्रम्'—ये मूल पद निर्गुण तत्त्वके ज्ञानमें बाधक देहाभिमानको मिटानेके लिये प्रयुक्त हुए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इन पदोंके भावको हृदयंगम करानेके लिये ही यह सम्पूर्ण अध्याय कहा गया है ।

भगवान्‌ने शरीरमात्रको 'क्षेत्र' कहा है, जो कि प्रकृति और प्रकृतिके कार्यभूत चौबीस तत्त्वोंसे निर्मित है और जिसका प्रतिक्षण क्षय होता रहता है । किंतु यहाँ इन पदोंपर विशेषतासे लक्ष्य करनेपर पता लगता है कि देवयोनिमें भोगोंकी बहुलताके कारण, नारकीय योनियोंमें अत्यधिक यातनाओंके कारण, मनुष्य-शरीरके अतिरिक्त पशु-पक्षी आदि चौरासी लाख योनियोंमें केवल सुख-दुःखरूप फलभोग होनेके कारण प्रायः ऐसा विवेक नहीं है; जिससे कि वे शरीरका 'इदम्' रूपसे अर्थात् अपनेसे पृथक् रूपमें अनुभव कर सकें । केवल मनुष्य-शरीरमें ही ऐसा भगवत्प्रदत्त विवेक† है, जिससे कि वह जैसे सम्पूर्ण

---

* 'इदम्' शब्द अङ्गुलिनिर्देशक है ।

† विवेक शुभ-कर्मोंका कार्य नहीं अपितु कारण है । कारण यह कि सबसे पहले किये जानेवाले शुभ-कर्म भी विवेकके बिना नहीं हो सकते । अतएव विवेकको भगवत्प्रदत्त मानना ही पड़ेगा ।

साधारण विवेक तो सभी प्राणियों (पशु-पक्षी आदि) में है, परन्तु वह विवेक केवल अपने जीवन-निर्वाह (खाना-पीना आदि) तक ही सीमित रहता है, जबकि मनुष्यशरीरमें ऐसा विलक्षण विवेक है कि वह तात्त्विक, पारमार्थिक बातोंको भी सुगमतापूर्वक समझकर, उन्हें अपने आचरणमें लाकर सदाके लिये महान् सुखी (कृतकृत्य, ज्ञात-ज्ञातव्य, प्राप्त-प्राप्तव्य) हो सकता है ।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

संसारको 'इदंता'से देखता है, वैसे ही 'आत्मीय' कहे जानेवाले शरीरको भी 'इदंता'से देख सकता है और अपना कल्याण कर सकता है। इसीसे कहा जाता है कि भगवत्प्राप्तिमें मनुष्यमात्रका जन्मसिद्ध अधिकार है। अतः समस्त शरीरोंको 'क्षेत्र' कहनेपर भी भगवान् वास्तवमें यहाँ मनुष्य-शरीरको ही 'क्षेत्र' कहना चाहते हैं।

यद्यपि इसी अध्यायके पाँचवें श्लोकमें (क्षेत्रके स्वरूपके वर्णनमें) भगवान् समष्टि प्रकृति (प्रकृति एवं उसके कार्यभूत चौबीस तत्त्वों) का वर्णन करते हैं, इसलिये यहाँ **'इदम् शरीरम् क्षेत्रम्'** पदोंसे भी समष्टि प्रकृति ही लेना उचित है, तथापि मानव-शरीरमें परिणत हुई उस प्रकृतिमें ही अहंभावपूर्वक अविवेक प्रकट है। अतएव समस्त शरीरोंको क्षेत्र कहनेपर भी भगवान्का लक्ष्य विशेषरूपसे मानव-शरीरकी ओर ही है।

प्रत्येक प्राणीका अपने शरीरमें अहंता-ममता करनेसे ही शरीर एवं शरीरसे सम्बन्धित संसारमें बन्धन होता है; अन्यत्र नहीं। मनुष्य-शरीरमें ही अहंकारपूर्वक किये हुए शुभ-अशुभ कर्मोंका सुख-दुःखरूप फलभोग अन्य शरीरोंमें प्राप्त होता है। अतः समस्त शरीर क्षेत्र (खेत) होते हुए भी केवल मनुष्य-शरीरको ही वास्तवमें खेत (उपजाऊ भूमि) कहा जा सकता है।

प्राप्त विवेकका आदर करके, सम्पूर्ण पदार्थों-सहित अपनेको भगवान्के अर्पण करके अथवा स्वार्थ और अभिमानको त्यागकर निष्कामभावसे दूसरोंकी सेवा करके मनुष्य संसार-बन्धनसे सुगमता-पूर्वक मुक्त हो सकता है। इसीसे ऐसा अनुमान लगाया जा सकता

CC-0. RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

है कि जीवका मनुष्य-शरीरसे ही बन्धन हुआ है। कारण कि यह नियम है कि जहाँसे बन्धन होता है, उस स्थानसे खोलनेपर ही (बन्धनसे) छुटकारा हो सकता है। अतः मनुष्य-शरीरसे ही बन्धन होता है और उस (मनुष्य-शरीर) के द्वारा ही बन्धनसे मुक्ति हो सकती है। यदि मनुष्यका अपने शरीरके साथ किसी प्रकारका भी अहंता-ममतारूप सम्बन्ध न रहे तो वह समस्त संसारसे मुक्त ही है। अतः यहाँ उक्त पदोंद्वारा भगवान् मनुष्यमात्रके 'अपने माने हुए' शरीरके साथ अहंता-ममतारूप सम्बन्धको मिटानेके लिये शरीरको 'क्षेत्र' बतलाकर उसे 'इदंता' (पृथक्ता)से देखनेके लिये कह रहे हैं, जो कि वस्तुतः पृथक् है ही। अतः तत्त्व-जिज्ञासुको इन पदोंपर विशेष ध्यान देना चाहिये।

शरीरको इदंतासे देखना केवल तत्त्व-जिज्ञासुके लिये ही आवश्यक नहीं है, अपितु अपना कल्याण चाहनेवाले समस्त साधकोंके लिये एवं मनुष्यमात्रके लिये वह परम आवश्यक प्रतीत होता है; क्योंकि स्वर्गादि उच्च लोकोंमें जानेका अधिकार अवकाश (अवसर) मनुष्य-शरीरमें ही है। यही कारण है कि भक्ति-प्रधान-कर्मयोगके अधिकारी अर्जुनके प्रति भी गीताका उपदेश आरम्भ करते ही भगवान्‌ने सबसे पहले (२। ११—३०) शरीर और शरीरी—देह और देही (देहधारी आत्मा) की पृथक्ताका वर्णन किया है।

'इदम्'का अर्थ है—यह अर्थात् पृथक् दीखनेवाला।

सर्वप्रथम देखनेमें आता है—यह पाञ्चभौतिक कलेवर अर्थात्

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाशसे बना पिण्डरूप स्थूल शरीर। यह दृश्य है और परिवर्तनशील है। इसको देखनेवाले हैं—नेत्र। जैसे दृश्यमें रंग, आकृति, अवस्था और उपयोग आदि सभी बदलते रहते हैं; किंतु देखनेवाले नेत्र एक ही रहते हैं, वैसे ही शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धरूप विषय भी बदलते रहते हैं, किंतु उनको जाननेवाले कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका एक ही रहते हैं। जैसे नेत्रोंसे ठीक दीखना, मन्द दीखना और बिल्कुल न दीखना—ये नेत्रमें होनेवाले परिवर्तन मनके द्वारा जाने जाते हैं, वैसे ही कान, त्वचा, जिह्वा और नासिकामें होनेवाले परिवर्तन भी मनके द्वारा जाने जाते हैं; अतः पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ (नेत्र, कान, त्वचा, जिह्वा और नासिका) भी दृश्य हैं। कभी क्षुब्ध, कभी शान्त, कभी स्थिर और कभी चञ्चल भाव आदि मनमें होनेवाले परिवर्तन बुद्धिके द्वारा जाने जाते हैं, अतः मन भी दृश्य है। कभी यथार्थ (ठीक) समझना, कभी कम समझना और कभी बिल्कुल न समझना—ये बुद्धिमें होनेवाले परिवर्तन जीवात्माके द्वारा जाने जाते हैं; अतः बुद्धि भी दृश्य है। बुद्धि आदिके द्रष्टा स्वयं (जीवात्मा) के वास्तविक स्वरूपमें कभी परिवर्तन हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं और सम्भव भी नहीं। वह सदा एकरस रहता है; अतः वह कभी किसीका दृश्य हो ही नहीं सकता।

इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयको जान सकती हैं, किंतु विषय अपनेसे पर (सूक्ष्म और श्रेष्ठ) इन्द्रियको नहीं जान सकते। वैसे ही इन्द्रियाँ और विषय मनको नहीं जान सकते, मन, इन्द्रियाँ और विषय बुद्धिको नहीं जान सकते तथा बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ और विषय स्वयं (जीवात्मा) को नहीं जान सकते। न जाननेमें मुख्य

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

कारण यह है कि इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि तो सापेक्ष द्रष्टा अर्थात् एक-एककी सहायतासे केवल अपनेसे स्थूल रूपको देखनेवाले हैं, किंतु स्वयं (जीवात्मा) शरीर, इन्द्रियों, मन और बुद्धिसे अत्यन्त सूक्ष्म और श्रेष्ठ होनेके कारण निरपेक्ष द्रष्टा है अर्थात् दूसरे किसीकी सहायताकी अपेक्षा न रखकर स्वयं ही देखनेवाला है ।

उपर्युक्त विवेचनमें यद्यपि इन्द्रियों, मन और बुद्धिको भी 'द्रष्टा' कहा गया है, किंतु वहाँ भी यह समझ लेना चाहिये कि स्वयं जीवात्माके साथ रहनेपर ही इनके द्वारा देखा जाना सम्भव होता है; क्योंकि बुद्धि, मन आदि जड प्रकृतिके कार्य होनेके कारण स्वयं स्वतन्त्र द्रष्टा नहीं हो सकते । अतः स्वयं (जीवात्मा) ही वास्तविक द्रष्टा है । दृश्य पदार्थ (शरीर), देखनेकी शक्ति (नेत्र, मन, बुद्धि) और देखनेवाला (द्रष्टा—जीवात्मा)—इन तीनोंमें गुणोंकी भिन्नत्व होनेपर भी जातीय एकता है; क्योंकि सजातीयताके विना देखनेका आकर्षण, देखनेका सामर्थ्य और देखनेकी प्रवृत्ति सिद्ध ही नहीं होती । यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि स्वयं (जीवात्मा) तो चेतन है, फिर वह अपनेसे विजातीय जड़ पदार्थ बुद्धि आदिको कैसे देखता है । समाधान यह है कि जीव (स्वयं) जड़से तादात्म्य (एकता) करके* जड़के सहित अपनेको 'मैं' मान लेता है । यह

* परमात्मामें निर्लिप्तापूर्वक कर्तृत्व और भोक्तृत्वकी योग्यता है (गीता ३ । २२; ४ । १३-१४; ५ । १९; ९ । २४) । अतः वे सृष्टिकी रचना, पालन और संहार आदि कार्य करते हैं । परमात्माका ही अंश होनेके कारण जीवात्मामें भी कर्तृत्व-भोक्तृत्वकी योग्यता है । इसी कारण वह जड़से तादात्म्य कर लेता है । वह जब चाहे, तब तादात्म्य नष्ट करके अपने वास्तविक स्वरूपका अनुभव कर सकता है ।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

'मैं' न तो जड़ है और न चेतन ही है। जड़में विशेषता देखकर वह जड़के साथ एक होकर कहता है कि 'मैं धनवान् हूँ; मैं विद्वान् हूँ' आदि और चेतनमें विशेषता देखकर चेतनके साथ एक होकर कहता है कि 'मैं आत्मा हूँ; मैं ब्रह्म हूँ' आदि। यही प्रकृतिस्थ पुरुष है, जो प्रकृतिजन्य गुणोंके सङ्गसे ऊँच-नीच योनियोंमें बारंबार जन्म लेता रहता है (गीता १३ । २१)। तात्पर्य यह निकला कि प्रकृतिस्थ पुरुषमें जड़ और चेतन दोनों अंश विद्यमान हैं। चेतनकी रुचि परमात्माकी तरफ ही जानेकी है, किन्तु भूलसे, तात्कालिक सुखभोगके लिये जड़से तादात्म्य कर लिया और तादात्म्यमें जो जड़ अंश है, उसका आकर्षण (प्रवृत्ति) जड़ताकी तरफ होनेसे वही सजातीयताके कारण जड़ बुद्धि आदिका द्रष्टा बनता है। यह नियम है कि देखना केवल सजातीयतामें ही सम्भव होता है अर्थात् दृश्य, दर्शन और द्रष्टाके एक ही जातिके होनेसे देखना होता है, अन्यत्र नहीं। इस नियमसे यह पता लगता है कि स्वयं (जीवात्मा) जबतक बुद्धि आदिका द्रष्टा रहता है, तबतक उसमें बुद्धिकी जातिकी जड वस्तु है अर्थात् जड-प्रकृतिके साथ उसका माना हुआ सम्बन्ध है। यह माना हुआ सम्बन्ध ही सब अनर्थोंका मूल है। इसी माने हुए सम्बन्धके कारण वह सम्पूर्ण जड-प्रकृति अर्थात् बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ, विषय, शरीर और पदार्थोंको अपना मानकर उनका द्रष्टा बनता है।

अपने वास्तविक स्वरूपसे पृथक् दीखनेवाला यह शरीर प्राकृत-पदार्थोंसे, क्रियासे, वर्ण-आश्रम आदिसे 'इदम्'—दृश्य ही है। यह है तो 'इदम्', पर जीवने भूलसे इसे 'अहम्' मान लिया और फँस गया। स्वयं परमात्माका अंश एवं चेतन है, सबसे महान् है;

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

किन्तु जब वह अपना मूल्याङ्कन जड़ (दृश्य) पदार्थोंसे करने लगता है (जैसे, मैं धनी हूँ, मैं विद्वान् हूँ आदि) तब वास्तवमें वह अपना मूल्य घटाता ही है। इतना ही नहीं, अपनी महान् बेइज्जती करता है; क्योंकि जब धन, विद्या आदिसे अपनेको बड़ा मानता है, तो धन, विद्या आदि ही बड़े हुए; स्वयंका महत्त्व तो कुछ रहा ही नहीं! वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो स्वयंका ही महत्त्व है, जड़ एवं नाशवान् धनादि पदार्थोंका नहीं; क्योंकि स्वयं जब उन पदार्थोंको स्वीकार करता है, तभी वे महत्त्वशाली दीखते हैं। इसीलिये भगवान् 'इदम् शरीरम् क्षेत्रम्' पदोंसे शरीरादि पदार्थोंको अपनेसे भिन्न 'इदंता'से देखनेके लिये कह रहे हैं।

क्षेत्र (जड-प्रकृति) के साथ माने हुए सम्बन्धके कारण स्वयं (जीवात्मा) अपने वास्तविक स्वरूपको भूलकर प्रकृतिके कार्य शरीरादिको 'मैं', 'मेरा' और 'मेरे लिये' मानता है तथा नाशवान् जड पदार्थोंकी इच्छा रखकर उन्हींसे सुख पानेकी चेष्टा करता है, किंतु स्वयं अविनाशी, चेतन होनेके कारण उन विनाशी और जड पदार्थोंसे वह कभी भी सर्वथा सुखी नहीं हो सकता, इसलिये सदैव दुःख भोगता रहता है। दुःखोंसे छुटकारा दिलानेके लिये भगवान् 'इदम् शरीरम् क्षेत्रम्'—इन तीन पदोंका प्रयोग करके शरीरादि क्षेत्रको इदंतासे देखने अर्थात् अपनेसे पृथक् जाननेके लिये कह रहे हैं। वस्तुतः वह अपनेसे पृथक् है ही। शरीरादिको अपनेसे पृथक् देखनेपर दुःखोंका अभाव तो हो जाता है, किंतु शरीरादिकी ओर दृष्टि रहनेसे साक्षीपनका सूक्ष्म व्यक्तित्व (अभिमान) बना रहता है।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

यह सूक्ष्म अभिमान अपने वास्तविक स्वरूप अर्थात् परमात्मतत्त्वकी ओर दृष्टि होनेसे ही मिटता है। परमात्मतत्त्वकी ओर दृष्टि होते ही वह (जीवात्मा) प्रकृतिसे विमुख हो जाता है अर्थात् उसके प्रकृतिके साथ माने हुए सम्बन्धका विच्छेद हो जाता है और तब वह परमात्मामें अपनी वास्तविक अभिन्न स्थितिका अनुभव करता है। उस अभिन्न स्थितिके अनुभव करनेकी बातका अगले श्लोकमें भगवान् 'सर्वक्षेत्रेषु क्षेत्रज्ञम् अपि माम् विद्धि' पदोंद्वारा वर्णन कर रहे हैं। ऐसी अभिन्न स्थितिका अनुभव होनेपर जीवात्मा कभी, किसी प्रकार और किंचिन्मात्र भी दुखी नहीं हो सकता।

'इदम् शरीरम् क्षेत्रम्'—इन पदोंको पढ़कर साधक शरीरादिको तो अपनेसे पृथक् मान लेता है, किंतु शरीर एवं इन्द्रियोंद्वारा होनेवाली खाना, पीना, सोना, देखना, सुनना आदि क्रियाओंको मनसे होनेवाले चिन्तन और बुद्धिसे होनेवाले निश्चयको अपनी क्रिया मानता रहता है। इधर ध्यान ही नहीं देता कि जब शरीरादि सभी दृश्य हैं तो फिर इनसे होनेवाली क्रियाएँ भी तो दृश्य ही हैं। वे दृश्यमें ही हैं, स्वयंमें कहाँ हैं?

वस्तुतः जैसे समष्टि-शक्तिसे संसारकी सम्पूर्ण क्रियाएँ होती हैं, उसी प्रकार व्यष्टिगत क्रियाएँ भी समष्टि-शक्तिसे ही हो रही हैं; किंतु अज्ञानके कारण उन व्यष्टिगत क्रियाओंमेंसे कुछ क्रियाओं—खाना-पीना, देखना-सुनना आदिको, जो कि बुद्धिपूर्वक होती हैं, वह अपनी मान लेता है एवं कुछ अन्य क्रियाओं—बालकसे जवान होना, श्वासका आना-जाना, भोजनका पचना आदिको अपनी न मानकर स्वाभाविक होनेवाली मानता है; जब कि दोनों ही प्रकारकी

CajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

क्रियाएँ दृश्यमें ही हो रही हैं एवं दृश्य ही हैं । भगवान् 'इदम् शरीरम् क्षेत्रम्' पदोंसे इस बातकी ओर लक्ष्य करा रहे हैं कि क्षेत्र अर्थात् शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धिके द्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाएँ 'इदम्' अर्थात् दृश्य ही हैं तथा जीवात्मा स्वयं इनसे सर्वथा निर्लिप्त, असम्बद्ध और पृथक् है ।

'शरीरम्' पदके अन्तर्गत तीनों शरीरोंको समझना चाहिये—(१) स्थूल-शरीर, जो स्थूल-पञ्चभूतनिर्मित है, जिसे स्थूल दृष्टिसे 'शरीर' कहते हैं, (२) सूक्ष्म-शरीर, जो बुद्धि, मन, दस इन्द्रियों और पाँच प्राणोंका समुदाय है और (३) अज्ञानरूप कारण-शरीर, जिसमें स्वभावकी ही मुख्यता है ।

इसी अध्यायके पाँचवें श्लोकमें क्षेत्रका वर्णन करते हुए श्रीभगवान्‌ने तीनों (कारण, सूक्ष्म और स्थूल) समष्टि शरीरोंका वर्णन किया है; 'अव्यक्तम्' पदसे समष्टि कारण-शरीरका, 'इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः, बुद्धेः' पदोंसे समष्टि सूक्ष्म-शरीरका एवं 'महाभूतानि' (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश) पदसे समष्टि स्थूल-शरीरका वर्णन किया है । समष्टि क्षेत्रका ही एक अंश व्यष्टि क्षेत्र है । अतः यहाँ भी व्यष्टि क्षेत्रमें आये हुए 'शरीरम्' पदसे तीनों—कारण, सूक्ष्म और स्थूल शरीरोंको ही समझना चाहिये ।

जिस प्रकार खेतमें बोये हुए बीजोंके अनुरूप उनके फल समयपर प्रकट होते हैं, वैसे ही इस मानव-शरीरसे अहंकारपूर्वक किये हुए कर्मोंके संस्काररूप बीजोंके फल अन्य शरीरोंमें अथवा

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

इसी शरीरमें समयपर प्रकट होते हैं, अतः सभी योनियोंके शरीर खेत (क्षेत्र) कोटिमें होते हुए भी वास्तवमें मानव-शरीर ही 'खेत' कहलानेयोग्य है, अन्य नहीं।

क्षेत्रज्ञ मानव-शरीरमें अहंता-ममता करके शरीरके साथ दो प्रकारसे सम्बन्ध जोड़ता है—(१) 'शरीर मैं हूँ' और (२) 'शरीर मेरा है।'

'शरीर मैं हूँ'—इस प्रकारका सम्बन्ध जोड़नेसे शरीर आदिके नाशका भय अपने ही नाशका भय हो जाता है और शरीर मेरा है—ऐसा सम्बन्ध जोड़नेसे शरीरके लिये खाद्य एवं परिधार्य वस्तुओंकी आवश्यकता अपने ही लिये प्रतीत होने लगती है। इस 'मैं' तथा 'मेरेपन'को मिटानेका अवसर मानव-शरीरके सिवा अन्य शरीरोंमें नहीं है। अतः मानवको सजग करते हुए भगवान् इन पदोंद्वारा कह रहे हैं कि ये शरीरादि 'क्षेत्र' तुमसे पृथक् हैं। इस प्रकार पृथक्ताका अनुभव करनेसे अहंता-ममता सर्वथा मिट जाती है, जो केवल अपनी मानी हुई है।' शरीर प्रकृतिका कार्य है, वह यहाँ प्राप्त होता है और यहीं नष्ट हो जाता है, जबकि अपना 'है' पन (सत्ता) इस जन्मसे पहले भी था तथा जन्मान्तरमें भी ज्यों-का-त्यों रहता है। अतः साधकको चाहिये कि शरीरको कभी 'मैं' और 'मेरा' न माने। इस प्रकार दृढ़ता रहनेपर क्षेत्रसे अपनी पृथक्ताका अनुभव हो जाता है।

---

* अहंता-ममताके सर्वथा मिटनेमें 'प्रारब्ध' कारण नहीं हो सकता। प्रारब्ध संचित-कर्मसे बनता है। संचित-कर्म क्रियमाणसे बनते हैं। क्रियमाण-कर्म शरीरके साथ अहंता-ममता (मैं-मेरापन) माननेसे बनते हैं। अतएव 'प्रारब्ध' अहंता-ममताका कारण नहीं अपितु कार्य है।

CC-0. RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

साधन दो प्रकारसे होती है—(१) अभ्यासपूर्वक स्वरूपके चिन्तनसे और (२) विचारपूर्वक जड़ताके त्यागसे। अभ्यासमें शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धिका सहारा लेना पड़ता है। अतः अभ्यासमें परवशता, परतन्त्रता रहती है। परंतु विचारमें परवशता, परतन्त्रता नहीं रहती; अपितु स्वतन्त्रता रहती है। अभ्यास जिन शरीरादिसे किया जायगा, उनसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर ही तत्त्वका अनुभव होगा। अतः अभ्यासमें देरी लगती ही है। गीता अध्याय ६, श्लोक १८में ध्यानयोगीका अत्यन्त वशमें किया हुआ चित्त जिस कालमें परमात्मामें ही भलीभाँति स्थित हो जाता है, उस कालमें वह सम्पूर्ण कामनाओंसे रहित पुरुष योगयुक्त है, ऐसा कहा जाता है। यद्यपि उसका चित्त सम्पूर्ण कामनाओंसे रहित हो गया है, उसका चित्त वायुरहित स्थानमें दीपककी लौके समान निश्चलतापूर्वक परमात्मामें ही स्थित है, किंतु ध्यानयोगी मन, बुद्धि आदि जड़ पदार्थोंके आश्रयसे ही ध्यान करता है, इस कारण चित्तके साथ उसका सम्बन्ध बना हुआ है। यहाँ ६। १४–१८में स्वयंकी स्थिति परमात्मामें नहीं हुई है, जब ध्यानके अभ्याससे चित्त उपराम हो जाता है, तब 'आत्मना आत्मानम् पश्यन् आत्मनि तुष्यति', अर्थात्—वह स्वयं अपने-आपको साक्षात् करता हुआ अपनेमें ही संतुष्ट होता है (६। २०) यहाँ ध्यानयोगके साधकको परमात्माके साक्षात्कार-लाभका वर्णन है; किंतु जड़ताके त्यागकी साधनामें साधक मन-बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर सबको प्रारम्भसे ही जड समझता है, अतः कामनाओंके त्यागकी साधनामें कामनाओंके साथ-साथ मन, बुद्धि आदि जड

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

पदार्थोंके साथ भी उसका सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है तथा परमात्माके स्वरूपका तत्काल अनुभव हो जाता है। गीता अ० २, श्लोक ५५में इस प्रकार जड़ताके त्यागद्वारा 'आत्मनि आत्मना तुष्टः' पदोंसे कहा गया है कि वह अपनेसे ही अपने-आपमें ही संतुष्ट हो जाता है अर्थात् कामनाओंके त्यागसे वह तत्काल भगवत्-तत्त्वका अनुभव कर लेता है। अतः यहाँ निर्गुण तत्त्वके ज्ञानसे 'इदम् शरीरम् क्षेत्रम्' पदोंसे भी भगवान् जडताके त्यागकी ही बात कह रहे हैं। तात्पर्य यह है कि क्षेत्रके साथ सम्बन्ध-विच्छेद होते ही तत्काल परमात्म-तत्त्वका अनुभव हो जाता है।

नाशवान् होनेके कारण जड़ता स्वतः नष्ट हो रही है। अतः उसे नष्ट करनेके लिये किसी अभ्यासकी, परिश्रमकी आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता केवल इसी बातकी है कि जड़तासे माने हुए सम्बन्धका त्याग करे। जीव भूलसे नाशवान्के साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है, जिससे उसे नाशवान् भी अविनाशी दीखने लगता है। जैसे, बालकपनमें 'मैं बालक हूँ' मानता था, अब शरीरमें परिवर्तन होनेपर 'मैं युवा हूँ' 'मैं वृद्ध हूँ' आदि मानने लगा, तो उसे युवावस्था, वृद्धावस्था सत्य दीखने लगी, जबकि बाल्यावस्थाके समान वे भी प्रतिक्षण नष्ट हो रही हैं। यदि स्वयं (जीव) नाशवान्से तादात्म्य न करे, तो वह मुक्त ही है। मुक्तिका अनुभव उसे ही होता है, जो पहलेसे ही मुक्त है। अतः श्रवण-मनन-निदिध्यासनरूप शास्त्रीय प्रणाली अर्थात् अभ्यासपूर्वक स्वरूप-चिन्तनरूप साधनाकी अपेक्षा विचारपूर्वक जड़ताके त्यागरूप साधना सुगम एवं तत्काल सिद्धि देनेवाली है।

CC-0. RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

तत्त्वानुभूति-हेतु साधकके लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि उसकी दृष्टि सदैव क्षेत्रमें प्रतिक्षण होनेवाले परिवर्तन और नाशपर लगी रहे। ऐसी दृष्टि बनी रहनेपर क्षेत्रसे पृथक्ताका अनुभव होकर परिवर्तनशील अव्यक्त-स्वरूपमें अपनी स्थिति स्वतः होती है। क्योंकि यह नियम है कि परिवर्तनमात्रको जो इदंता (पृथक्ता) से देखता है, उसकी अपरिवर्तनमें स्थिति स्वत है ही। इसीलिये भगवान् परिवर्तनशील और विनाशी क्षेत्रको इन पदोंद्वारा इदंतासे देखनेके लिये कह रहे हैं।

शङ्का—व्यक्त (शरीर)से इतना तादात्म्य हो गया है कि इसको अपनेसे पृथक् कहने-सुननेपर भी इसके साथ अपनी एकता ही प्रतीत होती है, अतः क्या उपाय किया जाय, जिससे इसका अपनेसे पृथग्भाव अनुभवमें आने लग जाय ?

समाधान—स्वयं (जीवात्मा)को सुगमतापूर्वक शरीरादि क्षेत्रसे पृथक्ताका अनुभव करानेके लिये भगवान्‌ने यहाँ 'इदम् शरीरम्' पदोंसे समझाया है कि शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि—सभी दृश्य होनेसे जाननेमें आते हैं—इदंतासे कहे जाते हैं, किंतु इन्हें जाननेवाला क्षेत्रज्ञ 'अहम्' है। यह नियम है कि 'इदम्' कभी भी 'अहम्' नहीं हो सकता अर्थात् जाननेमें आनेवाले दृश्यसे जाननेवाला द्रष्टा पृथक् होता ही है, कभी भी वे दोनों एक नहीं हो सकते। यह भी सम्भव नहीं है कि द्रष्टा दृश्य हो जाय या दृश्य द्रष्टा हो जाय। देखनेवाला (द्रष्टा) देखनेवाला ही रहेगा और दीखनेवाला (दृश्य) दीखनेवाला ही रहेगा। भाव यह है कि दृश्य और द्रष्टा भिन्न-भिन्न ही होते हैं। 'देहसे आत्मा पृथक् है'—ऐसा विवेक

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

अस्पष्ट रूपसे प्रायः मनुष्यमात्रमें है । भगवान् इन पदोंद्वारा इसी विवेकको पूरी तरहसे जाग्रत् करनेके लिये कह रहे हैं ।

साधकोंसे प्रायः यही बड़ी भूल होती है कि सुनते, पढ़ते और विचार करते समय वे जिस बातको ठीक समझते हैं, उसपर भी दृढ़तासे स्थित नहीं रहते तथा उसे विशेष महत्त्व नहीं देते । इस असावधानीके कारण ही वे अपने मार्गमें आगे नहीं बढ़ पाते । अतः अपने लक्ष्यकी ओर शीघ्रतापूर्वक अग्रसर होनेके लिये साधकों-को चाहिये कि वे पढ़ने, सुनने और विचार करनेपर जब यह जान लें कि शरीरसे आत्मा पृथक् है, तब इस बातपर दृढ़तासे स्थित रहें । अपनी इस जानकारीको विशेष महत्त्व देते हुए कभी किसी अवस्थामें भी 'शरीर मैं हूँ'—ऐसा न मानें । यदि किसी समय शरीरके साथ एकता दीख जाय तो भी उसका आदर न करें; उसे महत्त्व न दें एवं उस बातको सत्य तो मानें ही नहीं । बार-बार एकता दीखे तो भी उसकी उपेक्षा कर दें; क्योंकि जो वस्तु कभी भी भिन्न दीखती है, वह सदैव भिन्न ही होती है, केवल विवेककी कमीके कारण अभिन्न-सी दीख जाती है, अतः उसकी उपेक्षा कर देनेसे भिन्नताका अनुभव हो जाता है । यदि भूलसे पुनः 'शरीर मैं हूँ'—ऐसा मानता रहता है तो उसे केवल बौद्धिक ज्ञान हो सकता है, जिससे वह अन्यको कह भी सकता है, किंतु स्वयंको तत्त्वका अनुभव नहीं होता ।

विशेष ध्यान देनेकी बात—

साधकोंका प्रायः ऐसा स्वभाव रहता है कि वे क्रियाओंके परिवर्तनपर ही विशेष बल लगाते हैं; जैसे सांसारिक क्रियाओंके

CC-0. RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

बदले वे भगवन्नाम-जप, ध्यान आदि क्रियाएँ करना चाहते हैं। ऐसा करना उत्तम तो है, पर इससे सिद्धिमें विलम्ब होता है। इसके अतिरिक्त क्रियाओंको बदलनेकी इतनी आवश्यकता नहीं है, जितनी आवश्यकता अहंता (मैं-पन) को बदलनेकी है। अहंताके बदलने-पर शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि सब स्वतः बदल जाते हैं। फिर अहंताकी मान्यताके अनुसार उनमें स्वतः क्रियाएँ होने लगती हैं। सांसारिक अहंता 'मैं गृहस्थ हूँ' बदलकर जब 'मैं साधक हूँ' हो जाती है, तब पहले जो समस्त कार्य, विचार, चिन्तन आदि गृहस्थके लिये होते थे, वे ही अब भगवत्प्राप्तिके लिये होने लगते हैं। अन्तःकरणमें धनादि पदार्थोंका महत्त्व और उनमें सुख-बुद्धि होनेसे एवं शरीरमें आराम-बुद्धिको पकड़ लेनेसे साधनाके आरम्भमें साधकको प्रायः ऐसी शङ्का हो जाया करती है कि सत्सङ्ग, भजन और ध्यानादिमें अधिक समय लगनेसे गृहस्थादिके व्यावहारिक कार्योंको करनेके लिये समय कम मिलेगा तो व्यवहारमें अवश्य बाधा आयेगी। साथ ही, धनादिकी प्राप्तिमें लगे हुए समयको ही सार्थक माननेवाले उसके परिवारके अन्य सदस्य एवं इष्ट-मित्र भी भजन-ध्यानादिमें लगनेवाले समयको बहुत बढ़िया न माननेके कारण कह देते हैं कि गृहस्थादिका काम सुचारुरूपसे करना चाहिये, अभी भजन-ध्यानादि करनेका समय नहीं है, आदि। ऐसी स्थितिमें भी साधककी कुछ रुचि भजन-ध्यानादिमें रहती है एवं वह पारमार्थिक कार्योंमें भी कुछ समय लगाता है, किंतु उसके अपने हृदयमें भी गृहस्थादिके पालनकी ही अधिक आवश्यकता प्रतीत होनेके कारण एवं परिवारके अन्य

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

सदस्योंका भी गृहस्थादिके व्यवहारमें ही लगनेका अधिक आग्रह रहनेके कारण उसके हृदयमें एक द्वन्द्व मचता है कि मुझे क्या करना चाहिये ?

इतना ही नहीं, अपितु अपनी दृष्टिसे थोड़ी सूक्ष्मतासे विचार करनेपर उसे वही शङ्का सूक्ष्मरूपसे और भी वेगवती दिखायी देती है कि ज्ञानान्तरकाल अर्थात् परमात्माकी प्राप्तिके बाद किसी तरह-की कामना, स्पृहा, वासना आदि न रहनेसे उसकी प्रवृत्ति गृहस्थादि कार्योंमें होगी ही नहीं। आत्मस्वरूप या परमात्मतत्त्व ही सर्वत्र है तो फिर किसी प्रकारके भी कार्यकी क्या आवश्यकता है ? अतः परमात्माकी प्राप्तिके बाद वह भी शायद निर्जीव पत्थरकी तरह जडवत् हो जायगा।

साधनाके आरम्भमें ऐसी शङ्का हो जानेसे साधकका हृदय कम्पित होता रहता है और वह अपने लिये सही मार्ग खोजना चाहता है। अतः उसके लिये यहाँ यों निवेदन किया जा रहा है—

शरीरादिसे अपनेको पृथक् जान लेनेपर शरीरादिका कोई नाश नहीं होता एवं जाननेवालेकी भी कोई हानि नहीं होती, क्योंकि दोनों पहलेसे पृथक्-पृथक् ही हैं। नाश होता है केवल अज्ञानका, वस्तु-स्थिति तो ज्यों-की-त्यों रहती है। ज्ञान केवल अज्ञानका विरोधी है, न कि क्रियाओंके अनुष्ठानका। अज्ञान (भूल)-के कारण शरीरादिके साथ एकता करके जीव दुःखोंको भोग रहा था, ज्ञान हो जानेसे अज्ञानके कार्यरूप सम्पूर्ण दुःख मिट जाते हैं, अतः ज्ञानान्तरकालमें केवल सम्पूर्ण दुःखोंका अभाव होता है, न

CC-0. RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

कि शारीरिक और व्यावहारिक क्रियाओंका। सच्ची बात तो यह है कि उस महापुरुषकी साधनावस्थाके प्रवाहसे* एवं·····कहीं किंचिन्मात्र भी अहंता-ममता, राग, आसक्ति, स्वार्थ और अभिमान आदि न रहने तथा प्राणिमात्रके हितमें प्रीतिका भाव रहनेसे उसके द्वारा धर्मयुक्त, न्याययुक्त और लोक-मर्यादाके अनुसार स्वतः संसारमात्रका कल्याण करनेवाली आदर्श क्रियाएँ होती हैं। शरीरमें स्थित 'शरीरस्थोऽपि' (गीता १३ । ३१) होनेपर भी शरीरसे निर्लिप्त होनेपर उस महापुरुषके कहे जानेवाले शरीरद्वारा आदर्श व्यवहार होता है

साधनावस्थामें जब साधक चिन्मय परमात्मतत्त्वकी ओर अग्रसर होता है, तब उसमें जडताके प्रति आकर्षणसे उत्पन्न होनेवाले दोषों—झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी आदिका अभाव होता चला जाता है। झूठ-कपटादिकी न्यूनता होनेसे अर्थोपार्जनमें बाधा मालूम देती है और गृहस्थादिके पालन-पोषणमें भी कठिनाईका अनुभव होता है; किंतु यह बाधा वास्तविक नहीं है।

मनुष्य-शरीर केवल परमात्माकी प्राप्तिके लिये मिला है, धनादि पदार्थोंका अर्जन एवं संग्रह करने और उनसे सुख भोगनेके लिये नहीं। इसलिये यदि झूठ, कपट आदिके परित्यागसे अर्थादिकी प्राप्ति न भी हो तो बाधा कैसी ? यह तो प्रायः सभी मनुष्य मानते हैं कि

* साधनावस्थामें स्वार्थ-त्यागपूर्वक दूसरोंका हित करनेका जो प्रवाह रहता है, वह प्रवाह बोध (तत्त्वज्ञान) होनेपर भी रहता है। उसमें बाधा डालनेवाले अभिमान और स्वार्थ तो मिट गये और वह प्रवाह शुद्ध भी हो गया, पर वह प्रवाह तो उनमें रहेगा ही।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

धनादिकी प्राप्तिमें प्रारब्धकी प्रधानता है। जो वस्तु प्रारब्धानुसार मिलनेवाली है, वह तो अवश्य मिलेगी ही। इस दृष्टिसे भी अर्थोपार्जनमें बाधा पड़नेकी आशङ्का निर्मूल है। वर्तमानकालके कर्मोंसे धनादिकी प्राप्ति मानी जाय, तब भी बाधा नहीं दीखती, क्योंकि वर्तमान समयमें कर्म करनेकी मनाही है ही नहीं। वस्तुतः झूठ-कपटादिसे प्राप्त होती हुई दीखनेवाली वस्तुएँ भी प्रारब्धानुसार मिलनेवाली ही थीं, तभी तो मिलती हैं। न मिलनेवाली वस्तुएँ नाना प्रकारके उद्योग और झूठ-कपटादिके व्यवहारसे भी नहीं मिलतीं। इसका अकाट्य प्रमाण सबके सामने प्रत्यक्ष है कि झूठ, कपट, चोरी, डाका आदि दुष्कर्म करनेवाले सभी व्यक्ति धनी देखनेमें नहीं आते, प्रत्युत उनमेंसे अधिकांश महान् दुःखी दीख पड़ते हैं। जो सुखी दिखायी देते हैं, वे भी वास्तवमें दुःखी हैं; क्योंकि पाप कमानेके कारण उन्हें मनस्ताप होता ही रहता है। प्रश्न हो सकता है कि मनुष्य झूठ-कपट-चोरी-जैसे दुराचरणका आश्रय क्यों लेता है? इसका उत्तर यह है कि साधकके अन्तःकरणमें धनादि पदार्थोंका महत्त्व होता है; उनमें सुख-बुद्धि तथा जड वस्तुओं (शरीरादि) के साथ तादात्म्यके कारण ही वह झूठ, कपट, चोरी आदिका आश्रय लेता है; परिणामस्वरूप अनेक प्रकारके दुःखोंको भोगता रहता है।

दुःखोंका आत्यन्तिक अभाव और परमात्मतत्त्वको प्राप्त करना साधकका सुनिश्चित लक्ष्य होना चाहिये और इस दिशामें अग्रसर होनेके लिये उसे झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी आदि अवगुणोंको हृदयसे अविलम्ब त्याग देना चाहिये। उसे यह समझ लेना चाहिये

CC-0. RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

कि उसका वास्तविक उद्देश्य परमात्माकी ही प्राप्ति है। जैसे-जैसे साधकके अन्तःकरणमें चिन्मय परमात्मतत्त्वका महत्त्व बढ़ता जायगा वैसे-वैसे उसके झूठ-कपटादि दोष स्वतः ही कम होते चले जायँगे और अन्तमें इनका सर्वथा अभाव होनेपर शुद्ध परमात्मतत्त्व ही रह जायगा।

परमात्माको ही प्राप्त करना है— ऐसा अपना दृढ़ निश्चय न होनेके कारण ही साधकको पारमार्थिक साधनोंके अनुष्ठानमें अधिक समय लग जाता है एवं गार्हस्थ्य आदि सांसारिक व्यवहारोंमें बाधा आनेकी आशङ्का होती है। परंतु वास्तविक लक्ष्यको पहचाननेपर साधक पारमार्थिक साधनोंका अनुष्ठान तो करता ही है, साथ ही जब वह अपने गृहस्थी आदि सांसारिक कार्योंको केवल कर्तव्य-बुद्धिसे करता है, तब उसके कार्यमें किसी प्रकारकी बाधाकी कोई सम्भावना नहीं रह जाती।

हाँ! ज्ञानमार्ग (जिसका वर्णन अठारहवें अध्यायके ४९ वें श्लोकसे ५५ वें श्लोकतक हुआ है) के जिस साधककी प्रवृत्ति ध्यानयोगके द्वारा तत्त्व-प्राप्तिकी ओर है, उसको ध्यानादिमें अधिक समय लगाना पड़ता है; इसलिये उसे संसारका कार्य—व्यवहार करनेका समय कम मिलता है। फिर भी वास्तविक लक्ष्यके प्रति अन्तःकरणमें जागृति होनेके कारण उसकी जीवन-निर्वाह-सम्बन्धी आवश्यकताएँ शीघ्र पूरी हो जाती हैं। यह निर्विवाद बात है कि साधकको अपनी आवश्यकताओंकी पूर्तिकी चिन्ता नहीं होती। गीतामें भगवान्‌का उपदेश चिन्ता मिटानेसे ही प्रारम्भ होता है— 'अशोच्यान्' (गीता २। ११) और इसीमें उसकी समाप्ति होती

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

है—'मा शुचः' (गीता १८ । ६६) । गीताका तात्पर्य चिन्ता, शोक, दुःख मिटानेमें ही है । अतएव साधककी चिन्ता मिट जाती है । कारण कि चिन्ता पदार्थोंके अभावकी नहीं अपितु हृदयमें दरिद्रताकी ही थी । जो चिन्ता भोगों और पदार्थोंके मिलनेपर भी कभी मिटती नहीं, वह सच्चे हृदयसे परमात्मामें लगनेसे मिट जाती है । कोई माने या न माने, जाने या न जाने, यह एक नियम है कि सच्चे हृदयसे पारमार्थिक पथपर अग्रसर होनेवाले साधककी परमात्मा, संत-महात्मा, गृहस्थ और मित्र ही नहीं, शत्रुतक भी सहायता करते हैं । अतः उसके व्यावहारिक कार्योंमें किसी प्रकारकी बाधा आनेका प्रश्न ही नहीं उठता । यदि सांसारिक अभाव होंगे तो भी उसे खटकेंगे नहीं; क्योंकि उसका लक्ष्य ऊँचा (परमात्माकी प्राप्तिका) है; अतएव अभाव भी उसके लिये तपस्यास्वरूप हो जायँगे । ज्ञानान्तरकालमें तो ध्यानादि साधनोंका आग्रह भी नहीं रहता, क्योंकि उसके द्वारा ध्यानादि स्वतः होते हैं, इसलिये व्यावहारिक कार्योंके लिये समय कम मिलेगा, ऐसा प्रश्न ही नहीं उठता ।

इसके अतिरिक्त गीताके अठारहवें अध्यायके १३वें श्लोकसे ३९ वें श्लोकतक वर्णित विवेकजन्य साधनोंका, अनुसरण करनेवाले साधकको भी साधनावस्थामें किसी प्रकारकी बाधा नहीं पहुँचती, क्योंकि वे ज्ञानमार्गी साधक शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धिरूप क्षेत्रोंसे होनेवाले कर्मोंको उस-उस क्षेत्रमें हुआ मानते हैं एवं स्वयंको कर्मोंसे असम्बद्ध, निर्लिप्त और पृथक् अनुभव करते हैं । ऐसी

CC-0. RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

स्थितिको प्राप्त साधक व्यावहारिक कार्योंको सुचारुरूपसे क्यों नहीं करेंगे ?

साधनाकी प्रारम्भिक अवस्थामें साधकको जो बाधाएँ प्रतीत होती हैं, उनके विषयमें वह ऐसा सोचता है कि ये साधना करनेसे अथवा साधना करनेके फलस्वरूप उसके असंतुष्ट कुटुम्बीजनोंके कारण हैं; किंतु वास्तवमें वे बाधाएँ स्वयंकी आन्तरिक दुर्बलताके कारण ही होती हैं। तात्पर्य यह है कि उसकी बाधाओंमें हेतु भोगासक्ति, आलस्य, प्रमाद और शरीर, इन्द्रिय आदिमें सुख-बुद्धि ही है। यदि साधक आलस्य और प्रमादका त्याग करके शरीर और इन्द्रियोंका संयम तथा व्यवहारमें कर्तव्यबुद्धिसे तत्परता और उत्साह रखे तो उसके मार्गमें किसी प्रकारकी भी बाधाएँ नहीं आतीं। ऐसा संयमी और उत्साही साधक अपने मार्गमें निरन्तर अग्रसर होता रहता है और अन्तमें उसे नित्य-प्राप्त परमात्मतत्त्वका बोध बहुत शीघ्र और सुगमतासे हो जाता है।

'इति अभिधीयते'—अर्थात् 'ऐसे स्वरूपवाला कहा जाता है।' जिस किसी वस्तुके रूप, रंग और आकारादिका शब्दोंद्वारा भान होता है, उस वस्तुका 'इति अभिधीयते' पदोंसे निर्देश किया जाता है। जैसे 'घड़ी' कहते ही घड़ीके रूप, रंग और आकारादिका भान होता है, वैसे ही 'क्षेत्र' कहते ही क्षेत्रके रूप, रंग और आकारादिका आभास होता है। अतः 'इति अभिधीयते' पद 'क्षेत्र'के लिये प्रयुक्त हुए हैं। किंतु 'क्षेत्रज्ञ' कहते ही किसी भी प्रकारका रूप, रंग और आकारादिका भान नहीं होता, इसलिये उसका इन पदोंसे निर्देश नहीं किया गया।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

'तद्विदः'—उनके तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानीजन* ।

यहाँ यह पद क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके स्वरूपका पदार्थ अनुभव करनेवाले ज्ञानीजनोंके लिये प्रयुक्त हुआ है । उनके किये हुए निरूपणमें किसी त्रुटि या शङ्काकी सम्भावना ही नहीं है; क्योंकि वह तो यथार्थ और अनुभवसिद्ध ही है । गीतामें इन ज्ञानीजनोंकी बड़ी महिमा गायी गयी है ।

दूसरे अध्यायके १६वें श्लोकमें भी कहा गया है कि तत्त्वदर्शी पुरुषोंद्वारा ऐसा अनुभव किया गया है कि असत् अर्थात् 'क्षेत्र'की तो स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं है एवं सत् अर्थात् अविनाशीस्वरूप 'क्षेत्रज्ञ' सदा ही रहता है और जो सदा रहता है उसका कभी अभाव नहीं हो सकता । इसलिये ज्ञानीजनोंका अनुभव ही यथार्थ अनुभव माना गया है ।

'एतत् (क्षेत्रम्) यः वेत्ति तं क्षेत्रज्ञ इति प्राहुः'—इस 'क्षेत्र' को जो जानता है, उसको 'क्षेत्रज्ञ' नामसे कहते हैं ।

यद्यपि 'इदम्' और 'एतत्'—दोनों ही पद (दृश्यमें) समीपताके वाचक हैं, तथापि 'एतत्' पद ('इदम्'की अपेक्षा) अत्यन्त समीपताका द्योतक है । यहाँ आया हुआ 'एतत्' पद मानो यह बतलाता है कि स्वयंकी क्षेत्रसे दूरी है एवं क्षेत्रज्ञसे एकता है । क्षेत्रके साथ सम्बन्ध माननेसे ही स्वयं क्षेत्रज्ञ कहलाता है ।

---

* चौथे अध्यायके ३४वें श्लोकमें 'तत्त्वदर्शिनः', तेरहवें अध्यायके ७वें श्लोकमें 'आचार्योपासनम्' और सत्रहवें अध्यायके १४वें श्लोकमें 'प्राज्ञ' पद इन्हीं ज्ञानीजनोंके लिये प्रयुक्त हुए हैं ।

CC-0. RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

यह शरीररूप क्षेत्र स्वतः ही प्रत्यक्ष जाननेमें आता है और जो स्वयं इस शरीरको दृश्यरूपसे जानता है, वह शरीरी क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा) कहा गया है।

इस जन्मसे पहलेके जन्मोंमें मैंने जो शुभ-अशुभ कर्म किये थे, उन्हींका फल अब भोग रहा हूँ और अभी जो शुभ-अशुभ कर्म कर रहा हूँ, उसे भोगनेके लिये इस शरीरका नाश होनेके पश्चात् भी मेरी सत्ता रहेगी अर्थात् मैं स्वर्ग, नरक या चौरासी लाख योनियोंमें ही कहीं रहूँगा, प्रायः आस्तिक मनुष्यमात्रमें ऐसी धारणा रहती ही है। इससे यह सिद्ध होता है कि सभी मनुष्योंमें जड (शरीर) और चेतन (आत्मा)का विवेक स्वतःसिद्ध है। परंतु यह विवेक स्पष्ट नहीं है। जैसे आकाशमें घनघोर बादलोंके छा जानेसे अन्धकार हो जाता है, किंतु उसमें भी कभी-कभी बिजलीके चमकनेसे प्रकाशकी एक आभा विकीर्ण होती है और पुनः वही घोर अन्धकार छा जाता है; वैसे ही साधारण मनुष्योंको भी विचार करनेपर तो शरीर और आत्माकी पृथक्ताका आभास होता है, परंतु अन्य समयमें पुनः शरीरके साथ एकता ही दीखती है—यही विवेकका अस्पष्ट होना है। शरीरके साथ जितने अंशोंमें घनिष्ठ सम्बन्ध माना जाता है, उतने ही अंशोंमें यह विवेककी अस्पष्टता बनी रहती है। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका पृथक्ता-सम्बन्धी विवेक पूर्णतः जाग्रत् न होनेमें मुख्य कारण 'राग' ही है। शरीरादि पदार्थोंमें राग अपना बनाया हुआ है, इसलिये इसे मिटानेकी जिम्मेवारी भी अपनेपर ही है। इस रागके कारण ही बोध (तत्त्वज्ञान) नहीं हो पाता, इसी बातको भगवान्‌ने

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-Mo...ram

'अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते' (गीता १२ । ५) पदोंसे व्यक्त किया है ।

'यः' पद यहाँ जीवात्मा (क्षेत्रज्ञ) का वाचक है और 'वेत्ति' पदसे जीवात्मा-विषयक अस्पष्ट विवेकको व्यक्त किया गया है ।

'तं क्षेत्रज्ञ इति प्राहुः'—'क्षेत्रको स्पष्टरूपसे जाननेवाला क्षेत्रज्ञ ऐसा कहते हैं ।'

'क्षेत्र'के साथ जबतक यत्किंचित् भी सम्बन्ध (तादात्म्य) रहता है, तबतक उसकी संज्ञा 'क्षेत्रज्ञ' ही है । स्वरूपमें स्थिति होनेपर भी उसे क्षेत्रज्ञ कह सकते हैं । वस्तुतः वह सदा-सर्वदा अपने स्वरूपमें ही स्थित रहता है । शरीरके साथ निर्लिप्तताका अनुभव हो जानेसे (प्रकृतिजन्य त्रिगुणात्मक पदार्थोंको भोगनेवाला) क्षेत्रज्ञ न करता है, न लिप्त होता है और न भोगता ही है (१३ । ३१) वस्तुतः क्षेत्रज्ञ कोई स्वतन्त्र संज्ञा नहीं है । अतः क्षेत्रके साथ माने हुए सम्बन्धका सर्वथा विच्छेद होनेपर उसकी संज्ञा 'क्षेत्रज्ञ' नहीं रहती ।

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ, शरीर-शरीरी और जड-चेतनका विवेचन यहाँ 'एतत् (क्षेत्रम्) यः वेत्ति' पदोंसे किया गया है ।

च—और ।

भारत*—भरतवंशमें उत्पन्न अर्जुन !

---

* 'भारत' सम्बोधनसे भगवान् अर्जुनका ध्यान उसके वंशके प्रभावकी ओर आकर्षित करते हैं । यह पद अर्जुनको इस बातका स्मरण करानेके लिये कि उसके वंशमें भरतादि अनेक महान् प्रभावशाली पुरुष हुए हैं, प्रयुक्त किया गया है ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding: KS-MoE-Gra

'सर्वक्षेत्रेषु क्षेत्रज्ञम् अपि मां विद्धि'—'सब क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ भी मुझे ही जान ।' 'मां विद्धि' पदोंसे भगवान् अपनेको जाननेकी बात ही विशेषतासे कहते हैं । इसीलिये भगवान्‌ने इसी अध्यायके बारहवेंसे सत्रहवें श्लोकोंमें अपने स्वरूपका विस्तारसे वर्णन किया है ।

ऐसा ज्ञान तभी सम्भव होता है, जब साधकमें ज्ञानके नामसे इसी अध्यायके ७वेंसे ११वें श्लोकतक कहे गये अमानित्व आदि बीस लक्षण आ जाते हैं । अन्यथा क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ भिन्न-भिन्न हैं—यह केवल सीखा हुआ ज्ञान है । यही कारण है कि तीसरे श्लोकमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके विषयमें अर्जुनको सुननेकी आज्ञा देकर उसका वर्णन किया और तत्पश्चात् ज्ञानके बीस साधनोंका वर्णन करते हैं । फिर इन साधनोंसे जो जाना जाता है, उस ज्ञेय-तत्त्वका वर्णन करते हैं ।

जिस प्रकार शरीरकी दृश्य प्रपञ्चमात्रसे एकता है, उसी प्रकार जीवात्मा (स्वयं)की सत्स्वरूप परमात्माके साथ एकता है; इसी कारण परमात्माके साथ अपना सम्बन्ध स्वतः सिद्ध है, उसके लिये किसी करणकी अपेक्षा नहीं है ।

शरीरकी संसारके साथ स्वाभाविक एकता है, परंतु यह जीव शरीरको संसारसे अलग मानकर उसके साथ ही अपनी एकता मान लेता है, वैसे ही परमात्माके साथ क्षेत्रज्ञकी स्वाभाविक एकता होते हुए भी शरीरके साथ एकता माननेसे यह अपनेको परमात्मासे अलग मानता है । शरीरको संसारसे अलग मानना और परमात्मासे अपनेको अलग मानना—दोनों ही कल्पित मान्यताएँ हैं । अतः भगवान् यहाँ 'विद्धि' पदसे आज्ञा देते हैं कि 'क्षेत्रज्ञ

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding IKS-BOE-Grant

मेरे साथ एक है, ऐसा जान।' साधारणतया 'माम्' पद व्यक्त-स्वरूपका ही द्योतक हुआ करता है, किंतु यहाँ यह पद विशेषरूपसे निर्गुण (अव्यक्त) स्वरूपका भान करानेके लिये प्रयुक्त हुआ है। फिर भी इस पदसे परमात्माके समग्ररूपका ही अर्थ लेना चाहिये; क्योंकि बारहवें अध्यायके चौथे श्लोकमें भगवान् 'माम्' पदसे यह बताते हैं कि निर्गुण उपासक मुझे ही प्राप्त होते हैं। वहाँ भी भाव यही है कि साधकोंकी दृष्टिसे साधनामें भेद हो सकता है, किंतु प्राप्तव्य तत्त्व एक ही है। अर्जुनके रथके घोड़ोंकी लगाम हाथोंमें लिये और व्यक्त स्वरूपमें विराजित भगवान् श्रीकृष्ण इन पदोंसे यही अभिव्यक्त कर रहे हैं कि सम्पूर्ण क्षेत्रोंमें मैं ही (परमात्मा) 'क्षेत्रज्ञ' अर्थात् अव्यक्तरूपसे व्यापक हूँ। निष्कर्ष यह है कि व्यक्त-अव्यक्त और सगुण-निर्गुण एक ही तत्त्व हैं*। (सूर्यभगवान्, गणेशभगवान्, देवी भगवती (शक्ति) आदिको भी इस श्लोकमें प्रयुक्त 'ज्ञेयम्' पदके अन्तर्गत मान लेना चाहिये।) तात्पर्य यह है कि ज्ञेय-तत्त्व अर्थात् परमात्मतत्त्व ही सब कुछ है और यहाँ 'माम्' पदसे उसकी ओर लक्ष्य किया गया है।

---

* इसी परमात्मतत्त्वका वर्णन आगे १२ वें श्लोकसे १७ वें श्लोकतक 'ज्ञेय'के नामसे किया गया है। १२ वें श्लोकमें परमात्माके निर्गुणस्वरूपका, १३वेंमें परमात्माके सगुण निराकारस्वरूपका, १४वेंमें परमात्माके सगुण-निर्गुणस्वरूपकी एकताका, १५वेंमें परमात्माके समग्ररूपका और १६वेंमें प्रभविष्णु (ब्रह्मा), भूतभर्तृ (विष्णु) और ग्रसिष्णु (महेश) पदोंसे परमात्माके सर्वव्यापी स्वरूपका उल्लेख किया गया है। आगे १७वें श्लोकमें परमात्माके ज्योतिःस्वरूपका वर्णन हुआ है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding IKS-

महात्माओंद्वारा अनुभव किया गया **'वासुदेवः सर्वम्'** (गीता ७ । १९) अर्थात् स्थावर-जङ्गम आदिकी स्वतन्त्र सत्ता न होकर सब कुछ एक वासुदेव अथवा परमात्मतत्त्व ही है —यह अनुभव ही वास्तविक ज्ञान है। जैसे संसारके सम्मुख होनेपर परमात्मासे विमुखता और संसारमें 'सत्यता' प्रतीत होती है, वैसे ही परमात्माके सम्मुख होनेपर संसारका अभाव और सर्वत्र परमात्माकी सत्ता अनुभवमें आती है अर्थात् ऐसा अनुभव होता है कि जड़-चेतन, स्थावर-जङ्गम आदि सभी पदार्थ परमात्मस्वरूप ही हैं। जैसे संसारमात्रके समस्त कार्य भी उसी परमात्माकी सत्तासे ही होते हैं; किंतु उसे परमात्माकी सत्ता दिखायी नहीं देती, वैसे ही आस्तिक मनुष्यको भी परमात्माके साथ अभिन्नताका अनुभव होनेपर अर्थात् तत्त्वज्ञान होनेपर स्थावर-जङ्गम आदि पदार्थोंकी स्वतन्त्र सत्ता दिखायी न देकर केवल एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही विभिन्न रूपोंमें दिखायी देते हैं। जैसे स्वर्णके सभी आभूषणोंमें सोनेके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं, एक सोना ही अनेक रूपोंसे दिखायी देता है, वैसे ही स्थावर-जङ्गम आदि प्रकृतिके सभी कार्य अथवा तत्तद्रूपोंमें बनी हुई प्रकृति भी परमात्माके अतिरिक्त कुछ भी नहीं; एक परमात्मा ही व्यक्तरूपसे अनेक रूपोंमें दिखायी देते हैं। इस प्रकार यह जाननेके बाद कि अनेक रूपोंमें एक परमात्मतत्त्व (माम्) ही है, कुछ और जानना बाकी नहीं रह जाता—**'यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते'** (गीता ७ । २)। यह ज्ञात-ज्ञातव्यता है। इन पदोंसे भगवान् सम्पूर्ण

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञरूपसे उस 'माम्' (परमात्मतत्त्व) को ही जाननेकी बात कह रहे हैं ।

स्थूल भौतिक पदार्थोंका द्रष्टा इन्द्रियाँ, इन्द्रियोंका द्रष्टा मन, मनका द्रष्टा बुद्धि और बुद्धिका द्रष्टा वह स्वयं (क्षेत्रज्ञ) है । सम्पूर्ण क्षेत्रोंमें भिन्न-भिन्न प्रतीत होनेवाले क्षेत्रज्ञकी भिन्नता जिस परमात्मतत्त्वके प्रकाशमें प्रकाशित होती है, उस परमात्मतत्त्वका ही वर्णन यहाँ 'माम्'* पदसे हुआ है ।

शरीर आदि क्षर हैं, निर्देश किये जा सकते हैं, व्यक्त हैं, एकदेशीय हैं, मन-बुद्धिसे इनका चिन्तन हो सकता है, ये सदा एकरस रहनेवाले नहीं हैं । चल और अनित्य हैं; किंतु 'माम्' (परमात्मतत्त्व) का क्षरण नहीं होता, उसका निर्देश नहीं किया जा सकता । वह अव्यक्त है, सर्वव्यापी है, मन-बुद्धिसे अत्यन्त परे है, सदा एकरस रहनेसे 'कूटस्थ', 'अचल' और 'नित्य' है । इसी 'माम्' पदके लिये भगवती श्रुति कहती है—'यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्' । (केनोपनिषद् १ । ६) अर्थात् उसे मन (अन्तःकरण)के द्वारा नहीं जाना जा सकता, किंतु जिससे मन (बुद्धि) जाना जाता है, वह ब्रह्म (माम्) है । यहाँ भगवान् इन पदोंसे इसी 'माम्' को (जो सम्पूर्ण क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञरूपसे अवस्थित है) जाननेके लिये कह रहे हैं ।

---

* १२ वें अध्यायके तीसरे श्लोकमें 'अक्षरमव्यक्तम्' आदि पदोंसे भी इसी 'माम्'का उल्लेख हुआ है ।

CC-0. RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

ज्ञानमार्गमें जानना ही मुख्य है। क्षेत्रज्ञ जैसे ही क्षेत्र (जड) को अपनेसे पृथक् जानता है, वैसे ही उसे सर्वव्यापी परमात्माके साथ अपने स्वरूपकी अभिन्नताका अनुभव हो जाता है, यह 'जानना' करणसापेक्ष नहीं है, प्रत्युत स्वयंद्वारा ही स्वयंका जानना है। मनुष्य जबतक जाने हुएका आदर नहीं करता, तबतक उसे अपने परम लक्ष्यकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

इन पदोंसे एक सामान्य अर्थ यह भी लिया जा सकता है कि भगवान्‌ने 'क्षेत्रज्ञ' शब्दसे अपने साधर्म्यका वर्णन किया है। जैसे समष्टिमें परमात्मस्वरूप सर्वव्यापक है, वही सम्पूर्ण संसारको सत्ता-स्फूर्ति देते हुए भी सबसे निर्लिप्त है, वैसे ही व्यष्टि-शरीरमें क्षेत्रज्ञ व्यापक है एवं शरीरके सभी अङ्ग-प्रत्यङ्गोंको सत्ता देते हुए भी वह सबसे निर्लिप्त रहता है। अतः भगवान् कहते हैं कि क्षेत्रज्ञ मेरा ही सहधर्मी है, मेरा ही अंश है। किंतु वास्तवमें तो इन पदोंका अर्थ यही है कि क्षेत्रज्ञ और परमात्मा एक हैं।

शास्त्रोंमें प्रकृति, जीव और परमात्मा—तीनोंका पृथक्-पृथक् वर्णन आता है, किंतु यहाँ 'अपि' पदसे भगवान् एक विलक्षण भावकी ओर संकेत करते हैं और वह यह है कि शास्त्रोंमें परमात्माके जिस सर्वव्यापक स्वरूपका वर्णन हुआ है, वह तो मैं हूँ ही, साथ ही सम्पूर्ण क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञरूपसे पृथक्-पृथक् दीखनेवाला भी मैं ही हूँ। क्षेत्रोंकी उपाधिके कारण वे क्षेत्रज्ञरूपसे पृथक्-पृथक् दीखते हैं; किंतु हैं वास्तवमें एक ही परमात्मा। यहाँ इन पदोंमें

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

यही भाव है कि 'क्षेत्रज्ञरूपसे मैं ही हूँ' ऐसा जानकर मेरे साथ अभिन्नताका अनुभव करो।

मनुष्योंकी प्रायः यह समझ रहती है कि शरीर 'मैं' हूँ और शरीर 'मेरा' है। इसी कारण शरीरके साथ उनका माना हुआ सम्बन्ध घनिष्ठ प्रतीत होता है। ऐसी स्थितिमें भी वास्तवमें वे शरीरसे तो पृथक् ही होते हैं; क्योंकि शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि प्रकृतिके कार्य हैं एवं वे स्वयं (जीवात्मा) परमात्माका अंश या स्वरूप है, इसलिये शरीरादिसे वह सर्वथा भिन्न ही हैं। शरीरादि वास्तवमें स्वयंके स्वरूप नहीं हैं। स्वयं इनका नहीं है; ये स्वयं अपने नहीं हैं और स्वयंके लिये भी नहीं हैं; किंतु उनके साथ तादात्म्य होनेके कारण जीवात्मा भूलसे इनको अपना स्वरूप मान लेता है या अपनेको उनका मान लेता है; उन्हें 'अपना' मान लेता है या 'अपने लिये' मान लेता है। यही कारण है कि इसे उनके साथ अपना घनिष्ठ सम्बन्ध प्रतीत होता है। यह तो सभीको मानना पड़ेगा कि जिस किसीके पास जो वस्तु (शरीर, मन-बुद्धि, धन आदि), व्यक्ति, सामर्थ्य, योग्यता आदि प्राप्त है, वह उसका 'अपना' (व्यक्तिगत) नहीं है; फिर भी मिले हुएमें अपनापन कर लेना अपने विवेकसे सर्वथा विरुद्ध बात है, यही बड़ी भारी भूल और यही पतनका कारण है। इस भूलके परिणामस्वरूप जीव शरीरमें अहंता-ममता करके परमात्माको अपार, असीम, सर्वव्यापक मानता हुआ भी अपनेको परमात्मासे पृथक् अनुभव करता है। यहाँ इन पदोंसे भगवान् इस भूलको मिटानेके लिये सावधान कर रहे हैं कि

CC-0. RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

शरीरादिका द्रष्टा 'क्षेत्रज्ञ', जो कि क्षेत्रमें अहंता-ममता करके अपनेको मुझसे पृथक् अनुभव कर रहा है, वह मुझसे पृथक् नहीं हैं, अपितु उस रूपसे भी मैं ही हूँ।

स्वयं संसारसे भिन्न एवं परमात्मासे अभिन्न है। इसलिये यह नियम है कि जड पदार्थोंका तात्त्विक ज्ञान तभी होता है, जब उनके साथ तादात्म्य न रखकर सर्वथा भिन्नताका अनुभव किया जाय। तात्पर्य यह है कि संसारसे रागरहित होकर ही संसारके वास्तविक स्वरूपको जाना जा सकता है, किंतु परमात्माका ज्ञान प्राप्त करनेमें इससे सर्वथा विपरीत नियम है। उनका वास्तविक ज्ञान उनसे अभिन्न होनेसे ही होता है, क्योंकि वे सर्वव्यापक हैं, इसलिये उनसे भिन्न रहकर उन्हें कोई कैसे जान सकता है? यहाँ इन पदोंसे भगवान् परमात्माका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करानेके लिये क्षेत्रज्ञके साथ अपनी अभिन्नतापर बल दे रहे हैं। इस अभिन्नताको यथार्थरूपसे जाननेपर परमात्माका वास्तविक ज्ञान हो जाता है।

क्षेत्रज्ञका क्षेत्रके साथ केवल मूढतावश स्थापित किया गया सम्बन्ध है। वास्तवमें क्षेत्र (जड़) और क्षेत्रज्ञ (चेतन) स्वतः दोनों पृथक्-पृथक् हैं। क्षेत्रज्ञने क्षेत्रके साथ एकरूपता मान रखी है। उसी मान्यताके कारण यह शरीरादिको 'मैं,' 'मेरा' मानता है। इस 'मैं,' 'मेरे'को मिटानेके लिये ज्ञानकी साधना बतायी गयी है। ज्ञानके साधन-समुदायमें भगवान्‌ने सर्वप्रथम शरीरादि (क्षेत्रों) को 'इदंता'से देखनेके लिये और फिर अपने साथ अभिन्नताका अनुभव करनेके लिये कहा है। तात्पर्य यह है कि यह जीवात्मा क्षेत्रको 'इदंता'से पृथक् देखकर (दृश्यरूपसे जैसे सांसारिक मकान

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

आदि पदार्थोंको अपनेसे अलग देखता है, वैसे ही शरीरादिको भी उसी दृष्टिसे देखकर) परमात्माके सम्मुख होते ही क्षेत्रसे सर्वथा विमुख हो जाता है और फिर इसे नित्य-प्राप्त परमात्माके साथ अभिन्नताका अनुभव होता है। नित्य-प्राप्तमें अप्राप्तिकी भावना उतने अंशोंमें माननी चाहिये जितने अंशोंमें क्षेत्रके साथ (दृश्यादिके साथ) मूढ़तावश एकरूपताकी मान्यता है। मानी हुई वस्तु वास्तविक नहीं होती, यह नियम है। मान्यताको मान्यता न मानकर यदि उसे वास्तविक जान लिया जायगा तो मान्यता भी वास्तविकता ही दिखायी देगी। निष्कर्ष यह है कि केवल मान्यताकी दृढ़तासे 'यही मैं हूँ'—ऐसी प्रतीति होती है। यहीं साधक भूल करता है। जैसा ऊपर कहा गया है कि मान्यता वास्तविक वस्तु-स्थिति नहीं होती; किंतु जबतक इसको छोड़ा नहीं जायगा, तबतक यह मिटेगी कैसे ? मान्यता केवल मान्यता ही है—ऐसा जानते ही अथवा वास्तविकताको जानते ही नष्ट हो जाती है। तत्त्वका बोध होनेपर तो मान्यता टिक ही नहीं सकती। भगवान् यहाँ इन पदोंसे इस मान्यताको मिटाने और साधकको वास्तविकताका परिचय करानेके लिये ही कहते हैं—'सम्पूर्ण क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञरूपसे मैं ही हूँ।' अर्थात् क्षेत्रज्ञकी क्षेत्रके साथ एकरूपताकी मान्यता केवल मान्यता ही है, वस्तुतः तो क्षेत्रज्ञकी मुझसे अभिन्नता है। अतः साधकको अपने वास्तविक स्वरूपको जाननेकी ओर लक्ष्य करना चाहिये।

ध्यान देनेकी बात है कि जैसे दृश्यके अन्तर्गत दृष्टि नहीं आती, किंतु दृष्टिके अन्तर्गत सभी दृश्य आ जाते हैं, वैसे ही मनके

CC-0. RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

अन्तर्गत नेत्र और बुद्धिके अन्तर्गत मन आ जाता है। बुद्धि भी अपने अधिपति 'अहम्'के अन्तर्गत है तथा बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ और शरीरको 'अहम्' अपना मानता है। 'मैं इनका स्वामी हूँ, ये मेरी हैं अर्थात् इनपर मेरा आधिपत्य है,' यह मेरापन 'अहम्'के अन्तर्गत दीखता है। प्रत्येक व्यक्तिमें 'अहम्'-की भिन्न-भिन्न प्रतीति होती है। ये भिन्न-भिन्न प्रतीत होनेवाले 'अहम्' भी एक सामान्य ज्ञानके अन्तर्गत 'मैं', 'तू', 'यह', 'वह'के रूपमें दृश्य ही हैं, किंतु ज्ञातृत्व (ज्ञातापन)-धर्मरहित यह सामान्य ज्ञान किसीके अन्तर्गत दृश्य नहीं है, प्रत्युत इस ज्ञानके अन्तर्गत दृश्य है अर्थात् यह सबसे महान् है। यह सबका प्रकाशक होते हुए भी स्वयं प्रकाशस्वरूप है। यहाँ इन पदोंसे भगवान् 'क्षेत्रज्ञ'के रूपमें उस प्रकाशस्वरूपका वर्णन करते हैं। तात्पर्य यह है कि क्षेत्रज्ञ उस प्रकाशस्वरूपसे अपनी अभिन्नताका अनुभव करे; क्योंकि यह स्वयं भी प्रकाशस्वरूप ही है।

सूर्यका प्रकाश जैसे पृथ्वीपर सामान्यरूपसे सर्वत्र विकीर्ण है, पर पृथ्वीके ही एक भाग-विशेषसे बने दर्पणमें उसकी निर्मलताके कारण वह विशेषरूपसे प्रतिबिम्बित होता है, वैसे ही सर्वव्यापक परमात्माका प्रकाश प्रकृतिके कार्य—शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धिमें सर्वत्र परिपूर्ण होनेपर भी प्रकृतिके एक भाग अन्तःकरणमें उसकी निर्मलताके कारण विशेषरूपसे प्रतिबिम्बित होता है। वह प्रत्यक्ष दीखनेवाला प्रकाश जब अपने सामान्य प्रकाशस्वरूपको अविवेकसे अन्तःकरणमें स्थित हुआ जानकर एकदेशीय मान लेता है और

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

अन्तःकरणसहित शरीरको 'मैं,' 'मेरा' मान लेता है, तब इस मान्यताके कारण ही वह 'क्षेत्रज्ञ' कहलाता है। यदि इस क्षेत्रज्ञकी दृष्टि सम्पूर्ण क्षेत्रोंके प्रकाशक सामान्य प्रकाशस्वरूपकी ओर हो जाय तो फिर अविवेकसे माने हुए 'अहम्'का सर्वथा अभाव होकर एक सामान्य प्रकाश ही रह जाय। यहाँ इन पदोंसे भगवान् क्षेत्रज्ञ (एकदेशीय प्रकाश) को सामान्य प्रकाशस्वरूप (परमात्मा) की ओर दृष्टि करनेके लिये प्रेरित कर रहे हैं। ऐसी दृष्टि होनेसे परमात्माके साथ अभिन्नताका अनुभव हो जाता है अर्थात् वह अपने ही सामान्यस्वरूपसे अभिन्नताका अनुभव करता है।

'विद्धि' पद यहाँ 'विशेषरूपसे जानने'के अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। यह 'जानना' व्यक्तकी उपासना नहीं, अपितु अव्यक्तका वर्णन है। 'जानना' दो अर्थोंमें आता है—(१) जो सर्वसाधारणके द्वारा प्रत्यक्षरूपसे स्वतः जाननेमें आता है। इसे भगवान्‌ने इसी अध्यायके पहले श्लोकमें शरीरादि (क्षेत्र) से अपनेको पृथक् जाननेके लिये 'वेत्ति' पदसे कहा है और (२) जो सूक्ष्म होनेके कारण स्वतः सर्वसाधारणके जाननेमें तो नहीं आता किंतु जो जाना जा सकता है, जिसे अवश्य ही जानना चाहिये एवं जिसे जाननेके बाद और कुछ जानना बाकी नहीं रहता (गीता ७।२)। भगवान् यहाँ 'विद्धि' पदसे सर्वव्यापक परमात्मा (जो क्षेत्रज्ञरूपसे सम्पूर्ण क्षेत्रोंमें स्थित है) के साथ अपनी अभिन्नताका अनुभव करनेको ही 'जानना चाहिये' कह रहे हैं।

यत् क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः ज्ञानम्, तत् ज्ञानम्, इति मम मतम्—जो क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका तत्त्वसे जानना है, वह मेरे मतमें ज्ञान है।

CC-0. RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

क्षेत्रको तत्त्वसे जाननेका अभिप्राय यह है कि क्षेत्र जड, विकारी, परिवर्तनशील, क्षयधर्मा और नाशवान् है। क्षेत्रज्ञको तत्त्वसे जानना यह है कि क्षेत्रज्ञ चेतन, निर्विकार, सदा एकरस रहनेवाला, नित्य और अविनाशी है। क्षेत्रको तत्त्वसे जाननेपर क्षेत्रके साथ मानी हुई लिप्तता नहीं रहती और क्षेत्रज्ञको तत्त्वसे जाननेपर क्षेत्रज्ञरूप सर्वव्यापक परमात्माके साथ अभिन्नताका बोध हो जाता है।

देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनि।
यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः॥

"देहाभिमानके नाश होते ही जीवात्मा परमात्माको तत्त्वसे जान लेता है, अर्थात् सर्वव्यापक परमात्माके साथ उसे अपनी अभिन्नताका अनुभव हो जाता है। फिर जहाँ-जहाँ उसका मन जाता है, वहाँ-वहाँ ही वह तत्त्व अनुभवमें आता है, अर्थात् 'वासुदेवः सर्वमिति' (गीता ७ । १९)—सब कुछ वासुदेव (परमात्मा) ही हैं, ऐसा अनुभव होता है।" इसी अनुभवको एक कविने इस प्रकार व्यक्त किया है—

ढूँढ़ा सब जहाँ में पाया पता तेरा नहीं।
जब पता तेरा लगा तो अब पता मेरा नहीं॥

असत्‌की सत्ताका अत्यन्ताभाव एवं सत्‌की सत्ताका अनुभव होना ही भगवान्‌के मतमें यथार्थ ज्ञान है। यहाँ अनुभाव्य और अनुभाविता नहीं है, केवल अनुभव है। इस अनुभवको दूसरे शब्दोंमें कहें तो ज्ञानी बिना ज्ञान है अर्थात् ज्ञानका अभिमान करनेवाला—'मैं ज्ञानी हूँ,' ऐसा कोई धर्मी नहीं रहता, केवल शुद्ध ज्ञान रहता है। यही यथार्थ ज्ञान है।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgac

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

उपर्युक्त दो श्लोकोंमें भगवान्‌ने चार बातोंका वर्णन किया है—१. क्षेत्र, २. क्षेत्रज्ञका स्वरूप, ३. क्षेत्रज्ञकी अपने (सर्वव्यापक परमात्माके) साथ अभिन्नता और ४. क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके यथार्थ ज्ञानको अपने मतसे ज्ञान मानना। तात्पर्य यह है कि देहाभिमानके कारण ही अव्यक्तकी उपासनामें अधिकतर क्लेश होता है, जिससे ज्ञानकी साधनाको कठिन मान लिया जाता है। वस्तुतः ज्ञानकी साधना कठिन नहीं है।* जो वास्तवमें अपना ही स्वरूप है, उसे ज्यों-का-त्यों जाननेमें कठिनता कैसी? अज्ञानवश शरीरादि, जो अपने स्वरूप नहीं हैं, उन्हें अपना स्वरूप माननेसे ही कठिनाई होती है। उस कठिनाईको दूर करनेके अभिप्रायसे ही भगवान् क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके स्वरूपका विवेचन करके क्षेत्रसे अपनेको पृथक् जानकर क्षेत्रज्ञ (स्वयं) को सर्वव्यापक परमात्माके साथ अभिन्न अनुभव करनेके लिये कह रहे हैं। भगवान् इसी क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके यथार्थ ज्ञानको अपने मतमें 'ज्ञान' कहते हैं।

इस प्रकार भगवान्‌के बताये हुए इस ज्ञानके अनुसार साधना करनेपर साधकको कभी किसी प्रकारकी किंचिन्मात्र भी कठिनाई नहीं होती। कारण कि क्षेत्रज्ञने ही परिच्छिन्नता, भिन्नता, भेद, अज्ञता आदिको स्वीकार किया है, यदि वह क्षेत्रकी तरफसे दृष्टि हटाकर सब क्षेत्रोंमें स्थित परमात्मासे अभिन्नता स्वीकार कर ले तो यह परिच्छिन्नता मिट सकती है।

---

* सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥ (गीता ६। २८)
'सुखपूर्वक परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिरूप अनन्त आनन्दका अनुभव करता है।'

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

सम्बन्ध—

अब भगवान् क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका स्पष्ट ज्ञान करानेके लिये क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके विषयका विशद (स्पष्ट)-रूपसे विवेचन प्रारम्भ करते हैं और अर्जुनको 'क्षेत्र'के विषयमें चार एवं 'क्षेत्रज्ञ'के विषयमें दो बातें सुननेकी आज्ञा देते हैं—

श्लोक—

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥ ३ ॥

भावार्थ—

पहले श्लोकके पूर्वार्धमें 'क्षेत्र' (क्षेत्रमित्यभिधीयते) और उत्तरार्द्धमें 'क्षेत्रज्ञ' (क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः) का जो लक्षणसहित वर्णन है, उसी प्रसङ्गमें इस श्लोकमें 'क्षेत्र'के विषयमें चार और 'क्षेत्रज्ञ'के विषयमें दो बातें संक्षेपसे सुननेके लिये भगवान्‌की आज्ञा है। 'क्षेत्र'के विषयमें चार बातें हैं—उसका स्वरूप, स्वभाव, विकार और जिससे जो पैदा हुआ। (१) स्वरूप—चौबीस तत्त्वोंवाला, यथा—पाँच महाभूत (आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी), अहंकार, बुद्धि और मूल प्रकृति, दस इन्द्रियाँ, मन और पाँच ज्ञानेन्द्रियोंके पाँच विषय। (२) स्वभाव—उत्पत्ति-विनाशधर्मवाला। (३) विकार—क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके माने हुए सम्बन्धके कारण (क्षेत्रमें) उत्पन्न होनेवाले इच्छा-द्वेषादि विकारोंवाला और (४) जिस कारणसे जो उत्पन्न हुआ अर्थात् तेईस तत्त्वोंका मूल कारण प्रकृति है। 'क्षेत्रज्ञ'के विषयमें दो बातें हैं—उसका स्वरूप और प्रभाव। (१) स्वरूप—

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgac

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

नित्य, अविनाशी, निरन्तर रहनेवाला। (२) प्रभाव—सबमें रहता हुआ भी निर्लिप्त, कर्तृत्व और भोक्तृत्वसे रहित।

अन्वय—

तत्, क्षेत्रम्, यत्, च, यादृक्, च, यद्विकारि, च, यतः, यत्, च, सः, यः, च, यत्प्रभावः, तत्, समासेन, मे, शृणु ॥ ३ ॥

पद-व्याख्या—

तत् क्षेत्रम्—वह क्षेत्र।

पहले श्लोकके पूर्वार्द्धमें जिस क्षेत्रका वर्णन किया गया है, उसी 'क्षेत्र'की ओर यहाँ लक्ष्य है; भगवान् उसके विषयमें ही सुननेके लिये कह रहे हैं।

यत्—जो है; अर्थात् उस क्षेत्रका अवयवोंसहित स्वरूप कैसा है? क्षेत्रके स्वरूपका वर्णन (उसे चौबीस तत्त्वोंवाला कहकर) इसी अध्यायके पाँचवें श्लोकमें हुआ है।

च—और।

यादृक्—जैसा है; अर्थात् वह क्षेत्र कैसे स्वभाववाला है? क्षेत्रके स्वभावका वर्णन इसी अध्यायके २६वें और २७वें श्लोकोंमें सम्पूर्ण भूतोंको उत्पत्ति-विनाशवाला बताकर किया गया है।

च—तथा।

यद्विकारि—जिन विकारोंवाला है।

यद्यपि प्रकृतिका परिणाम होनेसे इसी अध्यायके ५वें श्लोकमें वर्णित तेईस तत्त्वोंको भी विकार कहा जाता है, तथापि यहाँ इस

CC-0. RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

पदसे क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके माने हुए सम्बन्धके कारण क्षेत्रमें उत्पन्न होनेवाले इच्छा-द्वेषादि विकारोंको ही (जिनका वर्णन छठे श्लोकमें हुआ है) विकार कहना अभिप्रेत है ।

च—और ।

यतः यत्—जिससे जो पैदा हुआ अर्थात् जिन पदार्थोंके समुदायका नाम क्षेत्र है, उनमेंसे कौन पदार्थ किससे उत्पन्न हुआ है । प्रकृतिसे महत्तत्त्व, महत्तत्त्वसे अहंकार, अहंकारसे पाँच सूक्ष्म महाभूत, मन और दस इन्द्रियाँ तथा सूक्ष्म महाभूतोंसे पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंके 'शब्दादि' पाँचों स्थूल विषय उत्पन्न होते हैं । प्रकृतिसे गुण—सत्त्व, रज और तम एवं इन गुणोंसे सम्पूर्ण सृष्टिकी उत्पत्ति होती है । इसका वर्णन इसी अध्यायके १९वें श्लोकके उत्तरार्द्धमें हुआ है । सूक्ष्म महाभूतों अर्थात् तन्मात्राओंमें पाँच स्थूलभूत—आकाशादिका अन्तर्भाव है ।

च—तथा ।

सः—वह (क्षेत्रज्ञ) ।

पहले श्लोकके उत्तरार्द्धमें जिस क्षेत्रज्ञका वर्णन हुआ है, उसी क्षेत्रज्ञका वाचक यहाँ 'सः' पद है एवं उसीके विषयमें यहाँ सुननेके लिये कहा जा रहा है ।

यः—जो है; अर्थात् 'क्षेत्रज्ञ'का जो स्वरूप है ।

क्षेत्रज्ञके प्रकृतिस्थ स्वरूपका वर्णन इसी अध्यायके २०वें श्लोकमें 'सुख-दुःखोंका भोक्ता' और २१वें श्लोकमें 'अच्छी-बुरी

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgac

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

योनियोंमें जन्म ग्रहण करनेवाला' कहकर किया गया है एवं उसके वास्तविक अविनाशी स्वरूपका वर्णन २२वें और २७वेंसे २९वें श्लोकोंतकमें किया गया है।

च—और।

यत्प्रभावः—उसका जो प्रभाव है।

'क्षेत्रज्ञ'के अकर्तृत्व और निर्लिप्तारूप प्रभावका वर्णन इसी अध्यायके ३१वेंसे ३३वें श्लोकोंतकमें किया गया है।

तत् समासेन मे शृणु—वह सब संक्षेपमें मुझसे सुन।

'तत्' पद सदैव पूर्वपरामर्शक होता है, अर्थात् जो पूर्वमें कहा जाता है, उसीका बोध करानेके लिये आता है। यहाँ यह 'तत्' पद इस श्लोकमें आयी हुई छहों अर्थात् 'क्षेत्र' विषयक चार और 'क्षेत्रज्ञ' विषयक दो बातोंको सुननेका निर्देश करता है।

विशेषार्थ—'भक्ति और ज्ञानमार्गके उपासकोंमें कौन श्रेष्ठ है?' अपने इस प्रश्नका उत्तर अर्जुन बारहवें अध्यायके दूसरे श्लोकसे सुन ही रहे थे, फिर भी भगवान् यहाँ 'शृणु' पद देकर उन्हें सुननेकी आज्ञा देते हैं—इससे ऐसा भाव प्रकट होता है, मानो अभीतक तो अर्जुनने भक्तिका विषय ही सुना है। भगवान् कहते हैं कि अब 'ज्ञानका' विषय भी पूर्णरूपेण संक्षेपसे कहता हूँ, उसे भी ध्यानपूर्वक सुन।

यद्यपि इस अध्यायके प्रारम्भमें पहले दो श्लोकोंमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका सूत्ररूपसे वर्णन हुआ है, जिसे भगवान्‌ने 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

यत्तज्ज्ञानं मतं मम'—ज्ञान भी कहा है; तथापि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विभागका स्पष्टरूपसे सविस्तर स्पष्ट विवेचन (विकारसहित क्षेत्र और निर्विकार क्षेत्रज्ञके स्वरूपगत रहस्यका प्रभावसहित विवेचन) इस तीसरे श्लोकसे आरम्भ होकर चौदहवें अध्यायके २० वें श्लोकतक किया गया है। इसलिये यहाँ भगवान् पुनः सुननेकी आज्ञा देते हैं। तात्पर्य यह है कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके विभागको भी सावधान होकर सुनो।

जैसे अपने स्वरूपको परमात्मासे अलग मानना अज्ञान है, वैसे ही समष्टि प्रकृतिके ही अङ्ग अपने शरीरको समष्टिसे अलग मानना भी अज्ञान है। इस प्रकरणमें भगवान् शरीरकी समस्त संसारके साथ और अपने (जीवके) वास्तविक स्वरूपकी परमात्माके साथ अभिन्नताको विस्तृतरूपमें ध्यानपूर्वक सुननेकी आज्ञा देते हैं। यहाँपर भगवान्‌का यह आशय है कि परमार्थ-मार्गपर चलनेवाले सभी पथिक (ज्ञानमार्गी, भक्तिमार्गी, योगमार्गी आदि) को इस क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विभागको तत्परतासे एवं सावधानीपूर्वक समझना चाहिये; क्योंकि यह उन सभीके लिये उपयोगी है।

शङ्का—यहाँ इस श्लोकमें भगवान् क्षेत्रके विषयमें चार बातें—स्वरूप, स्वभाव, विकार और जिससे जो पैदा हुआ, एवं क्षेत्रज्ञके विषयमें केवल दो बातें—स्वरूप और प्रभाव ही सुननेकी आज्ञा देते हैं। अतः ऐसी शङ्का हो सकती है कि क्षेत्रका प्रभाव क्यों नहीं कहा गया और साथ ही क्षेत्रज्ञके सम्बन्धमें स्वरूपके अतिरिक्त उसके भी स्वभाव, विकार और जिससे जो पैदा हुआ इन विषयोंपर प्रकाश क्यों नहीं डाला गया ?

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgac

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

समाधान—एक क्षण भी एक रूपमें स्थिर न रहनेवाले क्षेत्रका प्रभाव हो ही क्या सकता है ? प्रकृतिस्थ (संसारी) पुरुषके अन्तःकरणमें धनादि जड पदार्थोंका महत्त्व रहता है, इसीलिये संसारमें क्षेत्रका (धनादि जड पदार्थोंका) प्रभाव दिखता है । वास्तवमें स्वतन्त्ररूपसे क्षेत्र (जडता) का कुछ भी प्रभाव नहीं है । अतः प्रतिक्षण परिवर्तनशील क्षेत्रका कुछ भी प्रभाव न होनेके कारण उसके प्रभावका कोई वर्णन नहीं किया गया ।

क्षेत्रज्ञका स्वरूप उत्पत्ति-विनाशरहित है, इसलिये उसका स्वभाव भी उत्पत्ति-विनाशरहित है । अतः श्रीभगवान्‌ने उसके स्वभावका पृथक्‌से वर्णन न कर स्वरूपके अन्तर्गत ही कर दिया । क्षेत्रके साथ अपना सम्बन्ध मान लेनेसे ही क्षेत्रज्ञमें इच्छा-द्वेषादि विकारोंकी प्रतीति होती है; स्वरूपतः क्षेत्रज्ञ निर्विकार ही है । अतः वस्तुतः निर्विकार क्षेत्रज्ञके विकारोंका वर्णन सम्भव ही नहीं । क्षेत्रज्ञ अद्वितीय, अनादि और नित्य है । अतः इसके विषयमें कौन किससे उत्पन्न हुआ, यह प्रश्न ही नहीं बनता ।

'क्षेत्रज्ञ' शब्दसे कहीं क्षेत्रके साथ सम्बन्ध माननेवालेका वर्णन हुआ है और कहीं क्षेत्रके साथ सम्बन्ध न माननेवाले शुद्ध स्वरूपका वर्णन किया गया है । अतः साधकको 'क्षेत्रज्ञ' शब्दका अर्थ प्रसङ्गके अनुसार लेना चाहिये ।

सम्बन्ध—

अगले श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके विषयमें जो मैं संक्षेपसे कह रहा हूँ, वही यथार्थ है और उसी विषयको (विस्तारसे देखना चाहें तो) वेद, शास्त्र, ब्रह्मसूत्र और महापुरुष भी विस्तारसे कहते हैं—

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

श्लोक—

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥

भावार्थ—

वेदके अनेक मन्त्रोंद्वारा अलग-अलग जिनके (क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके) तत्त्वका विस्तारसे वर्णन हुआ है तथा ऋषियोंने भी जिनका बहुत प्रकारसे वर्णन किया है, वही क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका तत्त्व युक्तियोंद्वारा निश्चित किये हुए ब्रह्मसूत्रके पदोंद्वारा भी विस्तारपूर्वक वर्णित हुआ है।

भगवान्‌का आशय मानो यह है कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका जो संक्षिप्त वर्णन मैं कर रहा हूँ, उसे यदि कोई साधक विस्तारसे देखना चाहे, तो उसे उपर्युक्त स्थलों (वेदादि) में देखना चाहिये।

भगवद्वाणीमें उपर्युक्त प्रमाणोंके आ जानेसे यह सिद्ध हो जाता है कि वेद, शास्त्र और महापुरुषोंके द्वारा क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके विषयमें विस्तारपूर्वक किया हुआ विवेचन भी यथार्थ है, अर्थात् ये (वेद-शास्त्रादि) यथार्थ तत्त्वका ही निरूपण करते हैं।

अन्वय—

विविधैः, छन्दोभिः, पृथक् (गीतम्), च, ऋषिभिः, बहुधा, गीतम् (च), विनिश्चितैः, हेतुमद्भिः, ब्रह्मसूत्रपदैः, एव ॥ ४ ॥

पद-व्याख्या—

विविधैः छन्दोभिः पृथक् (गीतम्)—विविध वैदिक मन्त्रों-द्वारा विभागपूर्वक कहा गया है। यहाँ 'विविधैः' विशेषणसहित 'छन्दोभिः' पद ऋक्, यजुः, साम और अथर्व—इन चारों वेदोंके 'संहिता' और 'ब्राह्मण' भागोंके मन्त्रोंका वाचक है। इन्हींके अन्तर्गत समस्त उपनिषद् और भिन्न-भिन्न शाखाओंको भी समझ लेना चाहिये।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

च—तथा ।

ऋषिभिः बहुधा गीतम्—ऋषियोंद्वारा बहुत प्रकारसे समझाया गया है । मन्त्रोंके द्रष्टा एवं शास्त्र और स्मृतियोंके रचयिता ऋषिगणोंके लिये यहाँ 'ऋषिभिः' पद आया है । इन ऋषियोंने अपनी-अपनी स्मृतियों और ग्रन्थोंमें जड-चेतन, सत्-असत्, शरीर-शरीरी, देह-देही और नित्य-अनित्य आदि शब्दोंसे क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके तत्त्वको बहुत प्रकारसे वर्णन करके स्पष्ट समझाया है ।

(च)—और ।

'विनिश्चितैः हेतुमद्भिः ब्रह्मसूत्रपदैः एव—युक्तियुक्त एवं अच्छी प्रकार निश्चय किये हुए ब्रह्मसूत्रके पदोंद्वारा भी क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके तत्त्वका निरूपण किया गया है ।

सम्बन्ध—

तीसरे श्लोकमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके विषयमें जिन छः बातोंको संक्षेपसे सुननेकी आज्ञा दी गयी थी, उनमेंसे क्षेत्रकी दो बातोंका अर्थात् उसके स्वरूप और विकारोंका वर्णन आगेके दो श्लोकोंमें किया जा रहा है—

श्लोक—

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥ ५ ॥

भावार्थ—

सूक्ष्म पञ्च महाभूत—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

जिन्हें सांख्ययोग आदिमें पञ्च तन्मात्रा[1] भी कहते हैं, समष्टि अहंकार—जिसके पुराणोंमें सात्त्विक, राजस और तामस—तीन भेद किये गये हैं; समष्टि बुद्धि—जिसे महत्तत्त्व कहते हैं और मूल प्रकृति, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ—(श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण), पाँच कर्मेन्द्रियाँ—(वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा), एक मन और पाँच ज्ञानेन्द्रियोंके विषय—(शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध)—इस प्रकार इन चौबीस तत्त्वोंके समुदायका नाम 'क्षेत्र' है ।

अन्वय—

महाभूतानि, अहंकारः, बुद्धिः, च, अव्यक्तम्, एव, च, दश, इन्द्रियाणि, एकम्, च, पञ्च, इन्द्रियगोचराः ॥ ५ ॥

पद-व्याख्या—

महाभूतानि—सूक्ष्म पञ्च महाभूत ।

वेदान्त-ग्रन्थोंमें इन्हींको 'अपञ्चीकृत-पञ्चमहाभूत' कहते हैं । इन्द्रियोंके विषय (शब्दादि)के कारण होनेसे ये पञ्चमहाभूत 'प्रकृति' हैं एवं 'अहंकार तत्त्वके कार्य होनेसे 'विकृति' हैं । तात्पर्य यह है कि ये पञ्चमहाभूत 'प्रकृतिविकृति' हैं । सातवें अध्यायके चौथे श्लोकमें—'भूमिः, आपः, अनलः, वायुः और खम्' के नामोंसे इन्हीं पञ्चमहाभूतोंका वर्णन हुआ है ।

अहंकारः—समष्टि अहंकार ।

व्यक्ति-विशेषमें (मूलसे शरीरको अपना स्वरूप मानकर) 'शरीर मैं हूँ' ऐसी अहंकी स्फूर्ति होनेको 'व्यष्टि अहंकार' कहते

---

१. पञ्च तन्मात्राओंके अन्तर्गत ही उनके कार्य पञ्च स्थूल महाभूत—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाशको ले लेना चाहिये ।

CC-0. JangamWadi Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

हैं। यह व्यष्टि अहंकार अपना माना हुआ है (गीता ३ । २७) अतः यह अपवित्र और त्याज्य है[1] । इस माने हुए अहंकारके कारण ही जन्म-मरण होता है, परंतु इसे न माननेसे इसका सर्वथा अभाव हो जाता है (गीता ५ । ८)[2] ।

यद्यपि यह 'व्यक्तिगत (व्यष्टि) अहंकार' भी अहंकारके नामसे कहा जाता है, किंतु यहाँपर यह पद समष्टि अहंकारके लिये प्रयुक्त हुआ है ।

जैसे वायु, तेज, जल और पृथ्वी—इन तत्त्वोंका आकाश कारण भी है एवं उनमें व्याप्त भी है, वैसे ही अहंकार समष्टि संसारकी उत्पत्तिका कारण भी है और सम्पूर्ण संसारमें व्याप्त भी है । सम्पूर्ण संसारकी उत्पत्तिका कारण एवं सम्पूर्ण संसारमें व्याप्त होनेसे सम्पूर्ण भौतिक पदार्थोंमें व्यापक सामान्य अहंकार एवं सम्पूर्ण भौतिक पदार्थ मिलकर 'समष्टि अहंकार' कहलाता है । व्यष्टि अहंकार इस समष्टि अहंकारका ही क्षुद्र अंश है ।

समष्टि अहंकारकी द्रव्य-शक्तिसे पाँच महाभूत, ज्ञान-शक्तिसे मन और क्रियाशक्तिसे दसों इन्द्रियोंकी उत्पत्ति कही गयी है,

---

१. जड-चेतन प्रत्यक्षरूपमें बिल्कुल अलग दिखायी देते हैं—'उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः' (२ । १६), जडके साथ केवल मानी हुई एकता है, इसीसे व्यष्टि अहंकार है । जबतक यह मानी हुई एकता हम छोड़ेंगे नहीं, तबतक चाहे कितने ही उपाय करें; यह मिटेगी नहीं । यदि इसे न माने तो यह जड़-चेतनकी एकरूपता टिकेगी नहीं । ध्यान रहे, जो वस्तु मानी हुई होती है, वह वास्तवमें होती नहीं । इसलिये यह माना हुआ सम्बन्ध भी वास्तविक नहीं है ।

२. नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

इसलिये यह 'प्रकृति' है; यह समष्टि-बुद्धिका कार्य होनेसे 'विकृति' भी है। तात्पर्य यह है कि अहंकार 'प्रकृति-विकृति' है।

सातवें अध्यायके चौथे श्लोकमें 'अहंकारः' पद इसी समष्टि अहंकारके भावसे ही आया है।

तीसरे अध्यायके २७वें श्लोकमें, सोलहवें अध्यायके १८वें श्लोकमें तथा अठारहवें अध्यायके ५३वें और ५९वें श्लोकोंमें आया हुआ 'अहंकार' पद एवं अठारहवें अध्यायके १७वें श्लोकमें आया हुआ 'अहंकृतभाव' पद और अठारहवें अध्यायके ५८वें श्लोकमें आया हुआ 'अहंकारात्' पद व्यष्टि अहंकारके वाचक हैं।

दूसरे अध्यायके ७१वें एवं बारहवें अध्यायके १३वें श्लोकमें आया हुआ 'निरहंकारः' तथा इसी अध्यायके आठवें श्लोकमें आया हुआ 'अनहंकारः' और अठारहवें अध्यायके २६वें श्लोकमें आया हुआ 'अनहंवादी' पद माने हुए बन्धनकारक अहंकारके सर्वथा अभावके ही द्योतक हैं, सामान्य अहंकारके नहीं। जिस अहंकारसे जीवन्मुक्त महापुरुषकी जीवन-निर्वाहसम्बन्धी क्रियाएँ होती हैं, वह निर्दोष सामान्य अहंकार है, जो अपने सम्पूर्ण कार्य-संसारमें सामान्य-रूपसे व्यापक है।

बुद्धिः—समष्टि बुद्धि।

प्रत्येक व्यक्तिमें निश्चय करनेकी एक शक्ति न्यूनाधिकरूपसे रहती है। इसको अपनी माननेसे वह व्यष्टि-बुद्धि कहलाती है। यद्यपि यह 'व्यष्टि-बुद्धि' भी बुद्धिके नामसे ही कही जाती है, किंतु

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

यहाँपर यह पद समष्टि-बुद्धिके लिये ही प्रयुक्त हुआ है। समष्टि अहंकारकी तरह ही सम्पूर्ण भौतिक पदार्थोंमें व्यापक सामान्य बुद्धि और सम्पूर्ण भौतिक पदार्थ 'समष्टि-बुद्धि' कहे जाते हैं। यह समष्टि-बुद्धि 'महत्तत्त्व'के नामसे भी कही जाती है। व्यष्टिबुद्धि इस समष्टि-बुद्धिका ही एक क्षुद्र अंश है। इस समष्टि-बुद्धिसे अहंकारकी उत्पत्ति होती है, इसलिये यह 'प्रकृति' है एवं मूल प्रकृतिका कार्य होनेसे यह 'विकृति' भी है। तात्पर्य यह है कि समष्टिबुद्धि भी 'प्रकृति-विकृति' है।

च-और।

अव्यक्तम्—मूल प्रकृति अर्थात् त्रिगुणमयी माया।

प्रत्येक व्यक्तिके स्थूल, सूक्ष्म और कारण—ये तीन शरीर हैं। यद्यपि प्रत्येक व्यक्तिका यह 'कारण-शरीर' भी 'व्यष्टि-प्रकृति'के नामसे कहा जाता है, किंतु यहाँ यह पद 'मूल-प्रकृति'का ही वाचक है, जो महत्तत्त्वादि समस्त पदार्थोंकी कारणरूपा है।

मूल-प्रकृति अनादि है, अतः यह किसीका भी कार्य नहीं है। प्रत्येक व्यक्तिका कारण-शरीर इस मूल-प्रकृतिका ही क्षुद्र अंश है। जो देश, काल, वस्तु और व्यक्तिके संस्कारका सम्बन्ध है, वह व्यक्तिगत प्रकृतिमें दोष है। जड-चेतन (प्रकृति-पुरुष) का यथार्थ विवेक होनेपर इस दोषका सर्वथा अभाव हो जाता है।

मूल-प्रकृतिसे समष्टि-बुद्धिकी उत्पत्ति होती है एवं किसीका भी कार्य न होनेसे यह केवल 'प्रकृति' ही है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

इस अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें आया हुआ **'प्रकृतिम्'** पद एवं चौदहवें अध्यायके तीसरे और चौथे श्लोकोंमें आये **'महत्'**, **'ब्रह्म'** पद इसी मूल प्रकृतिके द्योतक हैं।

आठवें अध्यायके अठारहवें और बीसवें श्लोकोंमें आया हुआ **'अव्यक्तात्'** पद ब्रह्माके सूक्ष्मशरीरके लिये प्रयुक्त हुआ है।

आठवें अध्यायके बीसवें श्लोकमें आया **'सनातनः अव्यक्तः'** पदोंका प्रयोग सच्चिदानन्दघन पूर्ण ब्रह्म परमात्माके लिये हुआ है।

एव—भी।

च—तथा।

दश इन्द्रियाणि—दस इन्द्रियाँ।

पाँच कर्मेन्द्रियाँ—वाक्, हस्त, पाद आदि और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ श्रोत्र, नेत्र, त्वचा आदि—इस प्रकार सब मिलकर दस इन्द्रियाँ हैं। प्रायः मनुष्य इन्द्रियोंके गोलकों (उनके रहनेके स्थान) को इन्द्रियाँ समझते हैं, किंतु वास्तवमें चक्षु आदि स्थानोंमें रहनेवाली शक्तिको ही इन्द्रियाँ कहते हैं।

यद्यपि भगवान् गीतामें श्रोत्र, त्वचा आदि पाँचों इन्द्रियोंका पृथक्‌रूपसे वर्णन तो करते हैं (गीता १५। ९), किंतु इन्हें 'ज्ञानेन्द्रिय' शब्दसे सम्पूर्ण गीतामें कहीं व्यक्त नहीं किया गया। इसका ऐसा कारण प्रतीत होता है कि भगवान् सम्पूर्ण इन्द्रियों (कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों) से ही कर्म होना मानते हैं। जैसे—

(१) तीसरे अध्यायके छठे श्लोकमें **'कर्मेन्द्रियाणि संयम्य'** पद आया है—वहाँ उसका अर्थ कर्मेन्द्रिय पूरी तरहसे ठीक नहीं

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgac

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

बैठता; क्योंकि ऐसा अर्थ लेनेसे एक तो ज्ञानेन्द्रियोंके संयम करनेकी बात रह गयी, दूसरे ज्ञानेन्द्रियोंके संयम बिना मिथ्याचारीका स्वाँग भी पूरा नहीं होता ।

(२) तीसरे अध्यायके ७वें श्लोकमें आया हुआ **'कर्मेन्द्रियैः'** पदका केवल 'कर्मेन्द्रियाँ' अर्थ लेनेसे ज्ञानेन्द्रियोंके बिना कर्मयोगका अनुष्ठान सिद्ध ही नहीं होता । अतः वहाँ भी ज्ञानेन्द्रियोंको कर्मेन्द्रियोंके अन्तर्गत ही लिया गया है । तात्पर्य यह है कि गीतामें सम्पूर्ण इन्द्रियोंको 'इन्द्रियाँ' अथवा 'कर्मेन्द्रियाँ' शब्दोंसे ही कहा गया है ।

यहाँपर यह वर्णन समष्टि इन्द्रिय-शक्तिका है । व्यक्तिगत इन्द्रियाँ समष्टिका ही अंश हैं ।

अहंकारकी क्रिया-शक्तिसे उत्पन्न होनेके कारण एवं इनसे किसी भी तत्त्वकी उत्पत्ति न होनेके कारण ये दसों इन्द्रियाँ केवल 'विकृति' हैं ।

एकम्—एक मन ।

केवल संकल्प-विकल्प करनेवाली अन्तःकरणकी वह वृत्ति, जो 'मन'के नामसे कही जाती है । यह मनन करनेवाली वृत्ति प्रत्येक व्यक्तिमें भिन्न-भिन्न रूपसे रहती है और इसे अपनी माननेपर यह 'व्यक्तिगत मन' कहलाती है । यद्यपि यह व्यक्तिगत मन भी 'मन' के नामसे कहा जाता है, किंतु यहाँ यह पद समष्टि अन्तःकरणकी एक वृत्ति 'समष्टि मन'के लिये आया है । व्यक्तिगत मन इस समष्टि-मनका ही क्षुद्र अंश है । अहंकारकी ज्ञान-शक्तिसे उत्पन्न होनेके कारण एवं

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

इससे किसी भी तत्त्वकी उत्पत्ति न होनेके कारण यह मन भी केवल 'विकृति' है ।

च—और ।

पञ्च इन्द्रियगोचराः—पाँचों इन्द्रियोंके पाँच शब्दादि विषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) ।

मनुष्य अपने शरीरके अन्तर्गत भी इन पाँचों विषयोंका—शब्द (पेटमें गड़गड़ाहटके शब्द कानोंसे सुनकर), स्पर्श (कण्ठमें जलकी उष्णता-शीतलताका स्पर्श), रूप (नेत्र बंद करनेपर नाना प्रकारके रंग-दृश्य), रस (भोजनके पश्चात् उद्गार आदिके रूपसे) और गन्ध (अपने ही मुँहकी गन्ध नासिकाके द्वारा)—अनुभव करता है । इससे यह सिद्ध होता है कि पाँचों विषय शरीरके अन्तर्गत भी हैं और बाहर भी । तात्पर्य यह कि प्रत्येक व्यक्तिमें ये पाँचों विषय सूक्ष्म महाभूतोंके साथ कारणरूपसे भी रहते हैं ।

ये पाँचों विषय पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंके स्थूल विषय हैं । सूक्ष्म महाभूतोंका कार्य होनेसे एवं इनसे किसी भी तत्त्वकी उत्पत्ति न होनेके कारण ये पाँचों विषय भी केवल 'विकृति' ही हैं ।

विशेषार्थ—यह व्यष्टि शरीर (स्थूल, सूक्ष्म और कारण) किसी भी प्रकारसे समष्टि संसार (स्थूल, सूक्ष्म और कारण—प्रकृति) से भिन्न है नहीं, हो सकता भी नहीं । तत्त्वतः यह व्यष्टि है ही नहीं, व्यष्टिभाव कल्पनामात्र है । जैसे धूलिके छोटे-छोटे कण पृथ्वीसे अलग नहीं हैं और समुद्रकी लहर भी समुद्रसे अलग नहीं है; जिस प्रकार धूलिके कणोंको पृथ्वीसे और समुद्रकी लहरोंको

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

समुद्रसे अलग कहना महान भूल है, वैसे ही शरीर (व्यष्टि) को संसार (समष्टि) से भिन्न 'अपना' मानना भी महान् भूल है। इस भूल अर्थात् व्यष्टिभावको मिटानेके लिये भगवान् यहाँ समष्टि-तत्त्वोंका वर्णन करते हैं। इस भूलको मिटानेका सुगम उपाय यह है कि या तो सम्पूर्ण संसारको अपना माने, अन्यथा अपने कहलानेवाले शरीरको भी 'अपना' न माने।

क्षेत्रके स्वरूपमें चौबीस तत्त्वोंका विवेचन करते हुए भगवान्ने आदिमें सात तत्त्वों—पाँच महाभूत, एक अहंकार और एक बुद्धिका 'प्रकृति-विकृति'के रूपमें, फिर मूल-प्रकृतिका और अन्तमें सोलह तत्त्वों—दस इन्द्रियाँ, एक मन और पाँच ज्ञानेन्द्रियोंके विषयोंका केवल 'विकृति'के रूपमें वर्णन किया है। इस प्रकारका क्रम रखनेमें भगवान्का एक तो ऐसा भाव प्रतीत होता है कि 'प्रकृति-विकृति'के विभागको 'विकृति' समुदायसे विभक्त करनेके लिये 'अव्यक्त'को दोनों विभागोंके बीचमें रखा है, जिससे कि सभी विभाग स्पष्टरूपसे समझमें आ सकें। दूसरा, जिस प्रकार सांख्यशास्त्रमें सृष्टिकी उत्पत्तिका वर्णन—'प्रकृति', 'प्रकृति'-'विकृति' और 'विकृति'—भिन्न-भिन्न करके बताया गया है*, उसी प्रकार यहाँ भी समष्टि

---

*—मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥
(सांख्यकारिका ३)

मूल प्रकृति तो किसीकी विकृति (विकार) नहीं है। महत्तत्त्व, अहंकार और शब्द, रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श (पञ्चतन्मात्राएँ)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

सृष्टिके स्वरूपमें चौबीस तत्त्वोंका वर्णन करते हैं । यहाँ 'इन्द्रियाणि दशैकम्' पदोंके साथ बुद्धि और अहंकार न आनेके कारण अर्थात् सूक्ष्म व्यष्टि शरीरका पूरा वर्णन न होनेके कारण इसे व्यष्टि शरीरका वर्णन मानना उचित नहीं है ।

श्लोक—

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६ ॥

भावार्थ—

इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात अर्थात् कारण एवं सूक्ष्म शरीरसहित पञ्चभूतोंसे बना हुआ स्थूल शरीर, चेतनता और धृति (धारण-शक्ति)—इन सात विकारोंसहित संक्षेपमें यह 'क्षेत्र' कहा गया है । ये विकार क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके माने हुए सम्बन्धसे क्षेत्रमें ही उत्पन्न होनेवाले हैं ।

विकारोंके दो भेद हैं—(१) प्रकृतिमें स्वतः परिवर्तनशील विकार और (२) प्रकृतिके अंश शरीरके साथ सम्बन्ध माननेसे (व्यष्टि शरीरमें होनेवाले) राग-द्वेष, हर्ष-शोक, सुख-दुःख आदि विकार ।

—ये सातों पञ्चभूतादिके कारण होनेसे 'प्रकृति' भी हैं और मूल प्रकृतिका कार्य होनेसे 'विकृति' भी हैं; अर्थात् सातों 'प्रकृति-विकृति' हैं । पाँच 'कर्मेन्द्रियाँ', पाँच 'ज्ञानेन्द्रियाँ' और 'मन' (ग्यारह इन्द्रियाँ) एवं पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश (पाँच महाभूत)—ये कुल सोलह केवल 'विकृति' हैं । वे किसीकी प्रकृति अर्थात् कारण नहीं हैं । यह भी समझना चाहिये कि ग्यारह इन्द्रियाँ अहंकारका कार्य हैं और पञ्च स्थूल महाभूत पञ्च तन्मात्राओंके कार्य हैं । पुरुष न किसीका कारण है, न कार्य । वह असङ्ग है ।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

पाँचवें श्लोकमें भगवान्‌ने मूल प्रकृतिके विकारों (प्रकृति-विकृति एवं केवल विकृतिके रूपमें) का वर्णन किया । अब इस श्लोकमें प्रकृतिके एक अंश शरीरको मैं-मेरा माननेसे उस शरीरमें होनेवाले विकारोंका वर्णन करते हैं । तात्पर्य यह है कि यह शरीर (इदम् शरीरम्), इसमें होनेवाले विकार (इच्छा-द्वेषादि) की मूलप्रकृति (समष्टि) के साथ एकता है । जैसे इसी अध्यायके दूसरे श्लोकमें भगवान्‌ने क्षेत्रज्ञके साथ अपनी एकता बतलायी, वैसे ही यहाँ शरीर एवं उसमें उत्पन्न होनेवाले विकारोंकी मूल प्रकृतिके साथ एकता बतलाते हैं ।

अन्वय —

इच्छा, द्वेषः, सुखम्, दुःखम्, संघातः, चेतना, धृतिः, एतत्, क्षेत्रम्, सविकारम्, समासेन, उदाहृतम् ॥ ६ ॥

पद-व्याख्या

इच्छा—इच्छा ।

क्षेत्रज्ञ परमात्मासे वस्तुतः अभिन्न होते हुए भी अविवेकके कारण जड-शरीरादिके साथ 'मैं' 'मेरा' और 'मेरे लिये'का सम्बन्ध माननेसे अपनेमें कमीका अनुभव करता है, अर्थात् शरीरादिकी आवश्यकताको अपनी आवश्यकता मानने लगता है एवं उस कमीकी पूर्ति भी (शरीरके) सजातीय (जड-जातिके) प्राणीपदार्थोंसे ही चाहता है । ऐसी चाहको 'इच्छा' कहते हैं । इस इच्छाके वासना, स्पृहा, कामना, आशा और तृष्णा आदि अनेक नाम-भेद हैं । इसके वास-स्थान 'अहं' (गीता २ । ५९), 'बुद्धि, मन और इन्द्रियाँ' (गीता ३ । ४०) तथा 'पदार्थ' (३ । ३४) हैं ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

क्षेत्रके विकारोंकी गणनामें भगवान् सर्वप्रथम इच्छारूप विकारका निरूपण करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि 'इच्छा' मूल विकार है; क्योंकि ऐसा कोई पाप और दुःख नहीं है, जो सांसारिक कामना (इच्छा)से पैदा न होता हो, अर्थात् सम्पूर्ण पाप और दुःख सांसारिक कामनाओंसे ही पैदा होते हैं। संसारकी कामना उत्पन्न होनेपर विवेक-शक्ति दब जाती है, जिसके फलस्वरूप सभी प्रकारके अनर्थ पैदा होते हैं। अतः इस इच्छारूप विकारको मिटाना अति आवश्यक है। यही कारण है कि भगवान् गीतामें जगह-जगह इच्छा (कामना)के त्यागकी बात कहते हैं (गीता २। ५५, ७१)।

इस अध्यायके पहले श्लोकमें 'इदम् शरीरम् क्षेत्रम्' पदोंके भावानुसार जैसे शरीरको अपनेसे पृथक् देखनेपर सम्पूर्ण संसारसे पृथक्ताका अनुभव हो जाता है, वैसे ही इच्छारूप मूल विकारके मिटनेसे सम्पूर्ण दुःखोंका अभाव हो जाता है।

यह नियम है कि मनुष्य ज्यों-ज्यों जड (नाशवान्) पदार्थोंके संग्रह और सुख-भोगसे इच्छाओंकी पूर्ति करनेकी चेष्टा करता है, त्यों-त्यों वे बढ़ती ही चली जाती हैं—'जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई' (रामचरितमानस, बाल० १७९। १)। इच्छाकी इन भोगोंसे कभी भी पूर्ति नहीं होती। वास्तवमें यों कहना चाहिये कि इनसे कभी पूर्ति भी होना सम्भव ही नहीं है; क्योंकि जीव स्वयं चेतन है, जड़के साथ एकता माननेसे ही वह अपनेमें अभावका अनुभव करता है। अतः जबतक वह अपने वास्तविक (चेतन) स्वरूपका

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

C0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

अनुभव नहीं करता, तबतक उसे इच्छा होती ही रहती है। वह पदार्थोंके प्राप्त होनेसे कभी मिट ही नहीं सकती, चाहे उसे संसारके समस्त पदार्थ ही क्यों न मिल जायँ। अतः साधकको सदैव इस बातका ध्यान रखना चाहिये कि इच्छाकी पूर्ति कभी भी नहीं होती; इसलिये इसकी तो निवृत्ति ही करनी आवश्यक है और यह निवृत्ति होती है—विवेकपूर्वक विचारसे। इसीसे भगवान्‌ने क्षेत्रके विकारोंमें 'इच्छा'-रूप मूल विकारको सर्वप्रथम कहकर मानो इसे नष्ट करनेकी प्रेरणा दी है।

मनुष्यको यह भ्रम रहता है कि ऐसी-ऐसी (मनोऽनुकूल) परिस्थिति बन जाय, अर्थात् धन, मान, आदर, सत्कार, पद, योग्यता, स्वास्थ्य और परिवार आदि मनचाहे पदार्थ मिल जायँ तो वह सुखी हो जायगा; पर वह इस ओर विचार नहीं करता कि—(१) क्या संसारमें कभी किसीकी ऐसी परिस्थिति हुई थी या रही है? यदि हाँ, तो क्या वह सुखी हो गया था? जब वह सुखी नहीं हुआ, तो फिर वैसी ही परिस्थितिमें मैं कैसे सुखी हो जाऊँगा। (२) क्या इस जातिकी वस्तु आजतक मुझे कभी मिली ही नहीं? क्या मैं उसके मिलनेपर सुखी हो गया था? जब आजतक सुखी नहीं हुआ, तब वैसी ही वस्तु और प्राप्त होनेपर मैं कैसे सुखी हो जाऊँगा?

यदि साधक इन बातोंपर विचार करे तो फिर उसकी इच्छाएँ रह ही कैसे सकती हैं? अर्थात् विवेकपूर्वक विचारसे उसकी इच्छाएँ नष्ट हो जाती हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

सर्वथा धर्म एवं न्याययुक्त आचरणद्वारा और लोक-मर्यादाके अनुसार, अपनी शक्तिके अनुसार केवल दूसरोंकी इच्छापूर्ति करते हुए बदलेमें अपने लिये किंचिन्मात्र भी स्वार्थका भाव न रखनेसे इच्छाओंका त्याग सुगमतासे हो सकता है । दूसरोंकी इच्छापूर्ति अपनी इच्छाको मिटानेके उद्देश्यसे करनी चाहिये, दूसरोंको प्रसन्न करनेके उद्देश्यसे नहीं ।

इच्छामात्रसे पदार्थ मिलते नहीं, निर्वाहके लिये पदार्थ इच्छाके बिना भी मिलते हैं । इच्छा करनेसे पदार्थ अधिक मिल जाय एवं इच्छा न करनेसे पदार्थ कम मिलें—ऐसा नहीं है । अतः इच्छासे किसी प्रकारका लाभ नहीं होता; सब तरहकी हानि ही होती है । इच्छा होते ही चिन्ता, भय और हलचल आदि विकार होने लगते हैं । दूसरे, इच्छाके अनुसार अभीष्ट-सिद्धि होनेपर लोभ बढ़ता है; जैसे—

'इच्छति शती सहस्रं सहस्री लक्षमीहते कर्तुम् ।'

अर्थात् सौवाला हजारकी इच्छा करता है, हजारवाला लखपति बनना चाहता है ।

पदार्थोंके मिलनेपर भी न तो इच्छापूर्ति होती है और न नयी इच्छाका उत्पन्न होना ही मिटता है ।

अपनी स्थितिमें दूसरोंकी अपेक्षा अधिक सम्पन्नता देखकर अभिमान होता है, इच्छापूर्तिमें बाधा डालनेवाला यदि अपनेसे निर्बल होता है तो उसपर क्रोध आता है और यदि अपनेसे बलवान् होता है तो उससे भय होता है । एवं इच्छाकी पूर्ति न होनेसे स्पष्ट ही

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

C0. In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

दुःखका अनुभव होता है। अतः इच्छा करना ही सभी दोषोंकी जड़ है। अपने जीवनपर थोड़ा-सा विचार करनेपर सभीको यह प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि इच्छा ही मूल विकार है। अपने इस अनुभवपर दृढ़ रहनेसे विवेकी साधकको कोई इच्छा नहीं हो सकती।

द्वेषः—द्वेष, शत्रुता।

जिस प्राणी, पदार्थ, घटना, क्रिया और परिस्थितिको मनुष्य अपने दुःखका हेतु या सुखमें बाधक समझता है, उसके प्रति अन्तःकरणमें दुर्भाव, असहिष्णुता और उसे नष्ट करनेके भावका नाम 'द्वेष' है। ऐसे ही अपने प्रतिकूल प्राणीका किसी अन्यके द्वारा अनिष्ट होता देखकर चित्तमें जो प्रसन्नता होती है, वह भी 'द्वेष'का ही सूक्ष्म रूप है।

यह नियम है कि प्रकृतिके जिस कार्य—दृश्यवर्गमें राग होता है, उसके विपरीत या विरोधी पदार्थोंसे द्वेष उत्पन्न हो जाता है; वैसे ही स्वयं चिन्मयस्वरूप होनेसे जितने अंशमें क्षेत्रज्ञका दृश्य (संसार)में राग होता है, उतने ही अंशमें वह अपने चिन्मय-स्वरूपसे विमुख हो जाता है। अतः द्वेषके सर्वथा अभावके लिये संसारमें कहीं भी राग नहीं करना चाहिये। द्वेषके स्थूल रूप वैर, ईर्ष्या, घृणा, क्रोध एवं हिंसा आदि हैं।

किसी भी विकारको दूर करनेके लिये उसके कारणकी खोज कर उसे ही मिटा देनेसे कार्य (विकार) स्वतः नष्ट हो जाता है; क्योंकि बिना कारणके कोई भी कार्य नहीं होता। यदि कारण मिट गया तो कार्य आप ही मिट जायगा।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-Gre

क्षेत्रज्ञद्वारा क्षेत्रके साथ तादात्म्य स्वीकार करनेसे ही राग-द्वेषादि विकार उत्पन्न होते हैं; स्वरूपतः क्षेत्रज्ञमें कोई विकार नहीं है। अतः विवेकपूर्वक क्षेत्रके साथ तादात्म्य अस्वीकार कर देनेपर द्वेष आदि विकारोंका सर्वथा अभाव हो जाता है।

स्वार्थमें बाधा डालनेवाले और बाधा डालनेकी सम्भावनावाले तथा अभिमानको ठेस पहुँचानेवाले प्राणीके प्रति द्वेषभाव पैदा हो जाता है; अतः द्वेषका सर्वथा अभाव करनेके लिये एवं प्राणिमात्रके हितके लिये स्वार्थ और अभिमान त्यागकर आदर एवं प्रेमपूर्वक सबकी सेवा करनी चाहिये।

विवेकपूर्वक विचार करनेसे भी द्वेषरूप विकारका परित्याग किया जा सकता है।

सुखम्—सुख।

धन, आरोग्य आदिकी प्राप्तिको भी 'सुख' कहते हैं, किंतु यहाँ यह पद अपने अनुकूल प्राणी-पदार्थ आदिके संयोग और अपने प्रतिकूल प्राणी-पदार्थके वियोगसे अन्तःकरणमें जो प्रसन्नताकी वृत्तिरूप सुख होता है, उस 'सुख'का वाचक है।

गीताके अठारहवें अध्यायके ३६वेंसे ३९वें श्लोकतक 'सात्त्विक', राजस' और 'तामस'—तीन प्रकारके सुखोंका वर्णन हुआ है*। सात्त्विक सुख परमात्माकी प्राप्तिमें सहायक होता है।

* 'सात्त्विक' सुखका वर्णन ३६ वें श्लोकके उत्तरार्द्ध और ३७ वें श्लोकमें है; ३८ वें और ३९ वें श्लोकोंमें क्रमशः 'राजस' और 'तामस' सुखका वर्णन हुआ है।

CC-0. JangamWadi Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-IGNCA-Grant

आसक्ति तो सात्त्विक सुखकी भी बाँधनेवाली ही होती है। (गीता १४ । ६) राजस और तामस सुख तो जीवको बन्धनमें डालनेवाले होते ही हैं (गीता १४ । ७-८)।

दुःखम्—दुःख।

सुखकी तरह ही धनादिका नाश, शरीरका अस्वस्थ हो जाना आदि दुःखद परिस्थितियोंको 'दुःख' कहते हैं; किंतु यहाँ यह पद प्रतिकूलकी प्राप्ति और अनुकूलके विनाशसे अन्तःकरणमें जो संताप और व्याकुलता होती है, जिसे 'व्यथा' भी कहते हैं, उसके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। बाह्य परिस्थिति अथवा सांसारिक पदार्थोंकी सम्पन्नतासे जो सुख दिखायी देता है, वह अभिमानजन्य होनेके कारण परिणाममें संताप ही देता है, इसलिये वह भी दुःखरूप ही है।

जिस प्रकार दादकी व्याधिमें खुजली और जलन—दोनों एक ही रोगके दो रूप हैं, वैसे ही अनुकूल एवं प्रतिकूलकी प्राप्ति और वियोगसे अन्तःकरणमें होनेवाली प्रसन्नता और संताप अर्थात् सुख और दुःख, दोनों एक ही विकारके दो रूप हैं। ये सुख और दुःख—दोनों विकार क्षेत्रज्ञकी क्षेत्रके साथ मानी हुई एकतासे ही क्षेत्रमें उत्पन्न होते हैं। यहाँ ध्यान देनेकी बात यह है कि क्षेत्रज्ञ जब अविवेकसे क्षेत्रके साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है, तब क्षेत्रमें ये (इच्छा, द्वेष, सुख और दुःख) विकार उत्पन्न हो जाते हैं, अर्थात् ये मान्यताजन्य विकार हैं। क्षेत्रज्ञका वास्तविक स्वरूप तो सदैव निर्विकार है ही।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding: MoE-Gre

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले विकार सर्वथा मिटाये जा सकते हैं; क्योंकि क्षेत्रज्ञका क्षेत्रके साथ संयोग केवल माना हुआ है। उस सम्बन्धको न माननेसे विकार सुगमतापूर्वक मिट जाते हैं, वास्तवमें तो वे हैं ही नहीं। अतः शरीरके साथ माने हुए सम्बन्धके कारण उत्पन्न होनेवाले विकारोंको मिटा देना चाहिये।

क्षेत्रज्ञकी क्षेत्रके साथ मानी हुई एकताको मिटानेके लिये भगवान् इस अध्यायके पहले श्लोकमें शरीरको इदंतासे (अपनेसे) पृथक् देखनेके लिये और फिर दूसरे श्लोकमें परमात्मासे अपनी अभिन्नताका अनुभव करनेके लिये कह रहे हैं। ऐसा अनुभव होनेपर क्षेत्रके साथ मानी हुई तद्रूपताका सर्वथा अभाव हो जाता है और फिर विकार उत्पन्न ही नहीं हो सकते। यही कारण है कि जीवन्मुक्त महापुरुषमें कभी हर्ष-शोक आदि विकार उत्पन्न ही नहीं होते। 'मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति' (कठ० उ० १। २। १२)।

संघातः—प्रकृतिसहित चौबीस तत्त्वोंका एकीकरण होनेसे जो शरीररूप समूह बना है, उसे ही यहाँ 'संघात' कहा गया है। शरीरका उत्पन्न होकर सत्तारूपसे रहना विकार है तथा उसमें प्रतिक्षण परिवर्तन होते रहना भी विकार है।

चेतना—जीवनीशक्ति अर्थात् प्राण।

जिस शक्तिसे प्राणी जीवित रहता है तथा निद्रा लेते हुए प्राणीमें मुर्देकी अपेक्षा विलक्षणता स्पष्ट दीखती है, उस शक्तिको 'चेतना' कहते हैं। सूक्ष्म-शरीरका एक अङ्ग होनेसे यह भी क्षेत्रका विकार है।

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgac

C0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

दसवें अध्यायके २२वें श्लोकमें आया हुआ 'चेतना' पद भी इसी जीवनीशक्तिकी ओर लक्ष्य करता है।

धृतिः—धैर्य (धारण-शक्ति)।

किसी क्रिया, भाव या वृत्तिको दृढ़तापूर्वक धारण करनेकी शक्ति-विशेषका नाम 'धृति' है। अन्तःकरणका विकार होनेसे यह भी क्षेत्रका विकार है। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके सम्बन्धमें विवेक न होनेके कारण राजस और तामस वृत्तियाँ रहा करती हैं तथा स्वरूपका पारमार्थिक बोध होनेपर केवल सात्त्विक धृति रहती है। (क्योंकि जीवन्मुक्त महापुरुषमें सात्त्विक कर्तावाला स्वभाव रहता है।)

अठारहवें अध्यायके ३३वेंसे ३५वें श्लोकतक सात्त्विक, राजस और तामस—क्रमशः तीन प्रकारकी वृत्तियोंका वर्णन हुआ है।

एतत् क्षेत्रम् सविकारम् समासेन उदाहृतम्—

(इस प्रकार) यह क्षेत्र विकारोंके सहित संक्षेपमें कहा गया है।

जैसे क्षेत्र दृश्य है, वैसे ही क्षेत्रमें होनेवाले विकार भी दृश्य ही हैं, अपना स्वरूप नहीं। इस प्रकार विकारोंको अपनेसे पृथक् अनुभव करनेपर अविवेकपूर्वक होनेवाले विकार मिट जाते हैं।

तीसरे श्लोकमें 'क्षेत्रका स्वरूप' और 'जिन विकारोंवाला'के मध्यमें 'जिस स्वभाववाला' कहा गया है, उस क्षेत्रका स्वभाव **'जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्धतेऽपक्षीयते विनश्यति'**—(निरुक्त १।१।३) अर्थात् १. उत्पत्ति, २. स्थिति, ३. रूपान्तर होना, ४. वृद्धि, ५. घटना, ६. मर जाना—इन छः विकारोंसे युक्त कहा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gre

गया है । तृतीय श्लोकगत 'यादृक्' पदको यहाँ 'सविकारम्' पदके अन्तर्गत समझ लेना चाहिये ।

जैसे 'इदं शरीरम्' कहकर व्यष्टि (मनुष्य-शरीर) से पृथक् देखनेके लिये भगवान्‌का संकेत है (गीता १३ । १), वैसे ही 'दृश्य'[1] (प्रकृति और प्रकृतिका कार्यमात्र) से द्रष्टाको पृथक् दिखानेके लिये ही 'एतत्' पदका प्रयोग हुआ है । तात्पर्य यह है कि व्यष्टिकी समष्टि प्रकृतिके साथ एकता है और क्षेत्रज्ञकी परमात्माके साथ एकता है ।

विशेषार्थ—

५ वें श्लोकमें 'महाभूतान्यहंकारः' आदि पदोंसे समष्टि अन्तःकरण या अहंकारका वर्णन है । फिर छठे श्लोकमें इच्छा, द्वेष आदि पदोंसे व्यष्टिका वर्णन है । इच्छा, द्वेष, सुख, दुःखके स्थूल रूप वैर, ईर्ष्या, घृणा एवं क्रोध—ये व्यष्टि अन्तःकरणमें ही होनेवाले विकार हैं । इसलिये यहाँ समष्टिसे पृथक् रखकर इनका वर्णन किया गया है । इच्छा, द्वेष, सुख और दुःख—ये चार विकार चित्-जडकी ग्रन्थिके कारण अन्तःकरणमें अविवेकसे उत्पन्न होते

---

१. प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् । (योगसूत्र २ । १८)

'प्रकाश (सत्त्वगुण), क्रिया (रजोगुण) और स्थिति (तमोगुण) जिस (दृश्य) का स्वभाव है, पाँच भूत, पाँच तन्मात्रा, दस इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि एवं अहंकार—ये सब (तेईस तत्त्व) प्रकृतिका कार्य होनेसे जिस (दृश्य)के स्वरूप हैं, पुरुषके लिये भोग और मुक्तिका सम्पादन करना ही जिसका प्रयोजन है, उसे दृश्य कहते हैं ।'

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgac

C10. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

हैं। उस ग्रन्थिका भेदन होनेसे अर्थात् वास्तविक ज्ञान होनेपर 'इच्छा-द्वेषादि' रूप चारों विकार सर्वथा मिट जाते हैं एवं शरीरके साथ तादात्म्य न रहनेसे 'संघात, चेतना और धृति'-रूप तीनों विकारोंसे भी अपना सम्बन्ध नहीं रहता; क्योंकि चेतन सदैव निर्विकार है, उसमें कभी किसी प्रकारकी विकृति नहीं होती। विकृति केवल जड़ (क्षेत्र) अंशमें ही होती है। अतः अविवेकके कारण प्राणी पदार्थोंमें राग-द्वेषादि होनेसे प्राणी 'मेरेमें विकार हुए'—ऐसा मानता है, उस समय भी विकार-क्षेत्रमें ही हुआ मानना चाहिये; क्योंकि क्षेत्रज्ञके वास्तविक स्वरूपमें कोई विकार नहीं है।

यहाँ यह बात विशेष ध्यान देनेकी है कि 'क्षेत्रमें ही विकार होते हैं—स्वरूपमें नहीं, केवल इतना सीख लेने मात्रसे विकारोंका अभाव नहीं होता; अर्थात् दुःख, संताप, जलन आदि सर्वथा नहीं मिटते, जड़-चेतनकी भिन्नताका वास्तविक अनुभव होनेपर ही इनका सर्वथा अभाव होता है, **'परं दृष्ट्वा निवर्तते'** (गीता २। ५९) पदोंसे भी इसी बातका लक्ष्य है।

शरीरको 'मैं', 'मेरा' अथवा 'मेरे लिये' माननेसे ही मनुष्यके अन्तःकरणमें 'इच्छा-द्वेषादि' चारों विकार उत्पन्न होते हैं एवं उसकी प्रवृत्ति (क्रियाएँ) और निवृत्ति (क्रियाओंसे उपरति) के लिये होनेवाली चेष्टाएँ इच्छा और द्वेषपूर्वक होती हैं; किंतु जिन्हें बोध हो गया है, उन महापुरुषोंको; इन चारों विकारोंका सर्वथा अभाव होनेपर, नित्य-निर्विकार वास्तविक स्वरूपका अनुभव हो जाता है। इसीलिये उन्हें **'समदुःखसुखःस्वस्थः'** (गीता १४। २४) अर्थात्

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

वास्तविक स्वरूपमें स्थित कहा गया है। जबतक किसी भी शरीर (स्थूल, सूक्ष्म और कारण)के साथ मनुष्य अपना सम्बन्ध मानता है, तबतक उसे 'प्रकृतिस्थः' (गीता १३ । २१) अर्थात् प्रकृतिके गुणोंको भोगनेवाला विकारी कहा जाता है, 'स्वस्थः' नहीं ।

स्वरूपमें स्थित महापुरुषके शरीरद्वारा प्रवृत्ति और निवृत्तिके लिये चेष्टाएँ तो होती हैं (गीता १८ । १०) परंतु वह प्रवृत्ति-निवृत्ति राग-द्वेषपूर्वक नहीं होती (गीता १४ । २२)। उसकी प्रवृत्ति-निवृत्ति (शरीरके) प्रारब्धानुसार, भगवान्‌के प्रेरणानुसार और उसके सम्पर्कमें आनेवाले प्राणीके प्रारब्ध और भावके अनुसार होती हैं।

महापुरुषकी प्रवृत्ति-निवृत्ति—दोनोंमें ही राग-द्वेष नहीं रहते। उसके कहे जानेवाले शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धिके अनुकूल एवं प्रतिकूल प्राणी, पदार्थ, घटना अथवा परिस्थितिके संयोग-वियोग होनेपर उनके निमित्तसे होनेवाले सुख-दुःख अर्थात् हर्ष-शोक यत्किंचित् भी उसके अन्तःकरणमें नहीं होते। क्योंकि प्रवृत्ति एवं निवृत्ति दोनोंसे सम्बन्ध-विच्छेद होकर वास्तविक (सहज) निवृत्ति होनेके कारण नाशवान् पदार्थोंके माने हुए संयोग-वियोगका सर्वथा अभाव हो जाता है। हाँ, शरीर रहनेतक अनुकूलता-प्रतिकूलताका ज्ञान उसे (बोध-प्राप्त महापुरुषको) भी होता है (गीता २ । ५६), जब कि साधारण मनुष्यमें अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिका ज्ञान एवं उनके निमित्तसे होनेवाले हर्ष-शोकरूप विकार—दोनों होते हैं।

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

C10. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि प्रवृत्ति-निवृत्तिमें राग और द्वेष तथा अनुकूलता-प्रतिकूलताकी प्राप्तिमें उनके निमित्तसे होनेवाले हर्ष और शोक (सुख और दुःख)—ये ही वास्तवमें विकार हैं। अतः इन्हींका त्याग करना है। प्रवृत्ति-निवृत्ति तथा अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिका ज्ञानमात्र विचार नहीं है।* ऐसी प्रवृत्ति-निवृत्ति एवं अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिका ज्ञान जीवन्मुक्त महापुरुषमें भी रहता है।

जीवन्मुक्त महापुरुषका संघात अर्थात् शरीरसे यत्किंचित् भी 'मैं'-'मेरे'का सम्बन्ध न रहनेके कारण एवं एकमात्र परमात्मासे अभिन्नताका अनुभव होनेके कारण उनका कहा जानेवाला संघात (समग्र शरीर) यद्यपि महान् पवित्र हो जाता है, तथापि वास्तविक ज्ञान होनेपर (प्रारब्धानुसार आयुपर्यन्त) उनका यह संघात रहता ही है।

तत्त्वज्ञ महापुरुषकी अन्तःकरणसे तद्रूपता न रहनेके कारण 'चेतना' और 'धृति'-रूप विकारोंसे भी उसका सम्बन्ध नहीं रहता।

सम्बन्ध—

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके स्वरूपको केवल पढ़ने-सुननेसे ही देहाभिमान विलीन नहीं होता अर्थात् अपने शरीरसे पृथक्ताका अनुभव नहीं होता। परमात्माकी प्राप्तिके उद्देश्यसे ज्ञानके साधनोंको अपनानेसे—

---

* ज्ञान किसीका भी निर्दोष नहीं होता। उदाहरणार्थ, भोजन करते समय जीभमें स्वादका अनुभव होना दोष नहीं है, अपितु भोजनके पदार्थोंमें आकर्षण या विकर्षण (अच्छा लगना या बुरा लगना) ही दोष है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

उनके अनुसार जीवन बनानेसे ही देहाभिमान विलीन होता है। यही कारण है कि भगवान् देहाभिमान विलीन करनेके लिये आवश्यक बीस साधनोंका यहाँ 'ज्ञान'के नामसे पाँच श्लोकों (७ से ११ तक) में वर्णन करते हैं।

श्लोक—

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ ७ ॥

भावार्थ—

इस श्लोकमें देहाभिमान छुड़ानेके नौ साधन बताये गये हैं—(१) शरीरके आदर-सत्कार और कल्पित नामकी कीर्ति एवं प्रतिष्ठाकी चाहका अभाव; (२) मान, पूजा, आदर, प्रतिष्ठा, लाभ आदिके लिये किये जानेवाले कपटपूर्ण आचरणका अभाव; (३) शरीर, मन एवं वाणीसे किसी भी प्राणीको, किसी प्रकार, कभी भी किंचिन्मात्र दुःख न देना; (४) अपना अपराध करनेवालेको भी कहीं किंचिन्मात्र भी दण्ड न मिले—ऐसा हृदयका भाव; (५) शरीर, मन और वाणीकी सरलता; (६) आदर-भावसे गुरुकी आज्ञाका पालन और उनकी सेवा; (७) अपना कहलानेवाले शरीरकी बाह्य-शुद्धि; (८) साधनमें अखण्डरूपसे तत्परता और (९) मन-इन्द्रियोंके सहित शरीरको वशमें करना। इन साधनोंमें मुख्य बात जड़ताके सम्बन्ध-विच्छेदकी ही है।

अन्वय—

अमानित्वम्, अदम्भित्वम्, अहिंसा, क्षान्तिः, आर्जवम्, आचार्योपासनम्, शौचम्, स्थैर्यम्, आत्मविनिग्रहः ॥ ७ ॥

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgac

C0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

विशेषार्थ—

यदि किसी साधकमें इतना तीव्र विवेक जाग्रत् हो कि वह शरीरसे माने हुए सम्बन्धका त्याग कर सके तो उसमें यह साधन-समुदाय स्वतः स्फुरित हो जाता है; फिर उसे इस समुदायके साधनोंका पृथक्-पृथक् अनुष्ठान करनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती। विनाशी शरीरको अपने अविनाशी स्वरूपसे पृथक् देखना मूल साधना है। अतः सभी साधकोंको चाहिये कि शरीरको अपनेसे पृथक् अनुभव करें, जो वस्तुतः पृथक् ही है।

उपर्युक्त किसी भी साधनका आचरण करनेके लिये मुख्यतः दो बातोंकी आवश्यकता है—(१) साधकका उद्देश्य केवल नित्य-प्राप्त परमात्माकी प्राप्ति हो और (२) शास्त्रोंको पढ़ते-सुनते समय यदि विवेकद्वारा शरीरको अपनेसे पृथक् समझ लिया गया तो फिर अन्य समयमें भी उसी विवेकपर स्थिर रहे। इन दो बातोंके दृढ़ होनेसे साधन-समुदायके सभी साधन सुगम हो जाते हैं।

शास्त्रोंको पढ़ने, उनपर विचार करने एवं सत्सङ्गादिमें संत-महात्माओंके अनुभवोंको सुननेसे प्रत्येक व्यक्तिको ऐसा ज्ञात होता है कि शरीर और आत्मा तत्त्वतः पृथक्-पृथक् हैं। उनका सम्बन्ध वास्तविक न होकर केवल माना हुआ है, ऐसा निश्चय हो जानेपर ही वास्तविक साधना आरम्भ होती है। साधनमें विश्वास होनेसे साधककी परमार्थकी ओर विशेष प्रगति होती है; कारण, उसका यह उद्देश्य निश्चित हो जाता है कि मुझे नित्य-प्राप्त परमात्म-तत्त्वको ही प्राप्त करना है। साधककी बुद्धि जितने अंशमें इस उद्देश्यको धारण करती है, उतने ही अंशमें उसे विवेककी प्राप्ति एवं संसारसे

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

विरक्ति हो जाती है। भगवान् यहाँ विवेक और वैराग्यको पुष्ट करनेके लिये आवश्यक ज्ञानके साधनोंका वर्णन करते हैं। यदि इन साधनोंके अनुरूप जीवन बन जाय तो परमात्माकी प्राप्ति निश्चित है।

जब जीवनका उद्देश्य परमात्माकी प्राप्ति करना ही हो जाता है, तब दुर्गुणों एवं दुराचारोंकी जड़ कट जाती है। चाहे साधकको ऐसा अनुभव हो या न हो, किंतु वस्तुतः बात यही है। वृक्षकी जड़ कटनेपर भी बड़ी टहनीपर लगे हुए पत्ते कुछ दिनतक हरे दिखलायी देते हैं, किंतु यह निश्चित है कि उन पत्तोंके हरेपनकी भी जड़ कट चुकी है; इसलिये कुछ दिनोंके पश्चात् कटी हुई टहनीके पत्तोंका हरापन भी अवश्य मिट जाता है; ऐसे ही परमात्माकी प्राप्तिका उद्देश्य दृढ़ होते ही दुर्गुण-दुराचार मिट जाते हैं, यद्यपि साधकको ऐसा अनुभव नहीं होता, उसे अपनेमें अवगुण दीखते हैं; परंतु कुछ समय पश्चात् उनका सर्वथा अभाव हो जाना निश्चित है।

साधनाकी ऊँची अवस्थामें कभी-कभी साधकको अपने दुर्गुणों और दुराचारोंकी झलक प्रतीत हो सकती है, किंतु ऐसी दशामें भी उसे हताश नहीं होना चाहिये; क्योंकि वह आनेवाले दुर्गुणोंकी झलक नहीं है, अपितु साधनाभिमुख होनेसे पूर्व उसमें जो दुर्गुण रहे हैं, उनके संस्कारोंकी ही झलक है। यह नियम है कि दरवाजेसे आनेवाले और जानेवाले—दोनों ही दिखायी देते हैं। यदि साधना करते समय अपनेमें दुर्गुण बढ़ते हैं तो मानना पड़ेगा कि दुर्गुण आ

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

रहे हैं; किंतु उस समय यदि यह अनुभव होता है कि दुर्गुण कम हुए हैं तो वे अवश्य जा रहे हैं। अतः वह झलक जाते हुए दुर्गुणोंकी ही समझनी चाहिये। ऐसी अवस्थामें साधकको चाहिये कि वह कभी निराश न होकर और अपने उद्देश्यपर धैर्यपूर्वक दृढ़तासे डटे रहकर साधनोंमें ही तत्पर रहे। इस प्रकार साधनामें लगे रहनेसे दुर्गुणों और दुराचारोंका सर्वथा अभाव हो जाता है।

पद-व्याख्या—

अमानित्वम्—अपनेमें श्रेष्ठताके अभिमानका अभाव। अपनेको श्रेष्ठ, पूज्य या बहुत बड़ा समझना, अपनेको शरीर मानकर मान, सत्कार और पूजा आदिकी इच्छा करना एवं अपने नामकी प्रशंसा, कीर्ति आदिको चाहना अथवा बिना ही इच्छा किये मान-बड़ाई आदिके प्राप्त होनेपर प्रसन्न होना 'मानित्व' है। इस मानित्वका न होना ही 'अमानित्व' है।

जबतक अपनेमें यत्किंचित् भी मानित्वका भाव बना हुआ है, अर्थात् 'मैं श्रेष्ठ हूँ' (अन्य लोग भी मुझे श्रेष्ठ मानें—यह न्याय है)—ऐसा भाव है, तबतक शरीर और नामके साथ एकता मानी हुई ही समझनी चाहिये। यही निर्गुणके ज्ञानमें प्रधान बाधा है। अपने माने हुए शरीर और नामसे पृथक्ताका अनुभव करनेके लिये जैसे इस अध्यायके पहले श्लोकमें **'इदं शरीरम् क्षेत्रम्'** पद कहे गये हैं, वैसे ही यहाँ ज्ञानके साधनोंमें सर्वप्रथम **'अमानित्वम्'** का भाव दृढ़तासे धारण करनेके लिये कहा गया है। तात्पर्य यह है कि मानीपनका अभाव (निरभिमानिता) होनेसे शरीर और नाममें

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

आरोपित एकता मिट सकती है। तत्पश्चात् ज्ञानके अन्यान्य साधन स्वतः सिद्ध होने लगते हैं।

गीताके सोलहवें अध्यायके आरम्भमें 'दैवी-सम्पदा'के छब्बीस लक्षणोंका वर्णन करते हुए भगवान्‌ने 'नातिमानिता' का लक्षण सबसे अन्तमें दिया है, किंतु यहाँ ज्ञानके साधनोंके वर्णनमें 'अमानित्वम्' को सर्वप्रथम स्थान दिया है। इसमें ऐसा कारण प्रतीत होता है कि भक्तिमार्गमें तो भगवान्‌के आश्रित रहकर साधना प्रारम्भ हो जाती है; किंतु ज्ञानमार्गमें देहाभिमानके शिथिल हुए बिना वास्तविक साधना प्रारम्भ नहीं होती। अतएव इस प्रसङ्गमें 'अमानित्वम्' पद सर्वप्रथम आया है। वैसे तो भक्तिमार्गमें भी मान-प्रतिष्ठा आदिको न चाहनेका भाव होना ही चाहिये, पर वह भगवान्‌पर निर्भर रहनेसे एवं भगवत्कृपासे भक्तमें स्वतः ही आ जाता है; इसलिये उसका वर्णन वहाँ अन्तमें किया गया है। वैसे भी भक्त स्वभावतः विनम्र होता है।

अमानी होनेका उपाय—अपनेमें 'अमानित्व'का भाव लानेका उद्देश्य रखकर जब दूसरोंको मान-बड़ाई दी जाती है, तब यह भाव स्वतः आने लगता है और 'मानित्व'का भाव क्षीण होता जाता है।

इस संसारकी रचना ऐसे विचित्र ढंगसे हुई है कि इसमें किन्हीं भी दो प्राणियोंकी स्थिति एक-सी नहीं है अर्थात् प्राणिमात्रकी भिन्न-भिन्न स्थिति है। ये विभिन्न स्थितियाँ एक-दूसरेकी कमीको पूरी करनेके लिये ही रची गयी हैं। जैसे किसी प्राणीमें किसी पदार्थ अथवा गुणकी प्रधानता है तो अन्यमें उसकी न्यूनता भी है; अतः अधिकतावालेको उचित है कि वह अपनी वस्तु न्यूनतावालेको दे।

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

C10. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

जैसे व्याख्यान देते समय व्याख्यानदाताके कहनेमें कोई कमी रह गयी; यदि श्रोता उसे जानता है तो उसे चाहिये कि व्याख्यानदाताको उसकी जानकारी करा दे। इसी प्रकार अपनेमें विद्या, बुद्धि और योग्यता—जो भी अधिक है, उसे दूसरोंकी कमी पूरी करनेके लिये ही भगवान्‌ने हमको दी है, न कि उसे अपनी मानकर अधिकताका अभिमान करनेके लिये। वस्तुतः सृष्टि (संसार) से मिली हुई वस्तु सृष्टिकी ही है, एवं सृष्टिके लिये ही है। गोस्वामी तुलसीदासजी संतोंके लक्षणोंका वर्णन करते हुए लिखते हैं कि 'सबहि मानप्रद आपु अमानी'। संत सभीको मान देनेवाले और स्वयं अमानी अर्थात् मान पानेकी इच्छासे रहित होते हैं। इसी प्रकार साधकको भी मानित्व-भाव दूर करनेके लिये सदैव दूसरोंको मान, आदर, सत्कार, बड़ाई आदि देनेका स्वभाव बनाना चाहिये। ऐसे स्वभावका होना तभी सम्भव है, जब वह दूसरोंको किसी-न-किसी दृष्टिसे अपनेसे श्रेष्ठ माने। यह नियम है कि संसारका प्रत्येक प्राणी भिन्न-भिन्न स्थितिवाला होते हुए भी कोई-न-कोई विशेषता रखता ही है। यह विशेषता वर्ण, आश्रम, गुण, विद्या, बुद्धि, योग्यता, पद, अधिकार आदि किसी भी हेतुसे हो सकती है। अतः साधकको चाहिये कि वह दूसरोंमें विद्यमान विशेषताकी ओर दृष्टि करके उनका सदैव सम्मान करे। इस प्रकार दूसरोंको मान देनेका भीतरसे स्वभाव बन जानेपर स्वयं मान पानेकी इच्छाका स्वतः ही अभाव होता चला जाता है। इसलिये दूसरोंका सम्मान करनेमें ऐसी भावना रखनी चाहिये कि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

अपनेमें अमानिताकी वृद्धि हो, न कि बदलेमें दूसरे हमें मान दें। अमानित्वका भाव दृढ़ हो जानेपर शरीर और नामकी एकरूपता मिट सकती है।

अदम्भित्वम्—अपनेमें दम्भीपन (दिखावटीपन)का न होना। अपनेमें मिथ्या गुणोंका प्रदर्शन करना 'दम्भ' है। इसी प्रकार अच्छे-बुरे समुदायमें जहाँ जैसा बननेसे लोग अच्छा मानें वहाँ अपने अन्तःकरणका भाव वैसा न होनेपर भी बाह्यरूपसे तदनुरूप होनेका प्रदर्शन भी 'दम्भ' है। अपनेमें अल्पमात्रामें रहनेवाले अच्छे भावोंको बढ़ा-चढ़ाकर दिखाना अथवा वर्तमानमें जो गुण हैं, उन्हें भी वैसा ही प्रकट करना अथवा अन्य किसी भी प्रकारके गुणका, जो अपनेमें नहीं है, प्रदर्शन करना भी 'दम्भ' ही है। मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा, स्वार्थ और पूजाके लिये, धनादिके लोभसे या किसीको ठगने आदिके अभिप्रायसे अथवा भयसे बचनेके लिये जो बनावटी क्रिया की जाती है, वह भी 'दम्भ' ही है। ऐसे दम्भका अभाव ही 'अदम्भित्व' है।

दम्भ इतना भयानक, सूक्ष्म और मूल दोष है कि इसके होनेसे अन्य दुर्गुण भी मनुष्यमें आने लगते हैं। यही कारण है कि सोलहवें अध्यायके चौथे श्लोकमें आसुरी सम्पदाका वर्णन करते समय भगवान्‌ने 'दम्भ'की गणना सर्वप्रथम की है। साधनकी उच्चतम स्थितिमें पहुँचनेपर भी यह दोष किसी-न-किसी अंशमें रह सकता है। अतः साधनावस्थामें साधकको नितान्त सावधान रहनेकी आवश्यकता है। 'रामचरितमानस'में श्रीगोस्वामीजीने भी भक्तिकी

CC-0. Jangamwadi Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

साधनमें भजनकी बात कहते हुए सावधान किया है—'चौथि भगति मम गुन गन करहिं कपट तजि गान।' (३ । ३५) भाव यह है कि भजनमें प्रायः दम्भ आ ही जाता है; अतः साधकको विशेष सावधान रहना चाहिये।

अच्छे-बुरे—दोनों प्रकारके आचरणोंमें दम्भ होता है। जैसे नास्तिक विचारवाले सज्जन किसी कारणवश कुछ समयके लिये आस्तिक विचारवालोंके समुदायमें आनेपर मान, कीर्ति और प्रतिष्ठा आदिकी प्राप्तिकी इच्छासे अपनेको धर्मात्मा, सेवाव्रती, दानशील, भगवद्भक्त, ज्ञानी या महात्मा आदि-आदि (आस्तिकभाव) प्रदर्शित करने लगते हैं तो वह भी दम्भ ही है। वैसे ही आस्तिक विचारवाले सज्जन भी नास्तिक विचारवालोंके समुदायमें जानेपर हृदयसे उस पक्षको स्वीकार न करते हुए भी उस समुदायके अनुरूप ही आचरण करने लगते हैं। जैसे आजकल विवाह आदिके अवसरोंपर क्लबों-होटलोंके स्वागत-समारोहोंमें अथवा वायुयानद्वारा यात्रा करते हुए आस्तिक विचारवाले भी कुछ सज्जन मान-सत्कारादिके लिये अपवित्र खाद्य और पेय स्वीकार करते देखे जाते हैं, यह भी दम्भ ही है।

दम्भका एक सूक्ष्म रूप और भी है—जैसे कमरा बंद करके कोई साधक भगवच्चिन्तन, जप, ध्यान, विचार आदि कर रहा हो और उस समय मानो उसे नींद-सी आ रही हो तो वह कमरेके बाहर अपरिचित सज्जनोंकी बातचीत सुनकर नींदसे सजग नहीं होता, किंतु अपने प्रति पूज्यभाव रखनेवाले किसी श्रद्धालुकी वाणी सुनकर नींदसे सजग हो फिर भजन-स्मरण आदि सावधानीपूर्वक करने लगता है, यह भी दम्भका ही सूक्ष्म स्वरूप है।

CC-0. RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

दम्भसे बचनेके उपाय—(१) जड़-चेतनका विवेक दृढ़ होनेपर सम्पूर्ण दोष स्वतः समाप्त हो जाते हैं । (२) जब शरीर और नाममें आसक्ति रहनेसे व्यक्तित्व (अहं-भाव) दृढ़ होता है, तब साधक मान-प्रतिष्ठा-कीर्ति आदिके लिये दम्भ करने लगता है । अतः दम्भरहित होनेके लिये मान-प्रतिष्ठा, कीर्ति-आदिकी चाहको परमात्माकी प्राप्तिमें महान् बाधक समझकर हृदयसे ही त्याग देना चाहिये ।

(३) यदि हम किसी भी दोषको मिटाना अथवा किसी भी गुणको ग्रहण करना चाहें तो उसका सबसे प्रमुख उपाय यह है कि अपना एक ही उद्देश्य हो—तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति करना । ऐसा एक उद्देश्य तभी होता है, जब साधक सांसारिक (नये और पुराने) संग्रहमें भोग-बुद्धि, सुख-बुद्धि और रस-बुद्धि नहीं करता तथा निषिद्ध आचरण—पाप, अन्याय, झूठ, कपट आदिका हृदयसे त्याग कर देता है । अतः साधकको उपर्युक्त एक ही उद्देश्यके रखनेपर विशेष ध्यान देना चाहिये । उस उद्देश्यके दृढ़ हो जानेपर साधकका सारा जीवन ही साधनामय हो जाता है; क्योंकि उस उद्देश्यके विरुद्ध आचरण न करनेका तो उसका दृढ़ विचार हो ही गया है, इसलिये जो कुछ वह करता है, वह साधन ही माना जायगा ।

अतः अदम्भित्वकी प्राप्तिके लिये साधकको चाहिये कि वह अपना एक ही उद्देश्य—तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति करना बनाये अथवा मानव-शरीर जिस कार्यके लिये मिला है, जो उद्देश्य इसके लिये पहलेसे ही निश्चित है, उसको पहचान ले—

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

CC0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

देह धरे कर यह फल भाई। भजिअ राम सब काम बिहाई॥

(४) पारमार्थिक मार्गका यह नियम है कि दोषको पूर्ण-रूपसे दोष समझ लेनेपर वह स्वतः ही मिट जाता है। कारण कि अपनेमें दोष (बुराई) किसीको भी सुहाता नहीं। परंतु दोषको दोष समझते हुए भी उसी दोषयुक्त क्रियाजन्य सुख-भोगकी आसक्तिके कारण वह दोषरूपमें ग्रहण नहीं होता और उसका त्याग नहीं हो पाता। जैसे साधक अपनी समझसे दम्भको दोष समझता है, किंतु उसी दम्भयुक्त क्रियासे वह जबतक सुख भोगता रहेगा, तबतक 'दम्भ' दोषका छूटना कठिन होगा। जैसे कोई व्यक्ति परायी स्त्रीको कुदृष्टिसे देखना दोष मानता है; किंतु यह जानते हुए भी यदि वह उसकी ओर (सुखासक्तिके कारण) देखना रहता है तो उसने दोषको स्पष्टरूपसे दोष कहाँ माना ? इसीलिये उसका वह दोष सर्वथा नहीं मिटता।

साधकको चाहिये कि वह दोषोंको कभी अपनेमें स्वीकार न करे। जैसे, क्रोध अधिक आता हो तो उसे दूर करनेके लिये उसे चाहिये कि 'मैं क्रोधी हूँ', 'मुझमें क्रोध है'—ऐसा भाव कभी न करे। क्रोध निरन्तर नहीं रहता, अपितु आता और जाता है। वह आगन्तुक दोष है। अतः आने-जानेवाले दोषोंको कभी अपने 'अहं' में आरोपित न करे। 'अहं'में आरोपित करना ही उन्हें निमन्त्रण देकर बुलाना है।

दम्भरूप दोषको मिटानेका सुगम उपाय यह है कि अपनेमें जब, जहाँ दम्भीपनका भाव प्रतीत हो, तुरंत उसे स्पष्टतासे दोषरूपमें

CC-0. RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

देखनेका प्रयत्न करे । निरन्तर ऐसी सावधानी रखनेसे दम्भका सर्वथा अभाव हो जाता है ।

दम्भका सर्वथा अभाव हो जानेसे सूक्ष्म व्यक्तित्व (अहं-भाव) भी छूट सकता है ।

अहिंसा—मन, वाणी और शरीरसे कहीं, कभी, किसीको किञ्चिन्मात्र भी दुःख न देना ।

काम, क्रोध, लोभ, मोह, स्वार्थ आदिसे प्रेरित होनेपर हिंसा होती है । हिंसा-भावके सर्वथा अभावका नाम 'अहिंसा' है ।

हिंसाके भेद—कर्ता-भेदसे हिंसा तीन प्रकारकी होती है—(१) कृत, (२) कारित और (३) अनुमोदित । पुनः प्रत्येक कर्ताके भाव-भेद हैं—क्रोध, लोभ और मोह । ऐसे तीन प्रकारके कर्ता-भेद और तीन प्रकारके भाव-भेद (कर्ता ३×भाव ३=९) होनेके कारण हिंसा नौ प्रकारकी होती है । पुनः प्रत्येक कर्ताके तीन करण-भेद—कायिक, वाचिक, मानसिक होनेके कारण (कर्ता ३×भाव ३×करण ३=२७) यह सत्ताईस प्रकारकी होती है । पुनः तीन मात्रा-भेद-मृदु, मध्य, तीव्र होनेके कारण (कर्ता ३ × भाव ३ × करण ३ × मात्रा ३=८१) हिंसा इक्यासी प्रकारकी होती है* ।

जैसे किसीने यह नियम बना लिया कि मैं अमुक पशुकी

---

* वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् । तथा वितर्का हिंसादयः कृत-कारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् । (पातञ्जलयोगदर्शन २ । ३३-३४)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri
Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

C0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

हिंसा नहीं करूँगा तो यह 'जाति-विशिष्ट अहिंसा' है। इसी तरह कोई व्रत ले ले कि मैं वृन्दावनमें हिंसा नहीं करूँगा तो यह 'देश-विशिष्ट अहिंसा' है। ऐसे ही यदि यह व्रत किया जाय कि मैं एकादशी तथा अमावस्याको हिंसा नहीं करूँगा तो यह 'काल-विशिष्ट अहिंसा' है। कोई व्रत ले ले कि जिस दिन गुरुजी मिलेंगे मैं उस दिन हिंसा नहीं करूँगा तो यह 'समय-विशिष्ट अहिंसा' है। ये सभी सीमित अहिंसाके प्रकार हैं। इस प्रकार हिंसा तीन सौ चौबीस (८१×४=३२४) प्रकारकी होती है। जब जाति, देश, काल एवं समयका प्रतिबन्ध न लगाकर किसी प्राणीकी कभी भी, किसी भी अवस्थामें, किसी भी प्रकारसे, किसीके लिये एवं किञ्चिन्मात्र भी हिंसा न की जाय और सदा-सर्वदा इसका पालन किया जाय, किसी भी निमित्तसे इसमें शिथिलता न आने पाये, तभी यह 'सार्वभौम अहिंसा' कहलाती है। यहाँ 'अहिंसा' पदसे 'सार्वभौम अहिंसा'का ही तात्पर्य है।

अहिंसा-व्रतके पालनके उपाय—(१) हिंसा न करनेका दृढ़ व्रत लेना ही अहिंसा-व्रती बननेका मुख्य उपाय है। (२) हम (अपनेसे) बड़ोंसे लाभ लेना चाहते हैं और लेते हैं, किंतु विचारपूर्वक देखें तो हम अपनेसे छोटोंसे अधिक लाभ ले सकते हैं। बड़ोंसे लेनेका भाव तथा छोटोंको देनेका भाव होता है। देनेके भावमें लेनेके भावकी अपेक्षा कई गुणा अधिक पुण्य (लाभ) होता है। उदाहरणार्थ—स्वयं पढ़नेकी अपेक्षा पढ़ानेसे अधिक लाभ होता है—विषय अधिक स्पष्ट होता है। अतः मनुष्यको

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding by MoE-Cra

चाहिये कि वह अपनेसे छोटोंके प्रति प्रेमका व्यवहार करे। इसी प्रकार जिनसे हम निर्बल हैं, उनसे हम रक्षा, प्रेम और आश्रय आदि चाहते हैं, उसी प्रकार हमें अपनेसे निर्बलोंको अभय, प्रेम और आश्रय देना चाहिये। जैसे हम अपनेसे सबलसे अपना अनिष्ट नहीं चाहते, वैसे ही हमसे निर्बल भी हमसे अपना अनिष्ट नहीं चाहते। अतः निर्बलोंको मारने अथवा सतानेका हमें कोई अधिकार नहीं है। इस प्रकार अपनी समझका आदर करनेसे हम अहिंसाव्रती हो सकते हैं।

निर्गुण ब्रह्मकी उपासनामें देहाभिमान ही प्रधान बाधा है। इसे दूर करनेके लिये आवश्यक ज्ञानके बीस साधनोंका कथन करते हुए इस श्लोकके प्रथम चरणमें भगवान्‌ने अमानित्व, अदम्भित्व और अहिंसा—इन तीन निषेधात्मक साधनोंका वर्णन किया है। साधनाकी दृष्टिसे विचार करनेपर ज्ञात होता है कि साधकके लिये निषेधात्मक साधन करना सुगम है। कारण कि जीवका मुख्य बन्धन जड़ता (शरीरादि)से अपना सम्बन्ध मानना ही है और यह माना हुआ सम्बन्ध मान न चाहनेसे, दम्भ और अहिंसा न करनेसे शीघ्र एवं सुगमतापूर्वक मिट सकता है। परंतु विध्यात्मक साधनमें जड़ताके साथ सम्बन्ध रहनेसे और विहित क्रिया करनेका अभिमान रहनेसे जबतक इन दोषोंका त्याग नहीं होता, तबतक सिद्धिमें देरी लगती है।

अब इस श्लोकके अगले चरणमें भगवान् क्षान्ति, आर्जव आदि छः विध्यात्मक साधनोंका वर्णन करते हैं।

*

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

C0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

क्षान्तिः—क्षमाका भाव ।

केवल क्रोधके अभावका नाम ही क्षमा नहीं है, अपितु अपराध करनेवालेको अपनेमें सामर्थ्य होते हुए भी कभी किसी प्रकार किञ्चिन्मात्र दण्ड न मिले—ऐसा भाव रखना तथा उससे बदला लेने अथवा किसी अन्यके द्वारा दण्ड दिलवानेकी भावनाका न होना, अर्थात् अपराधीको अपराधके बदले कहीं कभी किंचिन्मात्र भी अपने द्वारा या अपने निमित्तसे किसी अन्य (व्यक्ति अथवा भगवान्) द्वारा भी दण्ड न मिले—ऐसा विचार ही 'क्षमा-भाव' है ।

उपाय—किसीके अपराधको वस्तुतः अपराध न मानना ही क्षमा करनेका उपाय है ।

किसी प्रतिकूल स्थिति, हानि या दण्डकी प्राप्तिपर साधकका यह दृढ़ निश्चय होना चाहिये कि पूर्वजन्मके किसी पाप-कर्मके कारण ही ऐसा हुआ है; इस स्थितिकी प्राप्तिमें हेतु बननेवाला व्यक्ति तो निमित्तमात्र है । उसने तो मेरे पापोंका नाश कर मुझे शुद्ध ही बनाया है, अतः मेरा महान् उपकार किया है । उसके मनमें यदि मेरे प्रति किये गये अपराधके कारण संकोच भरा हो तो मेरा कर्तव्य है कि मैं पहले उसे दूर करूँ । इस प्रकारके विचारसे स्वतः ही क्षमा-भाव पैदा हो सकता है ।

निर्गुण-तत्त्वके ज्ञानमें साधक सर्वत्र एक आत्मसत्ताको ही परिपूर्ण देखता है; अतः वह अपराध करनेवालेको भी अपने स्वरूपसे भिन्न नहीं मानता । यथा—

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding by MoE-Gra

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥
(गीता १८ । २०)

'अर्जुन ! जिस ज्ञानसे मनुष्य पृथक्-पृथक् सब भूतोंमें एक अविनाशी परमात्मभावको विभागरहित समभावसे स्थित देखता है, उस ज्ञानको तू सात्त्विक जान ।'

यह नियम है कि अपनेसे भिन्नपर ही क्रोध आता है; अतः किसीको भी अपनेसे भिन्न न देखनेवाले निर्गुण-जिज्ञासुका भाव स्वतः क्षमाका ही रहता है । जैसे अपने दाँतोंसे अपनी ही जीभ कट जानेपर कोई भी मनुष्य दाँतोंको नहीं तोड़ता, अर्थात् उन्हें दण्ड नहीं देता; क्योंकि वह दोनोंको अपना मानता है तथा दोनोंमें अपने-आपको (स्वरूपतः) अभिन्न देखता इसलिये दाँतोंको तोड़नेकी बात तो उन्हें तोड़नेकी भाव । उसके मनमें नहीं आ सकती; इसी प्रकार सर्वत्र अपने स्वरूपको ही परिपूर्ण देखनेवाले साधकके मनमें अपने अपराधीको दण्ड देनेका भाव उदय ही कैसे होगा ?

दृश्यमात्र क्षणभङ्गुर, परिवर्तनशील एवं नाशवान् है । अतः किसी दूसरेके द्वारा अपने शरीरादि (जो वस्तुतः अपने नहीं हैं) को कष्ट दिया जाना, निन्दा-चुगलीका होना, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष-रूपसे क्षति पहुँचना आदि हिंसात्मक कार्य होनेपर भी साधकका यह भाव रहता है कि वह व्यक्ति तो वही कार्य कर रहा है, जो प्रकृतिके द्वारा प्रतिक्षण सम्पादित हो रहा है । वह तो नश्वर वस्तुका ही विनाश कर रहा है । अविनाशीका विनाश तो कोई कर ही

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgac

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

नहीं सकता। ऐसे विचारके उदय होनेमात्रसे साधकमें किसीको दण्ड देने या दिलवानेका भाव उत्पन्न ही नहीं हो सकता। क्षमा करनेसे पृथक्ताका भाव मिटता है और पृथक्ताके विनाशसे स्वत 'क्षमा' आ जाती है।

आर्जवम्—शरीर, मन और वाणीकी सरलता।

(क) शरीरकी सरलता—शरीरके विशेष शृङ्गार (सजावट)-का भाव न होना, रहन-सहनमें सादगी तथा चाल-ढालमें स्वाभाविक सीधापन होना—ऐंठ-अकड़न होना।

(ख) मनकी सरलता—छल, कपट, चालाकी, क्रूरता, ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, घमण्ड, अनिष्ट-चिन्तन आदि भावोंका सर्वथा अभाव तथा निष्कपटता, दया, सौम्यत्व, प्रेम, हितैषिता, संतों आदिका होना।

(ग) वाणीकी सरलता—व्यङ्ग्य, कटाक्ष, निन्दा-चुगली आदि न करना, चुभनेवाले, उलाहनाभरे अथवा धिक्कारपूर्ण वचन न कहना तथा मधुर, हितकर एवं सबके लिये सुखद वचन बोलना।

उपाय—(१) मुझमें दैवी गुणोंका उत्तरोत्तर विकास हो—ऐसा दृढ़ उद्देश्य बनाना।

(२) मेरे द्वारा सबको सुख कैसे पहुँचे—यह भाव प्रतिक्षण जाग्रत् रखना।

(३) व्यवहारमें नम्रता एवं सेवा-भाव रखना।

(४) अपनेसे बड़ोंका सदैव आदर-सत्कार करना।

(५) दैनिक सत्सङ्ग और सत्-शास्त्रोंका अध्ययन।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

(६) किसी भी प्राणीको किसी भी प्रकारसे किञ्चिन्मात्र भी (शरीर, मन, वाणी, विचार, आचरण आदिसे) कष्ट न पहुँचाना।

(७) कुटिलता न रखना।

यदि हम किसी व्यक्तिके प्रति कुटिलभाव रखें तो उसका अनिष्ट अथवा अपना स्वार्थ-साधन होना तो अनिश्चित है, किंतु उन दुष्ट संस्कारोंका अपने अन्तःकरणमें संचय होना निश्चित है, जो महान् हानिकर है।

आचार्योपासनम्—पूज्यभावसे आचार्य (गुरु)को नमस्कार करना, उनकी विनयपूर्वक कपटरहित सेवा एवं आज्ञा-पालन।

विद्या और सदुपदेश देनेवाले गुरुका नाम भी आचार्य है एवं उनकी सेवासे भी लाभ होता है; किंतु यहाँ यह पद अपरोक्षभावसे परमात्माका अनुभव किये हुए महापुरुषका ही वाचक है। आचार्यको दण्डवत्-प्रणाम करना, उनका आदर-सत्कार करना और उनके शरीरादिको सुख पहुँचानेकी शास्त्र-विहित चेष्टा करना भी उनकी उपासना है, किंतु वस्तुतः उनकी सच्ची उपासना तो उनके बताये हुए सिद्धान्त, भाव और संकेतको ग्रहणकर उनके आज्ञानुसार अपने जीवनको बनाना है; क्योंकि देहाभिमानीकी सेवा तो उसके देहकी सेवा करनेसे ही सम्पन्न हो जाती है; किंतु गुणातीत महापुरुषके केवल देहकी सेवा करना उनके स्वरूपके अनुरूप पूर्ण सेवाकी कोटिमें नहीं है।

यह अनुभव-सिद्ध बात है कि जब प्रत्येक लौकिक कार्यमें भी गुरुकी आवश्यकता होती है, तब अध्यात्ममार्गमें तो उनकी

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgac

C0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

आवश्यकता अनिवार्य है ही। भक्तिमार्गमें भी गुरुकी आवश्यकता तो है ही; परंतु यदि गुरु न मिलें तो भी केवल भगवत्परायण रहकर साधक भगवत्प्राप्ति कर सकता है; क्योंकि जगद्गुरु भगवान् उसके योग-क्षेमका दायित्व अपने ऊपर ले लेते हैं (गीता ९ । २२)।

भगवान्‌ने 'दैवी सम्पदा' (गीता १६ । १–३) अर्थात् भक्तिमार्गकी साधनामें 'आचार्योपासनम्' पद न देकर यहाँ ज्ञान-मार्गके साधनोंमें उसे दिया है। इसमें एक विशेष रहस्य यह प्रतीत होता है कि भक्तिमार्गमें साधक भगवान्‌को सर्वोपरि मानकर उनपर ही निर्भर रहकर साधना करता है और विश्वास रखता है कि मुझसे यदि कहीं भूल होगी तो भगवान्‌के संकेतानुसार मुझे चेत भी हो जायगा। ऐसा लोक-व्यवहारमें भी देखनेमें आता है कि यदि कहीं भूल या कोई शङ्का हुई तो किसी धार्मिक ग्रन्थके पढ़नेसे या किसीकी वाणीसे अथवा सत्सङ्गसे कोई ऐसा सूत्र अथवा विचार मिल जाता है, अथवा अन्तःकरणमें स्वतः उदय हो जाता है, जिससे साधक सावधान हो जाता है। उसे परमात्माकी अनायास कृपा ही समझनी चाहिये; भक्तिमार्गकी यह एक विशेषता है। किंतु ज्ञान-मार्गमें साधकके अपने विवेककी प्रधानतासे साधन चलता है। इसलिये उसमें कुछ सूक्ष्म अपूर्णताएँ रह सकती हैं, उदाहरणार्थ—

(१) शास्त्रों एवं संतोंके द्वारा ज्ञान प्राप्त करके जब साधक शरीरको (अपनी धारणासे) अपनेसे पृथक् मानता है, तब उसे शान्ति मिलती है। ऐसी दशामें वह यह मान लेता है कि मुझे बोध हो गया। किंतु जहाँ मान-अपमानकी स्थिति आयी अथवा अपनी इच्छाके

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection: Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

अनुकूल या प्रतिकूल घटना घटी, वहाँ अन्तःकरणमें हर्ष-शोक उत्पन्न हो जाते हैं।

(२) किसी व्यक्तिके द्वारा उच्चरित अपने नामकी ध्वनि अचानक सुनायी पड़नेपर यदि अन्तःकरणमें व्यक्तित्व अर्थात् इस नामवाला शरीर 'मैं हूँ', ऐसा भाव उत्पन्न होता हो तो यह समझना चाहिये कि साधककी शरीरमें ही स्थिति है।

(३) साधनाकी ऊँची स्थिति प्राप्त होनेपर जाग्रत्-अवस्थामें तो साधकको जड-चेतनका विवेक भलीभाँति बना रहता है, किंतु निद्रावस्थामें उसकी विस्मृति हो जाती है, क्योंकि निद्रावस्थामें साधारण मनुष्य, साधक और सिद्ध—सबकी सामान्यतः एक ही स्थिति रहती है। जगनेपर साधक तो उस विवेकको पकड़ता है; परंतु सिद्ध पुरुषका स्वाभाविकरूपसे यही विवेक रहता है अर्थात् सिद्ध महात्माकी सहजावस्था होती है। साधकमें स्वरूपकी विस्मृति और स्मृति होती रहती है।

(४) पूज्यजनोंसे भी मान-सम्मान आदि प्राप्त करनेकी इच्छा हो जाती है। जैसे—जब हम संतों या गुरुजनोंकी सेवा-शुश्रूषा आदि करते हैं अथवा सत्सङ्गादिमें प्रधानतासे भाग लेते हैं तो हमारे मनमें ऐसा भाव उत्पन्न होता है कि वे अन्योंकी अपेक्षा हमें श्रेष्ठ मानें।

(५) सत्सङ्ग आदिमें वक्ताके द्वारा समझदार साधकको आगे बैठनेका संकेत मिलनेपर यदि उसके मनमें 'मैं अन्योंकी अपेक्षा

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgac

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

श्रेष्ठ हूँ'—ऐसा भाव उदित होता है तो यह भी उसकी सूक्ष्म कमी ही है।

साधकको वास्तविक बोध हो जानेपर उसकी अखण्ड एकरस स्थिति रहती है, किंतु उसमें सूक्ष्म अपूर्णताओंके रहनेकी गुंजाइश है और इस बातकी भी अधिक सम्भावना है कि वह अपनी अधूरी जानकारीको भी पूर्ण मान ले। अतः ज्ञानमार्गमें भगवान् आचार्योपासनाको बतलाकर मानो यह कह रहे हैं कि ज्ञानमार्गके साधकको उचित यही है कि वह आचार्यके पास रहकर उनकी देख-रेखमें ही साधन करे। अपनी स्थितिको उनके सामने रखता रहे और वे जो सुझाव दें, उसके अनुसार अपने संदेहोंको दूर करता रहे एवं उनके बताये हुए सिद्धान्तोंपर आदर-श्रद्धापूर्वक अटल रहनेका स्वभाव बनाये। इस प्रकार साधना करनेपर वे अनुभवी ज्ञानी आचार्य उसकी उन सूक्ष्म अपूर्णताओंका, जिन्हें वह स्वयं भी नहीं जानता, निराकरण कर सुगमता एवं निर्विघ्नतापूर्वक उसे परमात्माकी प्राप्ति करा सकते हैं।

विशेष बात—गुरुकी आवश्यकताका अनुभव होते ही यह प्रश्न उठता है कि गुरु किसे बनायें ? इस सम्बन्धमें निम्नलिखित चार बातें ध्यानमें रखनी चाहिये—

१—अपनी दृष्टिमें जो आध्यात्मिक विषयके सर्वोत्कृष्ट ज्ञाता हों।

२—जो हमसे कोई अपेक्षा, अर्थात् किसी भी वस्तुकी किञ्चिन्मात्र भी आशा न रखते हों।

३—जिनके दर्शन, भाषण, सङ्ग, स्मृति आदिसे हमारे दुर्गुण-दुराचार दूर होते हों तथा सद्गुण-सदाचाररूप दैवी-सम्पदाके

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

लक्षण विकसित होते हों एवं शास्त्र, परलोक और परमात्मामें स्वतः श्रद्धा-विश्वास बढ़ते हों।

४—जिनसे प्रश्न पूछनेपर अथवा बिना पूछे भी वार्तालापद्वारा हमारी ऐसी शङ्काओंका (जिन्हें हम अपने शब्दोंद्वारा प्रकट नहीं कर सकते एवं जिनकी हमें जानकारी भी नहीं है) समाधान उनके प्रवचनोंसे स्वतः हो जाता हो।

जिनमें हमें उपर्युक्त लक्षण दीखें ऐसे सिद्ध पुरुषको हृदयसे गुरु मानकर उनमें श्रद्धा रखनेमें कोई आपत्ति नहीं। किंतु वहाँ भी गुरु-शिष्यका व्यावहारिक सम्बन्ध, यदि वे महापुरुष न चाहते हों तो जोड़नेकी आवश्यकता नहीं है। यदि ऐसे गुरु न मिलें तो साधकको चाहिये कि वह केवल परमात्माके परायण होकर उनके ध्यान, चिन्तन, नामके जप आदिमें लग जाय और विश्वास रखे कि परमात्माकी कृपासे गुरु भी मिल सकते हैं। वास्तवमें तो परमात्मापर निर्भर हो जानेके बाद गुरुकी खोजकी इतनी आवश्यकता भी नहीं है; क्योंकि भगवान् ही गुरुका काम पूर्ण कर देते हैं। वास्तवमें गुरुके द्वारा भी भगवान् ही काम पूर्ण करते हैं।

शौचम्—शरीरकी शुद्धि।*

---

* स्थानाद् बीजादुपष्टम्भान्निःस्यन्दान्निधनादपि।
कायमाधेयशौचत्वात् पण्डिता ह्यशुचिं विदुः॥
(योगदर्शन २। ५ का व्यास-भाष्य)

'विद्वान्लोग शरीरको स्थान (माताके उदरमें स्थित), बीज (माता-पिताके रजोवीर्यसे उद्भूत), उपष्टम्भ खाये-पीये हुए आहारके

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgac

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

न्याय एवं सत्यतापूर्वक प्राप्त अन्नसे शरीरका निर्वाह करना एवं जल, मिट्टी आदिके द्वारा शरीरको स्वच्छ रखना आदि शरीरकी शुद्धिको ही यहाँ 'शौच' कहा गया है। शरीरकी शुद्धिके लिये आहारकी शुद्धि भी अपेक्षित है। सत्यतापूर्वक कमाये हुए धनसे जीवन-निर्वाह करनेमें ये भाव भी निहित हैं—(१) पैसा शुद्ध कमाईका हो, (२) पदार्थ भी शुद्ध हों, (३) भोजन बनानेवाला पवित्रताका पूरा ध्यान रखे, (४) बनी हुई सामग्री भगवान्‌को अर्पित कर पवित्र कर ली जाय और (५) भगवान्‌का चिन्तन करते हुए ही भोजन किया जाय।

शरीर बना ही ऐसे पदार्थोंसे है कि इसे चाहे कितना भी शुद्ध करते रहो, यह अशुद्ध ही रहता है। इससे बार-बार अशुद्धि ही निकलती रहती है। अतः इसे बार-बार शुद्ध करते-करते ही इसकी वास्तविक अशुद्धिका ज्ञान होता है। यही कारण है कि भगवान्‌ने शौचको ज्ञानके साधनोंमें सम्मिलित कर शरीरकी अशुद्धिकी ओर ध्यान आकृष्ट कराया है। ऐसा करनेका उद्देश्य यह है कि शरीरसे अरुचि (उपरामता) होकर साधकका देहाभिमान मिट जाय। 'पातञ्जलयोगदर्शन'के अनुसार—

'शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः।' (२। ४०)

'शौचके अभ्याससे साधककी अपने शरीरमें घृणा—अपवित्र-बुद्धि और दूसरोंसे संसर्ग न करनेकी इच्छा होती है।' शौच सिद्ध

रससे परिपुष्ट), निःस्यन्द (थूक-लार-स्वेद आदि स्रावसे युक्त), निधन (मरणधर्मा) और आधेयशौच (जल-मृत्तिका आदिसे प्रक्षालित करनेयोग्य) होनेके कारण अपवित्र मानते हैं।'

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

हो जानेपर शरीरके प्रति उदासीनता आ जाती है, अर्थात् उसे कैसे अच्छा रक्खें, कैसे वह सुन्दर दीखे—ऐसे भाव बिल्कुल नष्ट हो जाते हैं।

स्थैर्यम्—साधनमें अखण्डरूपसे स्थिरता।

'तत्त्वज्ञानको ही प्राप्त करना है'—ऐसा दृढ़ निश्चय करना एवं व्यावहारिक, मानसिक एवं साधन-सम्बन्धी विघ्न-बाधाओंके आनेपर भी उनसे विचलित न होकर अपने निश्चयके अनुसार साधनमें ही तत्परतापूर्वक लगे रहना—इस प्रकार ध्येयमें बुद्धिकी स्थिरताको ही 'स्थैर्यम्' पदसे अभिव्यक्त किया गया है। प्रत्येक स्थितिमें अपने उद्देश्यके प्रति अविचल रहना ही 'स्थैर्य' है। इन्द्रिय-जन्य विकारोंसे मन-बुद्धिमें किसी प्रकारकी चञ्चलता न आने देना भी स्थिरता ही है।

उपाय—निषिद्ध कर्मों—जैसे पाप, अन्याय, शास्त्र-प्रतिकूल आचरण एवं कामनाका सर्वथा त्याग करके सांसारिक संग्रह—सांसारिक पदार्थोंका भोग-बुद्धि, रस-बुद्धि अथवा संग्रह-बुद्धिसे सेवन न करनेसे दृढ़ निश्चय करनेकी शक्ति प्राप्त होती है (गीता २। ४४)। दृढ़ निश्चय कर लेनेपर परमात्माकी प्राप्ति शीघ्र ही सुगमतापूर्वक हो जाती है।

आत्मविनिग्रहः—मन-इन्द्रियोंके सहित शरीरको वशमें करना।

इस पदका मुख्य अर्थ 'मनको अपने वशमें करना' ही है। क्योंकि मनके अपने वशमें हो जानेपर इन्द्रियों और शरीरका संयम स्वतः हो जाता है। मनके वशमें होनेकी कसौटी यह है कि

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri
Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

अपने उद्देश्यानुसार इसे हम जहाँसे हटाना चाहें, वहाँसे सुखपूर्वक हटा सकें और जहाँ लगाना चाहें, वहाँ सुखपूर्वक लगा सकें। ज्ञानमार्गमें मन, इन्द्रियों और शरीरके संयमकी विशेष आवश्यकता है; क्योंकि इसमें भक्ति-मार्गकी भाँति भगवान्‌के आश्रित न रहकर अपने विवेककी ही प्रधानता रहती है।

उपाय—'अहंताके परिवर्तनसे मनका वशमें होना एवं शरीर तथा इन्द्रियोंका संयम होना स्वतः स्वाभाविक हो जाता है। जब साधक अपना विचार दृढ़ कर लेता है कि मुझे तो साधन ही करना है, साधन-विरुद्ध कोई कार्य नहीं करना है, तो फिर शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि सब स्वतः-स्वाभाविक ठीक हो जाते हैं। स्वयं (अहं) के द्वारा दृढ़ विचार होनेपर कोई बाधा नहीं रहती। अहंताके परिवर्तनमें स्वयंका दृढ़ विचार मुख्य होनेपर भी मनका निग्रह सहायक होता है। शरीर-निर्वाहके लिये आवश्यक वस्तुओं (भोजन, वस्त्रादि) का सेवन भी संग्रह और भोग-बुद्धिसे न करके केवल निर्वाह-बुद्धि या साधन-बुद्धिसे किया जाना चाहिये। संग्रह या भोग-बुद्धिसे वस्तुओंका सेवन अहितकर है। अतः साधकको निरन्तर सावधान रहना चाहिये कि कहीं वस्तुओंका सेवन संग्रह या भोग-बुद्धिसे तो नहीं हो रहा है!

ज्ञानमार्गमें केवल साधन-बुद्धिमें, भक्तिमार्गमें केवल भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये और कर्म-योगमार्गमें केवल दूसरोंके हितार्थ ही आवश्यक पदार्थोंका सेवन किया जाता है। शरीर एवं इन्द्रिय-निग्रहका यह सरल उपाय है।

CajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

शरीर और इन्द्रिय-निग्रह होनेके पश्चात् मनका निग्रह करना बहुत सुगम हो जाता है। संसार प्रतिक्षण बदल रहा है, यही सभीका अनुभव है। अपने इस अनुभवको महत्त्व देनेसे संसारसे स्वतः वैराग्य हो जाता है और 'परमात्मा मुझमें हैं, अभी हैं, अपने हैं' ऐसी दृढ़ मान्यता करके उनका नाम लेने, चिन्तन-स्मरण करने, उनके प्रेममें गद्‌गद होनेसे मनका निग्रह सुगमतापूर्वक हो जाता है।

श्लोक—

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥

भावार्थ—

इस श्लोकमें ज्ञानके तीन साधनोंका वर्णन हुआ है—(१) इन्द्रियोंके विषयोंमें वैराग्य अर्थात् ज्ञानेन्द्रियोंके शब्द-स्पर्श आदि विषयोंमें रागका अभाव। (२) स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरमें अहंकार (मैंपन)का अभाव तथा आदर-सत्कार एवं धनादि पदार्थोंके सम्बन्धसे होनेवाले अभिमान-जन्य सुखसे भी रहित होना। (३) जन्म-मरण, वृद्धावस्था और रोग आदिमें दुःखरूप दोषके कारणका बार-बार विचार करना।

अन्वय—

इन्द्रियार्थेषु, वैराग्यम्, च, अनहंकारः, एव, जन्ममृत्यु-जराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥

पद-व्याख्या—

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्—इन्द्रियोंका अपने-अपने विषयोंमें रागपूर्वक प्रवृत्त न होना।

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgac

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

(इन्द्रियोंद्वारा भोगे जानेयोग्य) लोक-परलोकके शब्दादि समस्त विषयोंमें इन्द्रियोंका स्वाभाविक आकर्षण न होना अर्थात् विषय इन्द्रियोंपर प्रभाव ही न डाल सकें, इस प्रकार रागरहित होना 'इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्' पदोंका भाव है।

विषयोंका राग देहाभिमानको बढ़ानेवाला है एवं उनका चिन्तन पतनके गर्तमें ढकेलनेवाला है (गीता २ । ६२-६३) । इसी कारण भगवान् तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके साधनोंमें विषयोंसे वैराग्य करनेका उपदेश दे रहे हैं।

उपाय—जिज्ञासुद्वारा त्यागके उद्देश्यसे परीक्षाके रूपमें शास्त्र-मर्यादानुसार भोग भोगनेसे विषयोंसे वैराग्य हो सकता है। शर्त यह है कि विषयोंका सेवन केवल रागरहित होनेके लिये ही हो और शास्त्रविरुद्ध कदापि न हो, अन्यथा विषयोंसे वैराग्य होना सम्भव नहीं।

प्रत्येक प्राणीको विषयों और इन्द्रियोंके संयोगसे सुख प्रतीत होता है। यद्यपि गीतामें भगवान्‌ने इसे सुख कहा है, तथापि ऐसे सुखको राजस और परिणाममें विषके सदृश बतलाया गया है (गीता १८ । ३८) । गीताके दूसरे अध्यायके १४वें श्लोकमें भगवान्‌ने इन विषयोंको 'आगमापायिनः' (आने-जानेवाले), 'अनित्याः' (निरन्तर न रहनेवाले) एवं पाँचवें अध्यायके २२ वें श्लोकमें 'दुःखयोनय एव ते' अर्थात् दुःखके उद्गमस्थान बतलाया है।

पतञ्जलि महाराजने भी 'योगदर्शन' में कुछ ऐसा ही कहा है—

CC-0. JangamWadi Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

'परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' ।* (२ । १५) ।

विवेकी इन सब सुखोंको भी दुःखरूप ही अनुभव करता है । यद्यपि उपर्युक्त पदोंके भावोंको भलीभाँति समझकर हृदयङ्गम करनेसे विषयोंसे वैराग्य हो सकता है; किंतु सत्सङ्ग-श्रवण एवं शास्त्र-चिन्तन आदिके होते हुए भी 'इनमें सुख है'—ऐसा भ्रम बने रहनेके कारण साधकको उन विषयोंसे वैराग्य नहीं होता । अतः इस भ्रमको दूर करनेके उद्देश्यसे साधक यदि (परीक्षाके रूपमें) शास्त्र-मर्यादानुसार विषय-सेवन करके देखेगा तो उसे स्पष्ट प्रतीत हो जायगा कि भोगोंकी इच्छा होने और उनके न मिलनेसे उत्पन्न अभावका ही दुःख है; क्योंकि आदिमें अभावका दुःख हुए बिना भोगकालमें सुख हो ही नहीं सकता । भोगकालमें भोग्य वस्तुका नाश और भोगनेकी शक्तिका ह्रासरूप दुःख है और परिणामकालमें नाना प्रकारके रोग-शोक तथा भविष्यमें नरकादि योनियोंकी प्राप्तिरूप दुःख है । यह तो निर्विवाद सत्य है कि कोई भी प्राणी कभी भी दुःख नहीं चाहता; अतः सांसारिक विषय-भोगोंमें दुःखका अनुभव होनेपर साधकको विषयोंसे वैराग्य करना नहीं पड़ता, प्रत्युत स्वतः हो जाता है ।

साधकको यह बात सदैव ध्यानमें रखनी चाहिये कि विषयभोगोंका रस-बुद्धि, भोग-बुद्धि और संग्रह-बुद्धिसे सेवन करते रहनेपर इस जन्ममें

---

* परिणाम-दुःख, ताप-दुःख और संस्कारदुःख—ऐसे तीन प्रकारके दुःख विद्यमान रहने और तीनों गुणोंकी वृत्तियोंमें परस्पर विरोध होनेके कारण विवेकीके लिये सब-के-सब (कर्मफल) दुःखरूप ही हैं ।

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

तो क्या, अनन्त जन्मोंमें भी इनसे वैराग्य नहीं हो सकता। अतः इनसे वैराग्य करनेके लिये इनका कभी भी सुख-बुद्धिसे सेवन न करे।

'विषयोंसे राग-निवृत्ति देहाभिमान मिटानेमें सहायक है।'

च—और।

अनहंकारः एव—अहंकारका भी सर्वथा अभाव।

साधारणतया '**अनहंकारः**' पदका अर्थ स्थूल देहके साथ 'मैं'-पनके अभावसे ही लिया जाता है, किंतु स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरमें अहंकारका न होना ही इस पदका वास्तविक अर्थ है। (गीता ७। ४ तथा १३। ५ में कहे गये प्राकृतिक अहंकारको मिटानेकी बात यहाँ नहीं कही गयी है)।

प्रत्येक व्यक्तिके अनुभवमें अलग-अलग 'अहम्' अर्थात् 'मैं हूँ'—इस प्रकारकी वृत्ति होती है। यह वृत्ति ही शरीरके साथ मिलकर 'मैं शरीर हूँ'—इस प्रकार एकदेशीयता—अहंकार उत्पन्न कर देती है। अज्ञानसे उत्पन्न होनेके कारण यह अहंकार दोषपूर्ण है। इसीके कारण शरीर, नाम, क्रिया, पदार्थ, भाव, ज्ञान, त्याग, देश, काल आदिके साथ अपना सम्बन्ध मानकर प्राणी ऊँची-नीची योनियोंमें जन्मता-मरता रहता है (गीता १३। २१)। यह अहंकार प्रायः साधनामें पर्याप्त दूरीतक रहता है। वास्तवमें इसकी सत्ता नहीं है; फिर भी स्वयंकी मान्यता होनेके कारण व्यक्तित्वके रूपमें इसका भान होता रहता है। भगवान्‌द्वारा ज्ञानके साधनोंमें इस पदका प्रयोग किये जानेका तात्पर्य (अपने माने हुए) शरीरादिमें अहंकारका सर्वथा अभाव करनेमें है; क्योंकि जड-चेतनका यथार्थ

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

ज्ञान होनेपर इसका सर्वथा अभाव हो जाता है—'परं दृष्ट्वा निवर्तते' (गीता २ । ५९)

अहंकारमें शिथिलता आनेपर ही साधककी ज्ञानयोगके मार्गमें प्रगति होती है । भक्तियोग-कर्मयोग आदि अन्य योगोंमें भी इसी प्रकार अहंकार शिथिल होनेपर साधन करनेसे साधक सुगमतापूर्वक एवं अल्प समयमें सिद्धि प्राप्त कर लेता है । अतः इस पदसे भगवान् अहंकाररहित होनेकी बात कह रहे हैं ।

विशेष बात—वास्तवमें जीवात्मा (स्वयं) परमात्माका है और परमात्मा इसके अपने हैं; किंतु अज्ञानवश यह परमात्माकी जगह मरणधर्मा शरीरको अपना और अपनेको शरीर मानने लगता है । शरीरको अपना मानना 'ममता' और अपनेको शरीर मानना 'अहंता' है ।

जीव जिसे भी अपना मानेगा, वह इसे प्रिय लगेगा ही । अतः शरीरको अपना माननेसे इसे शरीर बहुत प्रिय लगने लगता है । प्रिय वस्तुसे वियोग कोई चाहता नहीं, इसलिये यह शरीरको सदा रखना चाहता है, जबकि मरणधर्मा शरीर प्रतिक्षण ही मरता रहता है । इसी कारण वह सदैव दुःखी रहता है ।

जब जीव शरीरसे तादात्म्य करके अपनेको ही शरीर मानने लगता है, तब स्वयं चेतन, अविनाशी होनेके कारण उसे जड, नाशवान् शरीर भी चेतन अविनाशी प्रतीत होने लगता है । फिर उसे मरणधर्मा शरीर भी मरता हुआ दीखता नहीं । इतना ही नहीं, मरणधर्मा शरीरकी मृत्युमें उसे अपनी ही मृत्यु प्रतीत होने लगती

CC-0. Jangamwadi Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

है। इसीलिये उसे मृत्युसे भय लगता है। अतएव अहंता-ममतासे रहित होनेके लिये शरीर (जड़) और शरीरी (चेतन) का विवेक अत्यावश्यक है। अपने चेतनस्वरूपमें जड शरीर नहीं है। जड शरीरमें चेतनस्वरूप नहीं है। इस प्रकार विनाशी जड शरीर और अविनाशी चेतनस्वरूपका विवेक होनेपर 'मैं शरीर' और 'मेरा शरीर' दोनों मान्यताएँ मिट जाती हैं।

अभिमान और अहंकारका प्रयोग एक साथ होनेपर उनसे पृथक्-पृथक् भावोंका बोध होता है। सांसारिक पदार्थोंके सम्बन्धसे (जिन्हें व्यक्ति 'मेरा' कहता है) अभिमान उत्पन्न होता है। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिको जब वह अपना स्वरूप मान बैठता है, तब उसे अहंकार होता है। यहाँ 'अनहंकार' पदसे अभिमान और अहंकार दोनोंके सर्वथा अभावका अर्थ लेना ही उचित जान पड़ता है।

जैसे मनुष्यको नींदसे जगनेपर सबसे पहले 'अहम्' अर्थात् 'मैं हूँ' इस वृत्तिका ज्ञान होता है; फिर अमुक शरीर, नाम, जाति, वर्ण, आश्रमवाला हूँ—आदिका अभिमान होता है। यह एक क्रम है—इसी प्रकार पारमार्थिक मार्गमें भी अहंकारके नाशका एक क्रम है—सबसे पहले स्थूल शरीरसे सम्बन्धित धनादि पदार्थोंसे अभिमान मिटता है, कर्मेन्द्रियोंके सम्बन्धसे रहनेवाले कर्तृत्वाभिमानका नाश होता है, उसके बाद बुद्धिकी प्रधानतासे रहनेवाला ज्ञातापनका अहंकार मिटता है और अन्तमें 'अहम्' वृत्तिकी प्रधानतासे जो साक्षीपनका अहंकार है, वह भी मिट जाता है। तब सच्चिदानन्दघनस्वरूप स्वतः रह जाता है, जो सर्वत्र परिपूर्ण एवं नित्य है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

इस क्रमको देखनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि अज्ञानवश देश, काल-वस्तु-शरीरादिसे तद्रूपता स्थापित करनेसे ही अहंकार उत्पन्न होता है एवं इन शरीरादिसे निरपेक्ष होते ही अहंकारका सर्वथा अभाव हो जाता है। सार यह निकलता है कि वास्तवमें 'स्वयं' पहलेसे ही अहंकाररहित है। इस बातको सुन, पढ़ और समझकर साधकोंमें यह उत्साह होना चाहिये कि अहंकाररहित होनेमें असमर्थता तो है ही नहीं, कठिनता भी नहीं है; क्योंकि वस्तुतः 'स्वरूप'में अहंकार है ही नहीं, उसकी केवल मान्यता है। उस मान्यताको मिटानेमें कठिनताका अनुभव करना भूल है। इसीलिये भगवान् यहाँ अपने वास्तविक स्वरूपको पहचाननेके लिये अहंकार-रहित होनेकी आज्ञा दे रहे हैं।

अहंकाररहित होनेके उपाय—(१) किसी भी दोषको मिटाना हो तो उसके कारणकी खोज कर उसे ही मिटाना चाहिये। फलतः कार्यरूप दोष स्वतः नष्ट हो जाता है। अपनेमें श्रेष्ठताकी भावनासे ही अभिमान पैदा होता है, किंतु वह होता उसी समय है, जिस समय वह व्यक्ति अन्य व्यक्तियोंकी ओर देखकर यह सोचता है कि वे मेरी अपेक्षा न्यून अथवा हीन हैं। जैसे गाँवभरमें एक ही लखपति हो तो अन्य गाँववालोंकी न्यूनता देखकर उसे लक्षाधीश होनेका अभिमान होता है; पर यदि ग्राममें सभी लखपति हों तो उसे अभिमान कैसे हो सकता है? अतः अभिमानरूप दोषको मिटानेके लिये साधकको चाहिये कि दूसरोंकी कमीकी ओर कभी न देखे, केवल अपनी कमीको देखकर उसे दूर करता रहे। इसीलिये नारायण स्वामीजी साधकोंके लिये कहते हैं—

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

तेरे भावे जो करे, भलौ बुरौ संसार।
नारायण तू बैठिके, अपनो भवन बुहार॥

(२) अपने कर्तव्यका भलीभाँति पालन करनेसे* अर्थात् कर्तव्य-पालनके लिये ही क्रिया करते रहनेसे एवं उस क्रियाके फलके साथ अपना कोई भी सम्बन्ध न रखनेसे कर्तापनका अभिमान क्रियाके साथ ही नष्ट हो जाता है। जैसे नाटकमें हरिश्चन्द्र बने हुए पुरुषका अभिनय-रूप अभिमान नाटककी समाप्तिके साथ ही विलीन हो जाता है; वैसे ही 'मैं साधक हूँ' यह अभिमान भी केवल साधनको ही तत्परतापूर्वक साङ्गोपाङ्ग पालन करने, साधनके विरुद्ध कोई भी काम न करने तथा दूसरोंके कर्तव्यको कमी न देखनेसे साधनाकी पूर्णतामें स्वतः ही विलीन हो जाता है; क्योंकि सिद्धान्ततः अभिमान अपूर्णतामें ही होता है। पूर्णता होनेपर तो वह मिट जाता है अर्थात् साधक न रहकर साधन ही रह जाता है।

केवल पारमार्थिक मार्गमें ही यह नियम है कि फलासक्ति न रखकर कर्तव्यरूपसे क्रिया करनेपर कर्तृत्व-अभिमान नष्ट हो जाता है; क्योंकि साध्य-तत्त्वके साथ जीवात्माकी एकता स्वतः सिद्ध है (गीता १५। ७); अतः वह ज्यों-ज्यों तत्त्वकी ओर बढ़ता जाता है अर्थात् साधनमें प्रगति करता है, त्यों-त्यों उसमें जडताका अभाव एवं चिन्मयताका प्राकट्य होता जाता है और अन्तमें जडताका सर्वथा अभाव होकर केवल चेतन-तत्त्व ही रह जाता है। किंतु

* स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः। (गीता १८। ४५)
'अपने-अपने कर्तव्य-कर्मोंमें तत्परतापूर्वक लगा हुआ मनुष्य भगवत्प्राप्तिरूप परमसिद्धि प्राप्त कर लेता है।'

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

सांसारिक मार्गमें कर्तृत्वाभिमान, ममता एवं फलेच्छासहित क्रियाओं करते रहनेपर जडताका लक्ष्य रहनेके कारण जडतासे सम्बन्ध ब ही रहता है; जड-चेतनके सम्बन्धसे ही अभिमानका अस्तित्व है अतः अभिमान बढ़ता रहता है। क्रियाजनित सुखभोग अभिमानका संस्कार दृढ़ होता ही चला जाता है। 'नाशवान् पदार्थोंके साथ जीवकी सजातीयता नहीं है, जीवात्मा स्वयं चेत है और पदार्थ 'जड'—अतः इस विचारका आदर करनेसे अभिमानका त्याग सुगमतापूर्वक हो जाता है।

(३) 'मैं वक्ता हूँ', 'मैं श्रोता हूँ' आदि कर्तापनका अहंकार निरन्तर अपनेमें न माननेसे वह सुगमतापूर्वक मिट जाता है। जैसे—'मैं व्याख्यान-दाता हूँ' तो व्याख्यान देते समय केवल व्याख्यान देनेके लिये ही व्याख्यानदाता हूँ, अन्य समयमें मैं वैसा नहीं हूँ अर्थात् अन्य समयमें मैं श्रोता भी हो सकता हूँ। यदि व्याख्यान देनेवालेकी मान्यता इस प्रकारकी है तो उसका व्याख्यानदातारूप अहंकार स्वतः ही सुगमतापूर्वक दूर हो जाता है।

साधकको चाहिये कि वह जो कार्य जितनी देरतक करे, उतने ही समयके लिये अपनेको उसका कर्ता माने (अर्थात् स्वरूपमें स्थित रहता हुआ ही कार्य करे)। जैसे रावणका अभिनय करनेवाला अभिनेता अभिनयके समयके अपने नाम, जाति आदिमें स्थित रहता हुआ ही अपनेको 'कृत्रिम रावण' समझता है, वास्तविक नहीं।

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

'अभिमान दूर करनेके लिये अपनेमें किसी भी क्रियाका कर्तापन निरन्तर न माने ।'

(४) अपनेको शरीरसे पृथक् मानकर सर्वत्र परिपूर्ण परमात्मतत्त्वके साथ अपनी अभिन्नताका अनुभव करना अहंकार नाश करनेका एक अचूक उपाय है । भगवान्‌के मतमें यही वास्तविक ज्ञान है (गीता १३ । २) ।

(५) अहंकाररहित होनेके लिये साधकको सदैव यह स्मरण रखना चाहिये कि शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरणके साथ उसका माना हुआ सम्बन्ध है । उसका इनके साथ वास्तवमें सम्बन्ध है ही नहीं; क्योंकि ये सब प्रकृतिके कार्य हैं और 'मैं' (जीवात्मा) परमात्माका अंश है । ऐसी सावधानी रहनेपर अहंकार उत्पन्न होनेकी सम्भावना ही नहीं रहती । वास्तवमें सावधानी ही साधना है ।

(६) 'अहं-अहं'—यह वृत्ति भी एक 'प्रकाश' (ज्ञान)-में (विवेक होनेपर) इदंतासे दिखायी देती है; अतः वह 'प्रकाश'से अलग है; क्योंकि यह नियम है कि दीखनेवाली वस्तु देखनेवालेसे पृथक् होती है । अतः साधकको चाहिये कि अहंकारको इस प्रकार स्पष्टरूपसे अपनेसे पृथक् अनुभव करे; क्योंकि यह वास्तवमें दृश्य है ।

(७) भगवान्‌ने गीतामें आत्माको 'सर्वगतः' कहा है । तात्पर्य यह है कि एक ही आत्मा, जैसे इस शरीरमें व्याप्त है, वैसे ही वह अन्य शरीरोंमें भी है । किंतु अज्ञानी पुरुष अज्ञानके कारण

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

सर्वदेशीय आत्माको एक शरीरमें ही सीमित मानकर शरीरको म
मान लेता है और शरीरकी कुछ क्रियाओंको अपनी मानकर उ
अहंकार करता है—उनका कर्ता बन बैठता है। जैसे मनु
बैंकमें रखे हुए बहुतसे रुपयोंमेंसे केवल अपनेद्वारा जमा किये हु
कुछ रुपयोंमें ही ममता करके अर्थात् उनके साथ अपना सम्ब
मानकर उनसे अपनेको धनी मानता है, वैसे ही एक शरीरमें
शरीर हूँ'—ऐसी अहंता करके कालसे सम्बन्ध जोड़कर 'मैं
समयमें हूँ', देशसे सम्बन्ध मानकर 'मैं यहाँ हूँ', बुद्धिसे सम्ब
जोड़कर 'मैं समझदार हूँ' और वाणीसे सम्बन्ध जोड़कर 'मैं वक्ता हूँ
आदि अहंकार करता है; इस प्रकारके सम्बन्ध न जोड़ना ह
अहंकाररहित होनेका उपाय है।

एक स्थिर तत्त्वके प्रकाशमें ही समस्त क्रियाएँ उसी प्रका
होती हुई दिखायी देती हैं जैसे सूर्यके प्रकाशमें समस्त सांसारि
क्रियाएँ। वहाँ प्रकाश भी सूर्यका है, देखनेवाले नेत्र भी सूर्यक
सहायतासे देखते हैं एवं समस्त क्रियाएँ भी सूर्यके
प्रकाशके अन्तर्गत ही होती हैं। सूर्य तीनोंको शक्ति देते हुए भी
किसी भी क्रियाके साथ अपना किसी तरहका सम्बन्ध न माननेके
कारण निर्लिप्त रहता है और न ही उसे कभी अभिमान ही होता
है। वैसे ही व्यष्टिकी समस्त क्रियाएँ आत्माके सांनिध्यमें उसीकी
सत्ता-स्फूर्तिसे होती हैं एवं वह (आत्मा) उनसे निर्लिप्त रहता है
किंतु अज्ञानी भूलवश उनसे सम्बन्ध जोड़कर अपनेको कर्त्ता मानता
है (गीता ३ । २७)। प्रकृतिजन्य पदार्थ—पञ्चमहाभूत, अहंकार,

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ, इन्द्रियोंके विषय आदि सब समष्टि और व्यष्टि दोनोंमें एक समान हैं अर्थात् समष्टिके साथ व्यष्टिकी एकता है। इतना ही नहीं, समष्टि शक्तिसे ही व्यष्टिमें क्रियाएँ हो रही हैं। जब समष्टिकी सम्पूर्ण क्रियाओंके साथ अपना सम्बन्ध नहीं है, तो फिर अपने कहलानेवाले एक शरीर (व्यष्टि) की क्रियाओंके साथ अपना सम्बन्ध कैसे होगा ! इस प्रकार साधक यदि गहरा विचार करके सावधानीपूर्वक उन क्रियाओंको अपनी न माने तो वह अहंकाररहित हो सकता है।

(८) शास्त्रोंमें परमात्माका सच्चिदानन्दघनरूपसे वर्णन आया है। (क) सत् अर्थात् 'है', (ख) चित् अर्थात् 'ज्ञान' और (ग) आनन्द अर्थात् 'अविनाशी सुख', जहाँ दुःखका नाम-निशान भी नहीं है—ये तीनों परमात्माके पृथक्-पृथक् स्वरूप नहीं हैं, अपितु एक परमात्मतत्त्वके ही तीन नाम हैं। अतः साधक इन तीनोंमेंसे यदि किसी एक विशेषणसे परमात्माका लक्ष्य करके निर्विकल्प हो जाता है। (संसारके चिन्तनसे उसका कोई प्रयोजन नहीं एवं अचिन्त्य परमात्म-तत्त्व चिन्तनमें आता नहीं—यही निर्विकल्पता है) इस प्रकार उसे सच्चिदानन्दघनकी प्राप्ति हो जाती है। उसमें फिर कभी अहंकारके स्फुरणका प्रश्न ही नहीं रहता।

(क) सत् अर्थात् परमात्म-तत्त्व सदासे ही था, है और रहेगा। वह कभी बनता-बिगड़ता नहीं, वह है, ज्यों-का-त्यों रहता है—बुद्धिके द्वारा ऐसा विचारकर निर्विकल्प होकर स्थिर हो जानेसे साधकका बुद्धिसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS MoE-Gr

उस तत्त्वमें जो वास्तवमें सच्चिदानन्दघन है, उसकी अपने-आ स्थिति हो जाती है । वास्तविक स्थितिका अनुभव होनेपर फि अहंकार नहीं रहता ।

(ख) जैसे प्रत्येक व्यक्तिके शरीरादि 'अहं'के अन्तर्गत दृश्य हैं, वैसे ही प्रत्येक व्यक्तिमें स्फुरित 'अहं' वृत्ति भी ('मैं तू, यह वह' के रूपमें) एक ज्ञानके अन्तर्गत दृश्य है । विचारके समय चारों बुद्धिके ज्ञानमें हैं, किंतु बुद्धि अहंके अन्तर्गत एवं अहं भी जिस ज्ञानसे प्रकाशित हो रहा है, वह ज्ञान—एक ही है* । उस ज्ञान (चेतन)में निर्विकल्प होकर स्थिर हो जानेसे परमात्म-तत्त्वमें स्वतः स्थिति हो जाती है । ज्ञान अखण्ड है, अतः उसकी अनुभूति

---

* उदाहरणार्थ, किसी सेठने सुना कि अमुक दूकानमें इतना लाभ हुआ है और साथ ही यह भी सुना कि अमुक दूकानमें इतनी हानि हुई है, अथवा किसीने सुना कि उसका पुत्र मर गया है और साथ ही यह भी सुना कि उसके पौत्रका जन्म हुआ है—इस प्रकार लाभ अथवा हानि एवं जन्म अथवा मरण सुननेपर मनुष्यपर सुख और दुःख हो प्रकारका प्रभाव पड़ सकता है । परंतु यदि लाभ-हानि एवं जन्म-मरण आदि विषयकी भिन्नताको न लेकर केवल (उस विषयके) ज्ञानको ही लिया जाय (जिस ज्ञानके अन्तर्गत विपरीत विषयोंका ज्ञान हो रहा है) तो वह ज्ञान तो एक ही है । यदि ज्ञान एक न होता तो अनुकूलता और प्रतिकूलताकी भिन्नताका ज्ञान कैसे होता ! इसी प्रकार 'मैं, तू, यह, वह' पृथक्-पृथक् होनेपर भी इनका प्रकाशक ज्ञान तो एक ही है । जिस सामान्य प्रकाशमें 'मैं' में क्रियाएँ होती हैं, उसी प्रकाशमें तू, यह, वह'में भी क्रियाएँ होती हैं । उस सामान्य प्रकाशमें 'मैं, तू, यह वह' का भेद नहीं है । उस सामान्य प्रकाशका यदि सम्बन्ध (है तो मैं, तू, यह, वह) चारोंके साथ है, और यदि नहीं है तो किसीके भी साथ नहीं है ।

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jaipur

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

होनेपर सच्चिदानन्दघनकी प्राप्ति हो जाती है। ऐसी स्थिति होनेपर फिर अहंकार नहीं होता।

(ग) साधकलोग प्रायः बुद्धिसे दिखायी देनेवाले पदार्थ, शरीर आदिको बुद्धिद्वारा पृथक्-पृथक् समझकर, बुद्धि और अहंको प्रकाशित करनेवाले 'चेतन'को भी बुद्धिके द्वारा ही जाननेका प्रयत्न किया करते हैं। बुद्धिके द्वारा दार्शनिक विषयोंको लिखकर अथवा सीखकर उसे 'ज्ञान'की संज्ञा देना और अपने-आपको ज्ञानी मान लेना एक प्रकारकी भूल है। बुद्धिको प्रकाशित करनेवाला बुद्धिके द्वारा कैसे जाना जा सकता है? यद्यपि साधकके पास बुद्धिके अतिरिक्त ऐसा और कोई साधन नहीं, जिससे वह तत्त्व जाना जा सके तथापि बुद्धिके द्वारा केवल जड़-तत्त्वकी वास्तविकताको ही जाना जा सकता है। बुद्धि जिससे प्रकाशित होती है, उस तत्त्वको बुद्धि नहीं जान सकती। ऐसी स्थितिमें उस तत्त्वको जाननेके लिये बुद्धिका भी त्याग अर्थात् (उससे) सम्बन्ध-विच्छेद आवश्यक है। बुद्धिको प्रकाशित करनेवाले परमात्म-तत्त्वके आनन्दघनस्वरूपमें निर्विकल्परूपसे स्थित हो जानेपर बुद्धिसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। फिर एक आनन्द-घनस्वरूप (जहाँ दुःखका आत्यन्तिक अभाव है।) ही शेष रह जाता है, जो स्वयं ज्ञानस्वरूप और सत्स्वरूप भी है। इस प्रकार तत्त्वमें चुप (निर्विकल्प) हो जानेपर आनन्द-ही-आनन्द है, (गीता ६। २२ का पूर्वार्द्ध)— ऐसा अनुभव होता है। तब अहंकार होनेकी सम्भावना नहीं रहती।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

. In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding IKS MoE Gr

अतः अहंकाररहित होनेके लिये साधनावस्थामें साधकको चाहिये कि दिनभरमें दस, बीस, पचास, सौ या जितनी बार अधिकसे अधिक हो सके, उतनी बार सत्-चेतन-आनन्द-पदोंसे निर्दिष्ट स्वरूपमें निर्विकल्पताको स्वीकार करे। ऐसा करनेसे एक परमात्मतत्त्व ही शेष रह जाता है। कालान्तरमें इस अभ्यासकी भी आवश्यकता नहीं रहती और एक स्वतःसिद्ध तत्त्व ही रह जाता है अर्थात् अहंकारका सर्वथा अभाव हो जाता है। तब परमात्मा ही सर्वथा परिपूर्ण है—ऐसा अनुभव होने लगता है। अतः परमात्मतत्त्वका संकल्परहित होना, अहंकार मिटानेका सुगम और श्रेष्ठ उपाय है। मनुष्यमात्र अहंकाररहित हो सकता है, इसीलिये भगवान् अनहंकार पद देते हैं। अन्यत्र भी 'निरहंकारः' (२।७१, १२।१३) एवं 'अहंकारं विमुच्य' (१८।५३) पदोंसे अहंकार-त्यागकी बात कही गयी है।

जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्—जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था और रोगोंके दुःखरूप दोषके कारणको बार-बार देखना।

वैसे तो इन पदोंका साधारण अर्थ होता है—जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था और रोग स्वयं दुःखरूप और दोषमय हैं—ऐसा बार-बार देखना-विचारना। जन्म लेते समय जीवको असह्य पीड़ा होती है। जन्म लेनेवालेकी मृत्यु निश्चित ही है। मृत्युके समय ममताके पदार्थ—शरीर और घर आदिको सदाके लिये छोड़नेमें कितना दुःखका अनुभव होता होगा, इसका अनुमान नहीं लगाया जा सकता; क्योंकि जीवितावस्थामें ही अनेक वस्तुओंके साथ सम्बन्ध

CC-0. Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jaipur

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding: IKS-MoE-Gran

रहनेपर किसी एक वस्तुके वियोगमें भी महान् दुःखका अनुभव होता है। वृद्धावस्थामें बुद्धि, इन्द्रिय और शरीरकी शक्ति तो कम हो जाती है, किंतु मनमें संग्रह एवं भोगोंके प्रति नित्य नयी लालसा बढ़ती रहती है। इस परतन्त्रतामें बड़ा ही भयानक दुःख होता है। रोग तो स्वयं दुःखरूप है ही। इस प्रकार ये चारों अवस्थाएँ पापोंका परिणाम होनेसे दोषमय हैं। इनका बार-बार विचार करके इनमें दुःखरूप दोषोंको देखना चाहिये।

यहाँ इन पदोंका आशय जन्म, मृत्यु, जरा एवं व्याधिके दुःखोंके कारणकी* खोज कर उसे दूर करना ही प्रतीत होता है।

चेतनका जडसे सम्बन्ध मानना ही मुख्य दोष है। जडको स्वीकार करनेसे, उसे उत्तम माननेसे और उसका आश्रय लेनेसे ही सब-के-सब दोष उत्पन्न होते हैं—'देहाभिमानिनि सर्वे दोषाः प्रादुर्भवन्ति।' जीव परमात्माका स्वरूप या उसका ही अंश होनेके कारण निर्दोष है। गोस्वामीजीने भी जीवके लिये कहा है—'चेतन अमल सहज सुखरासी।' किंतु अज्ञानवश जड शरीरादिके साथ सम्बन्ध माननेसे ही उसमें जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि आदिमें दुःखरूप-दोषका अनुभव होता है। गम्भीर विचार करनेपर स्पष्ट प्रतीत होता है कि जड शरीर आदिके साथ सम्बन्ध माना हुआ है; जो दृढ़तापूर्वक न माननेसे विच्छिन्न हो जाता है तथा दुःखोंका सर्वथा अभाव होकर जीवको अपने वास्तविक स्वरूपका अनुभव हो जाता है।

---

* कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु।

(गीता १३। २१)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

जड शरीरादिके साथ चेतन जीवात्माका—'मैं-मेरे'का सम्बन्ध रहनेसे ही जीवका जन्म होता है (गीता १३ । २१) । शरीरकी वृद्धावस्था आ भी सकती है और नहीं भी, परंतु जीवनकालमें किसी-न-किसी रूपमें प्रायः रोगका आविर्भाव होता ही है—'शरीरं व्याधिमन्दिरम्'—शरीरसे मैं-मेराका सम्बन्ध माननेसे शरीरसे तादात्म्य हो जाता है । तादात्म्यसे ही प्राप्त वस्तुओंमें ममता और अप्राप्त पदार्थोंकी कामना होती है । इसीसे आशा, तृष्णा, वासना, क्रोधादि अन्य दोष भी उत्पन्न हो जाते हैं और उनके परिणामस्वरूप जीव दुःखी होता रहता है । साधकके लिये इसका स्थूलरूप अर्थात् प्राप्त पदार्थोंमें ममता और अप्राप्त पदार्थोंकी कामना ही सम्पूर्ण दोषोंकी जड़ है ।

संसार उत्पन्न होनेवाला एवं विनाशशील है । इसलिये हमारी ममताके पदार्थोंमें परिवर्तन होना, उनकी अवनतिकी सम्भावना उनका नष्ट होना और उनसे हमारा वियोग होना अवश्यम्भावी है। ऐसी दशामें उन पदार्थोंसे ममताके कारण दुःख प्राप्त होना भी अनिवार्य है । वैसे अप्राप्त पदार्थोंकी कामना होनेसे अभावजन्य दुःख होता ही है; क्योंकि आजतक किसीकी भी सम्पूर्ण कामनाओं-की पूर्ति नहीं हुई। अभी वर्तमानमें होती भी नहीं दीखती और आगे भी नहीं हो सकती । यदि किसीकी कभी यत्किञ्चित् कामनापूर्ति हो भी जाती है तो (कामनापूर्तिका सुख लेनेसे) पुनः कई तरहकी अन्य कामनाएँ जाग्रत् हो जाती हैं । अतः मनुष्य सदैव दुःखी बना रहता है । सम्पूर्ण दुःखोंका कारण संयोगजन्य सुखभोगकी कामना ही है । ऐसा कोई भी दुःख नहीं, जो कामनासे पैदा न होता हो

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jaipur

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

तथा ऐसा कोई भी पाप नहीं, जो तृष्णा या कामनासे पैदा न होता हो। इसी कारण भगवान्‌ने अर्जुनके पूछनेपर पापोंकी उत्पत्तिमें—'काम एष क्रोध एष' (गीता ३। ३७) काम ही हेतु है—ऐसा कहा है। कामनाके कारण पदार्थोंके प्रति आकर्षण तथा द्वेषके कारण विकर्षण आदि दोष बढ़ते हैं। द्वेषके कारण मानवका प्राणियोंसे वैर होता है। मेरे मनकी बात पूरी हो, मनके अनुकूल सांसारिक पदार्थ मुझे मिलें—ऐसी इच्छा ही कामना है। इनमें आकर्षणका नाम है—राग और अरुचि या विरोधका नाम है—द्वेष। राग-द्वेष होनेपर सुख-दुःखका क्रम चलता ही रहता है अर्थात् उनका कभी भी अन्त नहीं होता। यहाँ दुःख तो दुःख है ही, सुख भी दुःख ही है।

शङ्का—जो सुख है वह दुःख कैसे हो सकता है?

समाधान—नाशवान् सुखका उपभोग करनेसे (सुखके संस्कारोंसे) बार-बार उस सुखकी वासना जाग्रत् होती है और सुख न मिलनेपर ताप-दुःख होता ही है। अतः सुखकी लिप्सा ही दुःखोंका उद्गमस्थान है। थोड़ा सुख मिलनेसे उसके आंशिक अभावका दुःख, पूरा सुख प्राप्त होनेपर उसके नाशकी आशङ्काका दुःख, किसीको अपनेसे अधिक सुखी देखकर ईर्ष्यारूप दुःख, अपनेसे दूसरेको कम सुखी देखकर अभिमानरूप दुःख एवं समान सुखी देखकर असहिष्णुतारूप दुःख उत्पन्न होते हैं। भगवान्‌ने गीतामें—'दुःखयोनय एव ते' (५। २२) पदोंसे इसी ओर संकेत किया है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

भोगकालमें भी केवल क्षणिक सुखकी प्रतीति होती है, सुखकी प्राप्ति नहीं होती; क्योंकि यदि सुख प्राप्त हो गया होता तो फिर दुःखका नामोनिशान मिट जाना चाहिये और सुखकी इच्छा ही नहीं रहनी चाहिये । ज्यों-ज्यों हम भोगते हैं, त्यों-ही-त्यों उस भोगविशेषमें अरुचि होने लगती है तथा कुछ समय बाद तो हम और अधिक भोगनेमें असमर्थ हो जाते हैं; शेष बचते हैं—निर्बलता, जड़ता, अभाव आदि ।

यह अटल सिद्धान्त है कि अपने स्वरूपका यथार्थ अनुभव अथवा परमात्माके साथ अनन्य प्रेम होनेपर ही वास्तविक सुख प्राप्त होता है । जीवात्मा परमात्माका अंश है, अतः उसकी परमात्माके साथ अभिन्नता है । इसका अनुभव होनेपर ही वह सच्चा सुख प्राप्त कर सकता है, अन्यथा नहीं । यही कारण है कि जीवात्माको दुःख और दोष अच्छे नहीं लगते; क्योंकि ये इसके सजातीय नहीं हैं । वह अपनेद्वारा ही उत्पादित दोषोंके कारण सदैव दुःखी होता रहता है । अतः यहाँ इन पदोंसे भगवान् जन्मादिके दुःखरूप दोषके कारण (देहाध्यास) को बारंबार गम्भीर विचार करके मिटानेके लिये कह रहे हैं ।

'अनुदर्शनम्'का अर्थ बार-बार देखना भी होता है; किंतु यहाँ जिस 'कारण'से कार्य हो रहा है, उसको देखना ही इसका वास्तविक अर्थ है ।

उपाय—

(१) जड-चेतनके माने हुए सम्बन्धका (जो वास्तवमें है ही नहीं) विच्छेद करना सब प्रकारके दोषोंका अभाव करनेका उपाय

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jaga

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

है। (२) इच्छा करनेमें किसी तरहका भी लाभ नहीं, वरन् सब तरहसे हानि-ही-हानि है, ऐसा बार-बार विचार करना भी साधकोंके सम्पूर्ण दोषोंके अभाव करनेका एक सुगम उपाय है।

जन्मादि दुःखरूप दोषोंके कारणका बार-बार विचार करनेसे सब तरहके दुःखोंके कारणरूप संसारसे माने हुए सम्बन्धका सर्वथा अभाव हो जाता है।

श्लोक—

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥

भावार्थ—

इस श्लोकमें ज्ञानके तीन और साधनोंका वर्णन हुआ है—१—पुत्र, स्त्री, घर और धनादिमें आसक्तिरहित होना अर्थात् उनमें विशिष्ट प्रियताका भाव न होना। २—इन स्त्री-पुत्रादि स्वजनोंमें एवं पदार्थोंमें ममता (घनिष्ठ सम्बन्ध) न होना अर्थात् अनन्यतासे अपनापनकी प्रतीतिका न होना तथा ३—शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धिके अनुकूल या प्रतिकूल प्राणी, पदार्थ, परिस्थिति, घटना आदिके प्राप्त होनेपर (साधकके) चित्तमें सदैव समताका रहना अर्थात् हर्ष-शोकादि विकारोंका न होना।

अन्वय—

पुत्रदारगृहादिषु, असक्तिः, अनभिष्वङ्गः, च, इष्टानिष्टोपपत्तिषु, नित्यम्, समचित्तत्वम् ॥ ९ ॥

पद-व्याख्या—

पुत्रदारगृहादिषु असक्तिः—पुत्र, स्त्री, घर और धनादिमें आसक्तिरहित होना। यहाँ 'आदि' पदसे पशु, भृत्य, वाहन और

BajGuru Math, Sonarpur, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

जमीन आदि सभीको विशेष ममता-आसक्तिवाले व्यक्तियों पदार्थोंमें गिना जा सकता है ।

आसक्ति अर्थात् अपने स्वरूपसे विजातीय पदार्थोंके साथ चिपका रहना—इसे ही पदार्थोंका चित्तपर चढ़ जाना कहते हैं इसका सरल आर्थ यह है कि 'ये पदार्थ (नाशवान् होनेपर भी सदा बने रहें'—ऐसी भावना रहना ।

अज्ञानके कारण मनुष्यकी पुत्र, स्त्री आदि प्राणियों और धनादि पदार्थोंमें प्रायः आसक्ति बनी रहती है; क्योंकि वह अज्ञानवश शरीरको ही 'मैं' मानता है । अतः वह शरीरको एवं शरीरके निकटस्थ सम्बन्धियों (स्त्री, पुत्रादि) और पदार्थोंको सदैव रखना चाहता है; किंतु ये सभी नाशवान् होनेके कारण प्रतिक्षण बदलते और नष्ट होते रहते हैं । इसीलिये वह स्वयं अविनाशी होता हुआ भी नाशवान्‌को रखनेकी इच्छासे दुःखी होता रहता है और ऊँची नीची योनियोंमें जन्मता-मरता है (गीता १३ । २१) । ज्ञानके साधनोंमें भगवान् यहाँ इन पदोंसे सभी अपने माने हुए निकटस्थ प्राणियों और पदार्थोंमें आसक्तिका अभाव करनेके लिये कहते हैं जिसका तात्पर्य यह है कि इनसे आसक्ति छूट जानेपर सभी दोष उसका अभाव हो जाता है ।

उपाय—

१—नाशवान् प्राणियों और पदार्थोंसे, भूतकालमें भोगे हुए सुख-भोगसे, वर्तमानमें सुख-भोगकी प्राप्तिसे और भविष्यमें सुख होनेकी आशासे ही प्रत्येक मनुष्यकी इनमें आसक्ति बनी हुई है । पुत्र

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jaipur

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

माता-पिता, सास-ससुर आदि स्वजनोंको अपनी प्रिय वस्तुओंसे एवं शरीरके द्वारा परिश्रम करके शास्त्रके अनुकूल (धर्म और लोक-मर्यादाके अनुसार न्याययुक्त) सेवा करने एवं बदलेमें उनसे कुछ भी (अर्थात् न्याययुक्त भी) आशा न रखनेसे आसक्तिका अभाव सुगमतापूर्वक हो जाता है; क्योंकि आसक्ति तो स्वयंके सुख-भोगकी इच्छासे ही टिकी हुई रहती है । वर्तमानमें सेवा करनेसे भूतकालकी एवं बदलेमें कुछ भी न चाहनेसे भविष्यकालकी आसक्ति मिट जाती है । तब वह (साधक) पुराने (पूर्वजन्मके) ऋणसे उऋण हो जाता है और भविष्यमें उनसे सुखकी आशा रखता ही नहीं, अतः आसक्तिका सर्वथा अभाव हो जाता है ।

२—आसक्ति अविचारसे टिकी हुई है । विचारके जाग्रत् होनेपर साधक स्वतः आसक्तिरहित हो सकता है । विचार क्या है ? हम अन्यसे जो अपने लिये मान, सत्कार आदि चाहते हैं, वह अन्य सभीको दें एवं जो अपने लिये नहीं चाहते हैं, जैसे—निन्दा, चुगली आदि, उन्हें अन्य किसीके लिये भी न करे ।

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥

(श्रीविष्णुधर्मोत्तर० ३ । २५३ । ४४)

३—'प्राणियों और पदार्थोंका वियोग अवश्यम्भावी है', ऐसी स्मृति बनी रहनेसे आसक्तिका अभाव सुगमतापूर्वक हो जाता है । विचारकर देखा जाय तो जिस समयसे इनके साथ संयोग होता है, उसी समयसे तत्त्वतः वियोग भी प्रारम्भ हो जाता है; क्योंकि वियोग अवश्यम्भावी है । जैसे कथा-श्रवणका समय एक घंटेका है, कथा-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

श्रवणके प्रारम्भमें ऐसा प्रतीत होता है कि कथा-श्रवणरूप क्रियाका संयोग हुआ और हो रहा है, किंतु वास्तवमें उसका संयोग नहीं अपितु प्रतिक्षण वियोग हो रहा है; क्योंकि जो समय व्यतीत हो गया वह तो वियुक्त हो गया; अब उसका संयोग कहाँ रह गया ? पाँच मिनट बीतनेपर पाँच मिनटका वियोग हुआ, वैसे ही एक घंटा बीत जानेपर पूरा वियोग हो जाता है । मनुष्यकी दृष्टि संयोगकी ओर रहनेसे उसे निश्चित वियोग दिखायी नहीं देता । यदि उस (साधक) की दृष्टि वियोगकी ओर हो जाय तो फिर यह उनसे सुख-भोग और सुख पानेकी आशा कर ही कैसे सकता है; क्योंकि भोग्य वस्तु और भोक्ताको स्थायी माननेसे ही सुखभोगमें प्रवृत्ति होती है ।

'आसक्तिके सर्वथा अभावसे तत्त्वज्ञान हो जाता है ।'

अनभिष्वङ्गः—पुत्र, स्त्री, घर और धनादि प्राणियों और पदार्थोंमें ममतापूर्वक घनिष्ठ सम्बन्धका न होना ।

प्रियता और अपनापनकी प्रतीति होनेसे मनुष्य इन पुत्र, स्त्री, गृह और धनादिसे तादात्म्यका अनुभव करता है और फिर इनके सुखसे सुखी एवं दुःखसे दुःखी तथा नाशसे अपना नाश मानने लगता है । जैसे—१—माताकी बालकमें अत्यधिक प्रियता और अपनापन होनेके कारण बालकके असह्य रोग हो जानेपर उसकी चिन्तासे माता स्वयं अपने शरीरमें दुर्बलताका अनुभव करती देखी जाती है । २—धनके सर्वथा चले जानेपर अर्थात् नाश होनेपर शरीरमें निर्बलता आ जाती है, मनुष्य पागल हो जाते हैं और किसी-किसी मनुष्यकी तो हृदयगति ही रुक जाती है । अतः भगवान् यहाँ इस पर

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jaipur

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

नाशवान्‌में प्रियता और अपनापनकी प्रतीतिका अभाव करनेके लिये कह रहे हैं।

उपाय—

१—मनुष्य शरीरको 'मैं' माननेसे ही शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाले पुत्र, स्त्री और धनादिको 'मेरा' मानता है अर्थात् इनमें ममता करता है। इनमें ममता स्वयंके माननेसे ही है; अतः शरीरको 'मैं' न माननेसे इनसे ममताका भी सर्वथा अभाव हो जाता है।

२—धनादि सांसारिक पदार्थोंको ममतावाले प्राणियों (पुत्र, स्त्री आदि)का ही समझकर उनसे उनकी यथायोग्य शक्तिपूर्वक धर्मके अनुसार सेवा करना एवं बदलेमें उनसे सेवा न लेना एवं उनसे कुछ भी न चाहना* 'ममता मिटानेका एक उत्तम उपाय है।

'ममताका सर्वथा अभाव हो जानेपर अहंता बहुत क्षीण हो जाती है।'

च—तथा।

इष्टानिष्टोपपत्तिषु नित्यम् समचित्तत्वम्—अनुकूल-प्रतिकूलके प्राप्त होनेपर चित्तमें सदा ही समताका भाव रहना।

स्वेच्छा, अनिच्छा और परेच्छासे अनुकूल या प्रतिकूलके संयोग-वियोगमें हर्ष-शोकादि विकारोंका न होना अर्थात् सदा ही निर्विकार

---

* दूसरेकी प्रसन्नताके लिये उससे सेवा लेना भी सेवा करना ही है; जैसे—माँके हाथसे भोजन करनेपर माँको बहुत प्रसन्नता होती है। अतः माँकी प्रसन्नताके लिये माँसे सेवा लेना भी प्रकारान्तरसे माँकी सेवा ही है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

और सम रहना—'अनुकूल-प्रतिकूल'की प्राप्तिमें 'समचित्तता' कही जाती है। तात्पर्य यह है कि अनुकूल या प्रतिकूल प्राणी, पदार्थ, परिस्थिति और घटना आदिके संयोग-वियोगमें साधकके अन्तःकरणमें हलचलका न होना ही उसकी समचित्तता है। इस विषयमें बहुत ही मार्मिक एवं समझनेकी बात यह है कि विनाशी एवं विकारवाली वस्तुओंका महत्त्व होनेसे साधकका चित्त ही विषम होता है, स्वरूप नहीं। वह तो सदैव एकरस रहता है। उसमें कभी विषमता आ ही नहीं सकती। अतः भगवान् यहाँ इन पदोंसे साधनावस्थामें चित्तको सम रखनेके लिये (साधकसे) कह रहे हैं। प्रकृति एवं प्रकृतिके कार्यमात्रसे लिप्तता न रहनेके कारण सिद्ध महापुरुषका चित्तके साथ लिप्तापूर्वक सम्बन्ध नहीं रहता; अतः उसके लिये विनाशी एवं विकारवाली वस्तुओंका कुछ भी महत्त्व नहीं रहता अर्थात् उसका चित्त सदैव सम रहता है।

उपाय—समचित्तताका उद्देश्य रखना ही अन्तःकरणमें हर्ष-शोकादि विकारोंके मिटानेका सुगम उपाय है। उद्देश्यकी अग्निमें व्याकुलताका होना अनिवार्य है ही। अतः ऐसी व्याकुलता 'समचित्तता' लानेमें हेतु है; क्योंकि व्याकुलताकी अग्निमें सम्पूर्ण बाधाएँ जल जाती हैं।

'अनुकूल-प्रतिकूलमें समचित्तता होनेपर नाशवान् संसारके साथ सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है।'

विशेष बात—

यद्यपि 'इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्' और 'अनहंकारः' आदि पदोंसे आसक्ति, ममता और हर्ष-शोकादि विकारोंके अभावकी बात पहले

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

श्लोकोंमें कही जा चुकी थी; किंतु भगवान् ज्ञानके प्रसङ्गमें भिन्न-भिन्न साधनोंका वर्णन करते हुए यहाँ पुनः आसक्ति, ममता और हर्ष-शोकादि विकारोंको मिटानेकी बात कह रहे हैं। तात्पर्य यह है कि वे देहसे अपनेको पृथक् अनुभव करनेके लिये ही ज्ञानके विभिन्न साधनोंको विविध प्रकारसे समझा रहे हैं, जिससे उन्हें भलीभाँति हृदयङ्गम कर साधक तत्त्वज्ञानको सुगमतापूर्वक प्राप्त कर सकें।

श्लोक—

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१०॥

भावार्थ—

इस श्लोकमें भी पुनः ज्ञानके तीन अन्य साधनोंका वर्णन हुआ है—(१) तत्त्वज्ञानका उद्देश्य रखकर मुझ परमात्मामें अनन्ययोगसे अव्यभिचारिणी भक्तिका होना अर्थात् मेरे अतिरिक्त किसी अन्यके आश्रित न होना तथा तत्त्वज्ञानके अतिरिक्त किसी भी वस्तुकी चाह न होना; (२) एकान्त एवं शुद्ध देशके सेवनका स्वभाव और (३) हरिविमुख जन-समुदाय (विषयासक्त मनुष्यों)में प्रीतिका न होना अर्थात् सांसारिक मनुष्योंसे उपरति।

अन्वय—

मयि, अनन्ययोगेन, अव्यभिचारिणी, भक्तिः, च, विविक्तदेश-सेवित्वम्, जनसंसदि, अरतिः ॥ १० ॥

पद-व्याख्या—

मयि अनन्ययोगेन अव्यभिचारिणी भक्तिः—तत्त्वज्ञानका ही

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

लक्ष्य रखकर मुझ (परमात्मा) में अनन्ययोगसे अव्यभिचारिणी भक्ति (साधन-समुदायमें सोलहवाँ साधन) ।

संसारका आश्रय लेनेके कारण ही साधकका देहाभिमान बना रहता है । यह (देहाभिमान) अव्यक्तके ज्ञानमें प्रधान बाधा है । इसे दूर करनेके लिये भगवान् यहाँ इन पदोंसे तत्त्वज्ञानका उद्देश्य रखकर अनन्ययोगद्वारा अपनी अव्यभिचारिणी भक्ति करनेका साधन बता रहे हैं । तात्पर्य यह कि भक्तिरूप साधनसे भी देहाभिमान सुगमतापूर्वक दूर हो सकता है । ज्ञानमार्गमें तो देहाभिमानको दूर करनेकी आवश्यकता है ही, यदि भक्तिमार्गमें भी साधक देहाभिमानरहित होकर अर्थात् वैराग्यवान् और अहंकाररहित होकर साधन करता है तो वह परमात्माको शीघ्र और सुगमतापूर्वक प्राप्त कर लेता है । वैराग्य और अनहंकार—ये दोनों भक्तिके भूषण हैं जो तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिमें अत्यन्त आवश्यक हैं । तत्त्वज्ञान अर्थात् परमतत्त्वका साक्षात्कार होनेपर संसारके साथ सम्बन्ध रहता ही नहीं ।

'मयि अनन्ययोगेन'का अर्थ है—एकमात्र भगवान्‌का आश्रय । जीवमात्र स्वभावतः किसी-न-किसीका आश्रय लेता है । जबतक वह नाशवान् संसारकी आवश्यकताका अनुभव करता है, तबतक उसे कभी बलका, कभी धनका, कभी मित्रका, कभी मकानका, कभी पुत्रका अर्थात् किसी-न-किसीका आश्रय लेनेको बाध्य होना पड़ता है । इन आश्रयोंसे राग-द्वेष, ईर्ष्या-वैर आदि अनेकों दोष आ जाते हैं । फलस्वरूप वह अनन्त जन्मोंतक जन्म-मरणके चक्कर फँसकर कष्ट पाता रहता है; परंतु साधक जब तत्त्व-साक्षात्कार

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

भगवत्प्रेमके लिये एकमात्र भगवान्‌का आश्रय ले लेता है, तब वह भगवत्कृपासे बहुत शीघ्र ही इस जन्म-मरणके कुचक्रसे मुक्त हो परमात्माको प्राप्त कर लेता है। ज्ञानमार्गी विचारशील साधक जब किसीका भी आश्रय नहीं लेता, यहाँतक कि अपनी कहलानेवाली बुद्धिका भी, जिससे वह विचार करता है, आश्रय छोड़ देता है तो उस समय उसकी स्थिति स्वतः परमात्मामें ही होती है, क्योंकि परमात्माके अतिरिक्त अन्य कुछ है ही नहीं।

(मयि) 'अव्यभिचारिणी भक्तिः'का अर्थ है अन्तःकरणमें नाशवान् संसारकी महत्ता और स्पृहाका सर्वथा अभाव होकर अनन्यभावसे केवल भगवान्‌में ही आकर्षणका होना। संसारसे स्वार्थ-सम्बन्धका विच्छेद कर, अभिमान और आसक्ति आदि दोषोंको छोड़कर एकमात्र परमात्मासे ही प्रेम करना अर्थात् केवल भगवान्‌का ही भजन, चिन्तन और स्मरण करना भगवान्‌की अव्यभिचारिणी भक्ति है।

आकर्षणका ही दूसरा नाम भक्ति है। वह आकर्षण चाहे निज स्वरूपमें हो या परमात्मामें—दोनों एक ही हैं; क्योंकि सबका स्वरूप परमात्मा ही है।

जिस साधकमें ज्ञानके साथ-साथ भक्तिके संस्कार भी हों, उसके लिये यह साधन बहुत उपयोगी है। भक्तिपरायण साधक चाहे ज्ञानमार्गी हो अथवा कर्ममार्गी, यदि वह तत्त्वज्ञानका उद्देश्य रखकर एकमात्र भगवान्‌का ही आश्रय ग्रहण करता है, तो केवल इसी साधनसे तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति कर सकता है। यही कारण है कि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

भक्तिप्रधान कर्मयोगके अधिकारी अर्जुनके प्रति गुणातीत बननेके उपायोंमें भगवान् चौदहवें अध्यायके २६वें श्लोकमें इस अनन्ययोगसे अव्यभिचारिणी भक्ति करनेकी बात कहते हैं।

शङ्का—(क) इस प्रसङ्गमें तो भक्तिसे तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति कहते हैं, किंतु गीता १८। ५४-५५ श्लोकोंमें* ज्ञानसे भक्तिकी प्राप्ति भी कही गयी है, इन दोनों बातोंका समन्वय कैसे किया जाय।

समाधान—यहाँ इस प्रकार समझना चाहिये—जैसे भक्ति दो प्रकारकी होती है—एक साधन-भक्ति और दूसरी साध्यभक्ति। उसी प्रकार ज्ञानके भी दो भेद हैं—साधन-ज्ञान और साध्य-ज्ञान। साध्य-भक्ति और साध्य-ज्ञान—दोनों तत्त्वतः एक ही हैं (गीता ८। २२)। साधन-भक्ति और साधन-ज्ञान—ये दोनों साध्य-भक्ति अथवा साध्य-ज्ञानकी प्राप्तिके साधन हैं। अतः जहाँ भक्तिसे तत्त्वज्ञान अर्थात् साध्य-ज्ञानकी प्राप्तिकी बात कहते हैं, वह भी यथार्थ है एवं जहाँ साधन-ज्ञानसे प्रेमा-भक्ति अर्थात् साध्य-भक्तिकी प्राप्तिकी बात कही जाती है, वह भी यथार्थ ही है। अतः साधकको चाहिये कि वह जिस-जिसमें कर्म, ज्ञान और भक्तिके जो-जो संस्कार प्रधानतासे हों, उन्हींके अनुरूप साधनमें लगे। सावधानी केवल इतनी रखनी चाहिये कि उद्देश्य केवल परमात्मा ही रहें, प्रधान

* ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

तथा प्रकृतिके कार्य नहीं । ऐसा उद्देश्य होनेपर साधक उसी साधनसे परमात्माको प्राप्त कर लेता है ।

(ख) भगवान्‌ने ज्ञानके साधनोंमें अपनी भक्तिरूप साधनाको किस प्रयोजनसे बतलाया ? क्या ज्ञानयोगका साधक भगवान्‌की भक्ति भी करता है ?

समाधान—ज्ञानयोगके साधक दो प्रकारके होते हैं—(१) भाव-प्रधान (भक्ति-प्रधान) जिज्ञासु और (२) विवेक-प्रधान (ज्ञानप्रधान) जिज्ञासु ।

(१) भावप्रधान जिज्ञासु वह है, जो भगवान्‌का आश्रय लेकर तत्त्वको जानना चाहता है (१३ । १८) । प्रमाणस्वरूप दूसरे श्लोकमें 'माम्', 'मम', तीसरे श्लोकमें 'मे', इस (दसवें) श्लोकमें 'मयि' और अठारहवें श्लोकमें 'मद्भक्तः', 'मद्भावाय' पदोंका प्रयोग भक्ति-मिश्रित प्रसङ्गके कारण ही हुआ है । किंतु १२वेंसे ३४ वें श्लोकके प्रकरणमें एक भी 'अस्मद्'* शब्दका प्रयोग नहीं हुआ है । अतः यहाँ भक्ति-प्रधान जिज्ञासुका प्रसङ्ग होनेसे ज्ञानके साधनोंके अन्तर्गत भगवान्‌द्वारा भक्तिरूप साधनका वर्णन होना यथार्थ है ।

दूसरी बात यह भी हो सकती है कि जैसे भोजनमें सात्त्विकताकी दृष्टिसे पुष्टिके लिये गोरस—घी, मक्खन या दूधकी आवश्यकता प्रतीत होती है, वहाँ 'घी' और 'दूध' सात्त्विक भोजनके साथ मिलकर तथा अकेले-अकेले भी पुष्टि करनेवाले हैं, जैसे 'पातञ्जलयोगदर्शन'में परमात्माकी प्राप्तिके लिये योगके अष्टाङ्ग

* संस्कृतमें 'अस्मद्' शब्द 'मैं' या 'हम'का वाचक होता है ।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

साधनोंमें 'ईश्वरप्रणिधान' (सर्वस्व ईश्वरको अर्पण करके उनकी आज्ञाका पालन करना) अर्थात् भक्तिरूप नियम कहा है* एवं उसी 'योगदर्शन'में उसी भक्तिको 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' (१ । २३) स्वतन्त्ररूपसे भी कहा गया है, इसी प्रकार भगवान्‌की भक्ति ज्ञानके साधनोंमें सम्मिलित होकर परमात्माकी प्राप्तिमें सहायक होती है, एवं अकेली भी गुणातीत बना देती है (गीता १४ । २६) । इससे यह सिद्ध हो जाता है कि भगवान्‌की भक्तिरूप साधना अपनी एक अलग विशेषता रखती है । इस विशेषताके कारण भी ज्ञानके साधनोंमें भगवान्‌के द्वारा इस भक्तिरूप साधनाका वर्णन होना यथार्थ ही है ।

(२) विवेक-प्रधान जिज्ञासु वह है, जो सत्-असत्का विचार करते हुए तीव्र विवेक-वैराग्यसे युक्त होकर तत्त्वको जानना चाहता है (गीता १३ । १९–३४) ।

विचार करके देखा जाय तो आजकल आध्यात्मिक जिज्ञासाकी शिथिलता और भोगासक्तिकी बहुलताके कारण विवेक-प्रधान जिज्ञासु बहुत कम देखनेमें आते हैं । उन साधकोंके लिये, चाहे वे ज्ञानयोगसे साधना करनेवाले हों अथवा कर्मयोगसे, यह साधन

---

* यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि। (योगदर्शन २ । २९)

ये योगके आठ अङ्ग हैं, जिनमें नियम भी एक अङ्ग है । इस नियमके भी पाँच भेद हैं, जिनमें 'ईश्वरप्रणिधान' भी एक है—

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः । (१ । ३२)

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

परमोपयोगी है । अतः भक्तिका वर्णन करना यहाँ युक्तिसंगत ही प्रतीत होता है ।

उपाय—

केवल भगवान्‌को ही अपना मानना और भगवदाश्रय रखकर श्रद्धा-विश्वाससहित भगवन्नामका जप, कीर्तन, चिन्तन और स्मरण आदि करना ही भक्ति करनेका सुगम उपाय है ।

'भक्ति करनेसे भगवत्कृपासे भगवत्प्राप्ति सुगमतासे हो जाती है ।'

च—तथा ।

विविक्तदेशसेवित्वम्—एकान्त और शुद्ध देशके सेवन करनेका स्वभाव (सत्रहवाँ साधन) ।

एकान्त देश अर्थात् निर्जन वन, गिरि-गुहा आदिमें अन्य लोगोंसे मिलने-जुलनेका अवसर ही प्राप्त न होनेके कारण शरीररूप देशसे अपनेको पृथक् जाननेमें सहायता मिल सकती है तथा साधनामें किसी प्रकारका विघ्न पड़नेकी भी सम्भावना नहीं रहती । शुद्ध या पवित्र देश, जैसे—देवालय, तपोभूमि और गङ्गा-यमुना आदि नदियोंके पवित्र तटोंपर परमात्माके भजन-साधनमें सहायता मिलती है। वहाँ स्वाभाविक सात्त्विकता रहनेके कारण वृत्तियाँ स्वतः ही परमात्मामें लगती हैं ।

इस पदमें नाशवान् शरीररूप देशसे अपनेको पृथक् जाननेका भाव भी मान लेना चाहिये । केवल निर्जन वनमें जाकर एवं अकेले पड़े रहकर संतोष कर लेना कि मैं एकान्त देशमें हूँ, पूर्ण एकान्त

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

नहीं; क्योंकि सम्पूर्ण संसारका बीजरूप शरीर तो साथमें है ही। कहनेका तात्पर्य यह है कि जबतक सांसारिक वासनाएँ साथ हैं और पदार्थ, शरीर, इन्द्रियों आदिमें ममता है और मन सांसारिक विषयोंका चिन्तन करता है, तबतक एकान्तमें बैठना पूर्ण एकान्त नहीं कहा जा सकता। जबतक इस शरीरके साथ सम्बन्ध है, तबतक समस्त संसारके साथ सम्बन्ध बना ही हुआ है। तात्पर्य यह कि निर्जन वन-प्रदेशमें जानेका लाभ तभी है, जब देहाभिमानके नाशका उद्देश्य मुख्य हो।

अतः भगवान् यहाँ इस पदसे साधकको नाशवान् शरीररूप देशसे अपनेको पृथक् जाननेके लिये एकान्तदेश-सेवनका स्वभाव बनानेके लिये कह रहे हैं।

उपाय—

साधनावस्थाके प्रारम्भमें साधकको प्रतिदिन कुछ समयके लिये एकान्त और शुद्ध देशका सेवन करना चाहिये। फिर धीरे-धीरे एकान्तको महीनेमें एक-दो दिनके क्रमसे बढ़ाते हुए वर्षमें एक मास, दो मास, तीन मास—इस प्रकार क्रमशः बढ़ाते जाना चाहिये। इस तरह साधकको सर्वथा एकान्त और पवित्र देशमें रहकर परमात्माके भजन-स्मरणमें लग जाना चाहिये। ९वें श्लोकमें **'पुत्रदारगृहादिषु'** पद आया है और १०वें श्लोकमें एकान्त-सेवनका साधन बताया है। इससे ऐसा भाव परिलक्षित होता है कि यह साधन गृहस्थोंके लिये बताया जा रहा है। गृहस्थमें एकान्त मिल ही जाय—यह अपने वशकी बात नहीं, किंतु एकान्तकी उत्कट

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

अभिलाषा बनी रहनी चाहिये। विशेष रुचि बनी रहेगी तो एकान्त न मिलनेपर भी साधन होगा। परंतु यदि साधनमें रुचि ही न होगी तो एकान्तमें भी प्रमाद, आलस्य एवं निद्राकी वृद्धि होगी।

परमात्माकी प्राप्तिके लिये एकान्त देशमें रहनेके स्वभावसे वृत्तियाँ परमात्मामें लग सकती हैं और अन्तमें नाशवान् शरीररूप देशसे अपनेको पृथक् जानकर साधक वास्तविक एकान्तका अनुभव कर लेता है।

जनसंसदि अरतिः—सांसारिक मनुष्योंके समुदायमें प्रीतिका न होना (अठारहवाँ साधन)।

भगवान् यहाँ इन पदोंसे साधकको सांसारिक अर्थात् विषयासक्त मनुष्योंके साथ रति अर्थात् प्रीति न रखनेके लिये कह रहे हैं; क्योंकि उनमें रुचि होनेसे उनका सङ्ग होता है और उनके सङ्ग-दोषसे साधकके वैसे ही बन जानेकी सम्भावना रहती है, जो पतनका कारण है।

साधकका स्वभाव ऐसा होना चाहिये कि विषयी जन-समुदायमें उसकी रुचि ही न रहे। किंतु यदि परिस्थितिवश कहीं ऐसे जन-समुदायका संयोग हो जाय तो मनमें उद्वेग, घृणा, अशान्ति तथा उकताहट सर्वथा नहीं होनी चाहिये। जैसी परिस्थिति प्राप्त है, उसीमें अपनी साधनामें पूरी तत्परतासे लगे रहना चाहिये और सावधानीमें कमी भी नहीं रहनी चाहिये;[1] क्योंकि रागसे जितना बन्धन होता है, द्वेषादिसे उससे कहीं अधिक होता है।

---

१. बिधि बस सुजन कुसंगति परहीं। फनि मनि सम निज गुन अनुसरहीं॥
(मानस १। २। ५)

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

साधकोंका परस्पर मिलना, भगवत्-चर्चा आदि करना साधनामें उपयोगी हैं, इसलिये इनका यहाँ इस पदके अन्तर्गत निषेध नहीं है, प्रत्युत साधकोंकी उन्नतिमें सहायक होनेसे ये तो उनके जीवनमें अवश्य होने ही चाहिये।

उपाय—

साधनामें अधिक रुचि (तत्परता) और साधन-विरोधी बातोंमें अरुचि अर्थात् स्वभावसे सांसारिक—विषयी मनुष्योंकी संगतिके प्रति रुचि न होना ही इसका उपाय है।

विषयी मनुष्योंके समुदायसे उपरति होनेपर साधक पतनसे बहुत कुछ बच सकता है।

श्लोक—

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा॥ ११॥

भावार्थ—

अब 'ज्ञान'के बीस साधनोंमें अवशिष्ट अन्तिम दो साधनोंका वर्णन किया जा रहा है। ये दो हैं—(१) 'पारमार्थिक ज्ञानमें नित्यता' अर्थात् 'परमात्माके स्वरूपमें नित्य-निरन्तर स्थित रहना' तथा (२) 'तत्त्वज्ञानके अर्थका दर्शन' अर्थात् 'सब जगह परमात्मा परिपूर्ण हैं'—ऐसा देखना। तात्पर्य यह कि 'सभी परमात्मामें हैं', 'सभीमें परमात्मा है', 'सभी परमात्माके हैं' और 'सभी परमात्मस्वरूप हैं'—इनमेंसे किसी भी एक भावसे सर्वत्र परमात्माका ही अनुभव करना।

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jaipur

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

प्रस्तुत अध्यायके ७से ११ तकके श्लोकोंमें 'अमानित्वम्'से लेकर 'तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्' तक कुल बीस लक्षण बताये गये हैं। तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिमें हेतु होनेसे इन्हें साधनरूप 'ज्ञान'की संज्ञा दी गयी और जो भाव तथा आचरण इन साधनोंके विपरीत हैं, जैसे—मान-बड़ाईकी कामना, दम्भ और हिंसा आदि, उन्हें अज्ञानकी वृद्धिमें हेतु होनेके कारण 'अज्ञान' कहा गया है। अतः ऐसा समझना चाहिये कि जिनके भाव और आचरण ज्ञानके साधनोंके विरुद्ध हैं, उन्हें तत्त्वज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता।

अन्वय—

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम्, तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्, एतत्, ज्ञानम्, यत्, अतः, अन्यथा, (तत्,) अज्ञानम्, इति, प्रोक्तम् ॥ ११ ॥

पद-व्याख्या

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम्—अध्यात्मज्ञानमें नित्यता।

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा और समाधि—इन सब अवस्थाओंमें अपनी सत्ता नित्य-निरन्तर रहती है; अतः इन्हें अपनेसे पृथक् जानकर साधकको इनसे असङ्ग होना चाहिये। इन अवस्थाओंका जिसे ज्ञान है, वह इन अवस्थाओंसे पृथक् है; क्योंकि उसे इनके परिवर्तनका ज्ञान है और वह इनकी गणना कर सकता है।

यह सभीका अनुभव है कि प्रकृति और उसका कार्य—संसार निरन्तर बह रहा है। जीना मरनेमें जा रहा है। सर्ग प्रलयमें और महासर्ग महाप्रलयमें जा रहा है। संसार एक क्षण भी ठहरता नहीं है। उसकी निवृत्ति स्वतः हो रही है। प्रत्येक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

प्रवृत्ति (क्रिया) की निवृत्ति (समाप्ति) होती है—यह नियम है। निवृत्तिके समान कोई प्रवृत्ति (भजन, स्मरण, जप, ध्यान आदि) नहीं है। समाधि भी स्थिर नहीं रहती, उसमें भी निरन्तर क्रिया होती है। समाधिके प्रारम्भ होने और व्युत्थान (समाप्ति) होने—दोनोंमें बहुत अन्तर होनेका कारण यही है कि समाधिकालमें भी प्रारम्भसे व्युत्थानकी ओर जानेकी क्रिया निरन्तर होती है।

जानेवालेके साथ साधक स्वयं अपनी स्थिति मान लेता है; यही 'स्वरूप'के अनुभवमें मुख्य बाधा है। अतः साधकको दृढ़ विचार कर लेना चाहिये कि जो मिट रहा है, निवृत्त हो रहा है—उसके साथ मैं मिल ही नहीं सकता।

जो निरन्तर मिट रहा है, उसका विश्वास नहीं करना है एवं उसका आश्रय नहीं लेना है—ऐसा दृढ़ निश्चय होनेपर साधककी 'स्वरूप'में स्थिति स्वतः हो जायगी अर्थात् जो स्थिति वस्तुतः पहलेसे ही थी, उसका अनुभव हो जायगा। अतः साधकको चाहिये कि वह अपनी परिवर्तनशील दशामें अपनी (स्वरूपकी) स्थिति न मानकर—न देखकर अपने 'स्वरूप'को ही देखे। 'स्वरूप'तक सृष्टि कभी पहुँच नहीं सकती। वर्तमान स्थितिसे लेकर निर्विकल्प स्थितितक दशा अर्थात् अवस्था है, जो कि परिवर्तनशील है। 'स्वरूप' अवस्था नहीं, अपितु अवस्थातीत और अवस्थाका प्रकाशक (ज्ञाता) है। अवस्थातीत कोई अवस्था नहीं होती।

'अपने अस्तित्व' अर्थात् 'मैं हूँ' का अभाव कभी नहीं होता। 'मैं हूँ'—इन शब्दोंमें 'मैं' तो परिवर्तनशील है, जैसे—'मैं बालक

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

हूँ, मैं युवा हूँ'; किंतु 'हूँ' (अस्मि—अपनी सत्ता) में कभी कोई परिवर्तन नहीं होता। देश, काल और वस्तुके साथ सम्बन्ध माननेसे 'हूँ'की अनुभूति होती है, अर्थात् एकदेशीयता दीखती है; किंतु वास्तवमें 'हूँ'की 'है'से भिन्नता नहीं है और 'है' रूपसे एक परमात्मा ही हैं। परमात्मामें कभी परिवर्तन हुआ नहीं, होता नहीं, होगा नहीं और हो सकता नहीं। अतः परमात्मामें नित्य-निरन्तर स्थित रहना ही 'अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम्'का वास्तविक तात्पर्य है।

निरन्तर परिवर्तनशील, जड और नाशवान् संसारसे अपनेको पृथक् या भिन्न मानना तथा प्रत्येक देश, काल और अवस्थामें अनुस्यूत स्वयंका अनुभव करना भी 'अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम्'से परिलक्षित होता है।

अध्यात्मज्ञानमें नित्य-स्थितिके उपाय—

(१) तत्त्वज्ञ महापुरुषोंसे अध्यात्मज्ञानविषयक श्रवण, आध्यात्मिक ग्रन्थोंका पठन-पाठन, परमात्म-विषयक प्रश्नोत्तर, वार्तालाप और परमात्माका नित्य चिन्तन करना।

(२) विचारद्वारा सत्—आत्म-वस्तुको असत्—अनात्म-वस्तुसे पृथक् देखकर आत्म-वस्तुमें नित्य-निरन्तर स्थित रहना। (आत्म और अनात्म-वस्तुको पृथक्-पृथक् बतानेवाला ज्ञान ही 'अध्यात्म-ज्ञान' है।)

आत्म-वस्तु नित्य, चेतन, निर्विकार और अविनाशी है एवं उससे सर्वथा भिन्न अनात्म-वस्तुएँ—शरीरादि अनित्य, जड, विकारी और परिवर्तनशील हैं। अतः 'शरीर मैं हूँ' या 'शरीरादि मेरे

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

हैं'—ऐसा भाव मनमें कभी न आने देना चाहिये । विचारपूर्वक सावधानी रखकर आत्म-वस्तु अर्थात् परमात्मतत्त्वमें नित्य-निरन्तर अपनी स्थितिका अनुभव करना चाहिये । सात्त्विक ज्ञान, जिससे साधक नष्ट होते हुए चराचर भूतोंमें नाशरहित, विभागरहित और समरूपसे स्थित एक अविनाशी परमात्मतत्त्वका दर्शन करता है, नित्य-निरन्तर जाग्रत् रहना चाहिये । (गीता १८ । २०; १३ । १६, २७)

अध्यात्म-ज्ञानका विवेचन इस प्रकार भी किया जा सकता है—बालक, युवा, वृद्धावस्था तथा जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति आदि अवस्थाएँ एवं इनसे सम्बन्धित क्रियाएँ जिस ज्ञानके अन्तर्गत प्रतीत होती हैं; ऐसे ही उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयका होना भी जिस ज्ञानके प्रकाशमें प्रकाशित होते हैं, वह ज्ञान नित्य-निरन्तर अखण्ड एकरस रहता है; उसीको अपना स्वरूप समझकर अभिन्न भावसे नित्य-निरन्तर स्थित रहना **'अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम्'** है ।

अध्यात्म-ज्ञानमें नित्य स्थिति होनेपर परिच्छिन्नताका नाश होनेके कारण सम्पूर्ण अनात्म वस्तुओंमें नाशरहित, विभागरहित और समभावसे स्थित परमात्मतत्त्वका अनुभव हो जाता है ।

तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्—तत्त्व-ज्ञानके अर्थरूप परमात्माको ही देखना ।

तत्त्व-ज्ञान अर्थात् शुद्ध-बोध अथवा सच्चिदानन्दघन परमात्मा जैसे सब देश, काल, वस्तु और व्यक्तिमें समरूपसे विद्यमान है वैसे ही शरीर, मन और बुद्धिमें भी वह समानरूपसे सदा विराजमान

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

है। उस परमात्माको निकट-से-निकट अर्थात् मन-बुद्धि-अहंसे भी निकट एवं दूर-से-दूर समझी जानेवाली वस्तुओंमें सर्वत्र सदैव समभावसे परिपूर्ण देखना 'तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्' है।

संसार दृश्यरूपसे 'सत्'—जैसा प्रतीत होता है; किंतु विचार करनेपर यह परिवर्तनका पुञ्ज और असत् ही सिद्ध होता है जो किसी समयमें नहीं था, वह वस्तुतः कभी भी नहीं है अर्थात् मिथ्या है। गीताके दूसरे अध्यायके १६ वें श्लोकमें—'दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः' पदका भी यही भाव है। यही 'तत्त्वज्ञान'का अर्थदर्शन है।

तत्त्व-ज्ञान-दर्शनके उपाय—

(१) परिवर्तनशीलको देखनेसे स्वयंकी स्थिति अपरिवर्तनशीलमें स्वतः सिद्ध है, क्योंकि परिवर्तनको देखनेवाला कभी परिवर्तनशील नहीं होता, अतः परिवर्तनशील (संसार)में अपरिवर्तनशील (स्वयं)को देखकर परिवर्तनशीलसे सर्वथा विमुख हो जाय। परिवर्तनशीलकी स्वतन्त्र सत्ता ही न माने, तो स्वयंकी अपने स्वरूपमें स्थिति स्वतः है।

(२) जिन शरीर, पदार्थ, व्यक्ति, परिस्थिति आदिसे हमने संयोग मान रखा है, उनका वियोग हो रहा है। शरीरादि (संयोगसे) पहले भी नहीं थे और (वियोगके) बाद भी नहीं रहेंगे। यह सिद्धान्त है कि जो वस्तु पहले नहीं थी तथा बादमें भी नहीं रहेगी, वह वस्तुतः अब भी नहीं है—'आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा' (माण्डूक्यकारिका)। अतएव जिन शरीर,

CC-0. Jangamwadi Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

पदार्थ, व्यक्ति आदिसे हमने संयोग माना है, वस्तुतः उन शरीर, पदार्थ, व्यक्ति आदिका स्वयंसे निरन्तर ही वियोग हो रहा है। उनका स्वयंसे कोई सम्बन्ध नहीं है; क्योंकि स्वयं अपरिवर्तनशील और अविनाशी है, जबकि शरीर, पदार्थ आदि निरन्तर परिवर्तनशील और विनाशी हैं। अपरिवर्तनशीलका सम्बन्ध परिवर्तनशीलसे हो ही कैसे सकता है! अतएव शरीर पदार्थ, व्यक्ति, परिस्थिति आदिके संयोगकालमें ही वियोगका अनुभव कर ले (कि संयोग है ही नहीं) तो तत्काल तत्त्व-साक्षात्कार हो जाय—**'तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।'** (गीता ६ । २३)।

(३) मन, बुद्धि आदिसहित सम्पूर्ण संसार प्रतिपल परिवर्तनशील है अर्थात् निरन्तर बदलता रहता है, यह किसी भी क्षण स्थिर नहीं रहता। इस प्रकारकी नित्य-परिवर्तनशीलतापर दृष्टि रखना, जिससे नित्य-निरन्तर रहनेवाले परमात्म-तत्त्वकी जागृति बनी रहे।

(४) परमात्म-तत्त्व कभी बदलता नहीं। वह अटल, नित्य और एकरस है। उसका वर्णन **'नित्यः, सर्वगतः, स्थाणुः, अचलः, सनातनः,** एवं **कूटस्थम्, अचलम्, ध्रुवम्'** आदि पदोंसे हुआ है। साधकका लक्ष्य यदि पल-पल बदलते हुए संसारसे हटकर केवल इस अटल तत्त्वपर केन्द्रित हो जाय तो उसे अविलम्ब परमात्म-तत्त्वसे अभिन्नताका बोध हो सकता है; क्योंकि तत्त्वसे तो वह पहलेसे ही अभिन्न है, केवल भूलसे परिवर्तनशील और अनित्य संसारकी ओर अभिमुख हो यह अपने-आपको चलायमान (संसारी) मानने लग गया। अचल, कूटस्थ तत्त्वमें स्वाभाविक स्थिति होनेसे यह भूल दूर हो सकती है।

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

(५) परमात्माके विषयमें जाननेका सबसे पहला साधन श्रवण है। युक्तियों और प्रमाणोंसे वेद-शास्त्रोंमें वर्णित सिद्धान्तोंको भली प्रकार सुनकर उनका आशय समझना ही 'श्रवण' है। श्रवणके बाद मनन होता है। मनन है—सुने हुए विषयका सावधानीसे चिन्तन करना। निश्चय किये हुए विषयको पुष्ट करनेवाली युक्तियोंका ग्रहण और अन्यकी उपेक्षा अर्थात् परमात्मस्वरूप ही है, उनके अतिरिक्त समस्त संसार क्षणभङ्गुर है, अथवा वास्तवमें है ही नहीं—यह चिन्तन ही 'मनन' कहलाता है। मननके बाद जो निर्णय होता है, उसमें स्थिर रहना 'निदिध्यासन' है। इस प्रकार परमात्मविषयक निर्णयमें अटल स्थिति होनेपर 'सर्वत्र परमात्माका ही है'—ऐसा अनुभव हो जाता है।

'तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्' के सिद्ध होनेसे सर्वत्र एक परमात्म-तत्त्व ही है—ऐसा अनुभव हो जाता है।

एतत् ज्ञानम् यत् अतः अन्यथा (तत्) अज्ञानम् इति प्रोक्तम्—ऐसा कहनेका तात्पर्य है कि यह (पूर्वोक्त साधन-समुदाय) सब तो 'ज्ञान' है और जो इससे विपरीत है, वह 'अज्ञान' है।

तत्त्व-ज्ञानकी प्राप्तिमें सहायक होनेके कारण 'अमानित्वम्' आदि बीस साधनों (जिनका वर्णन सातवें श्लोकसे ग्यारहवें श्लोक-तक क्रमशः इस प्रकार हुआ है—सातवेंमें ९ साधन, आठवेंमें ३, नवेंमें ३, दसवेंमें ३ और ग्यारहवेंमें २) को यद्यपि ज्ञानके नामसे कहा गया है, तथापि वास्तविक ज्ञान इन साधनोंके अनुसार भाव और आचरण बनानेसे होता है। साधकोंके स्वभाव, श्रद्धा, सङ्ग,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

स्वाध्याय, पूर्वसंस्कार आदिकी भिन्नता होनेके कारण उपर्युक्त साधन-समुदायके पालनमें न्यूनाधिकता भी रह सकती है; किंतु साधनोंके विपरीत भाव और आचरणोंका त्याग साधकोंको करना ही होगा।

'अमानित्वम्' आदि गुणोंसे विपरीत यश-प्रतिष्ठादिकी कामना, दम्भ, हिंसा, क्रोध, कुटिलता, द्रोह, अपवित्रता, अस्थिरता, इन्द्रियोंकी लोलुपता, राग, अहंकार, आसक्ति, ममता, विषमता, अश्रद्धा और कुसङ्ग आदि दोष जीवनका पतन करनेवाले हैं। अतः ये सब 'अज्ञान' ही हैं। इनके रहते हुए साधकको विशुद्ध तत्त्वका ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिये साधकको इन सबका सर्वथा परित्याग कर देना चाहिये। दैवी-गुणोंके धारणमें किसी अंशमें कमी भी रह जाना इतना दोषपूर्ण नहीं, जितना साधनाके विपरीत (उल्टा) भाव और आचरणोंका विद्यमान रहना है; क्योंकि विपरीत भाव और आचरणोंके रहते हुए साधनामें प्रगति हो ही नहीं सकती।

यहाँ ज्ञानयोगमें जैसे 'अमानित्वम्' आदि बीस साधनोंके समुदायको 'साधनज्ञान'की संज्ञा दी गयी है, वैसे ही भक्तियोगमें 'अभयम्' आदि छब्बीस साधनोंके समुदायका 'दैवी-सम्पदा'के नामसे वर्णन किया गया है (१६ । १–३) क्योंकि ये दैव—परमात्माकी प्राप्तिके साधन हैं। तात्पर्य यह कि साधकोंद्वारा अपनी रुचि, श्रद्धा, विश्वास, योग्यता और स्वभावके अनुसार उपर्युक्त साधनोंको हृदयंगम कर आचरणमें लानेसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। यह ध्यान देनेकी बात है कि जैसे ज्ञान-साधनोंसे बोध होनेपर जीव ज्ञात-ज्ञातव्य हो जाता है, उसी प्रकार भक्तियोगमें

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

सगुण परमात्माका प्रेम प्राप्त होनेपर साधक प्राप्त-प्राप्तव्य हो जाता है ।

साधकोंको यह बात भलीभाँति जान लेनी चाहिये कि वे अपने विश्वास और अभिरुचिके अनुसार जिस साधनको भी अपनायेंगे उसीसे उन्हें निःसंदेह प्रभुकी प्राप्ति होगी ।

विशेषार्थ—

परमात्माका लक्ष्य देखकर परमात्माकी प्राप्तिके लिये किया हुआ छोटा-से-छोटा साधन भी उनकी प्राप्तिमें सहायक होता है, किंतु परमात्मा किसी साधन-विशेषसे प्राप्त किये (खरीदे) जा सकते हैं—यह मानना सर्वथा भूल है । परमात्माकी प्राप्ति केवल उनकी कृपासे ही होती है; साधन तो केवल असाधन अर्थात् शास्त्र-विरुद्ध विचार और क्रिया-कलापका सर्वथा त्याग करा देनेमें सहायक होते हैं । नाशवान्‌का किंचिन्मात्र भी आकर्षण, आदर और महत्त्व भगवत्प्राप्तिमें प्रधान बाधा है ।

साधकको यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि जिस प्रकार संसारको देखनेमें इन्द्रियाँ, अन्तःकरण आदि कारण हैं, उसी प्रकार ज्ञेय-तत्त्वको जाननेमें ये 'ज्ञान' नामसे वर्णित साधन-समुदाय भी कारण हैं । साधन-समुदाय परमात्म-तत्त्वका बोध करानेकी दृष्टिसे ही 'ज्ञान' और परमात्मतत्त्वसे विमुखता करानेवाले होनेके कारण पाखण्ड, घमंड, राग-द्वेष, क्रोध, हिंसा आदि विकार 'अज्ञान' नामसे कहे गये हैं ।

सम्बन्ध—साधन-ज्ञानद्वारा जो जाना जाता है, अब उस साध्य-तत्त्वका ६ श्लोकोंमें 'ज्ञेय'के नामसे निरूपण किया जाता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

है । भगवान्‌ने इसी अध्यायके दूसरे श्लोकमें जिसके लिये 'मां विद्धि' कहा है, उसी तत्त्वका वर्णन 'ज्ञेय' नामसे करते हैं—

श्लोक—

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥ १२ ॥

भावार्थ—

श्रीभगवान् कहते हैं—साधन-ज्ञानके द्वारा जो जानने योग्य है, जाना जा सकता है और जिसे अवश्य जानना चाहिये, उस ज्ञेय तत्त्वका विवेचन मैं अच्छी प्रकार करूँगा । इस ज्ञेय तत्त्वको जानकर मनुष्य अमरताका अनुभव कर लेता है । तात्पर्य यह है कि जीव स्वयं परमात्माका अंश होनेके कारण अमर तो है ही, परंतु नाशवान् शरीरादिके साथ एकता मान लेनेसे उसे उस अमरताका अनुभव नहीं होता । अपनेको शरीरादिसे सर्वथा पृथक् अनुभव करना ही उस अमरताके स्पष्ट अनुभवका सीधा उपाय है ।

श्लोकके उत्तरार्धमें परमात्माके निर्गुण निराकार स्वरूपके वर्णनमें भगवान् कहते हैं कि जो ज्ञेय तत्त्व है, वह अनादि है, परब्रह्म है, उसे न सत् कहा जा सकता है, न असत् । मनुष्य अपनी बुद्धिसे सत्-असत्का निर्णय करता है, परंतु वह ज्ञेय तत्त्व उन दोनोंसे ही विलक्षण है । बुद्धि 'प्रकृति'का कार्य होनेसे अपने कारण प्रकृतिको भी पूरी तरहसे नहीं समझ सकती, तब प्रकृतिसे अतीत उस विलक्षण परमात्मतत्त्वको तो समझ ही कैसे सकती है !

अन्वय—

यत्, ज्ञेयम्, तत्, प्रवक्ष्यामि, (च) यत्, ज्ञात्वा, अमृतम्,

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

अश्नुते, तत्, अनादिमत्, परम्, ब्रह्म, न, सत्, न, असत्, उच्यते ॥ १२ ॥

पद-व्याख्या —

यत् ज्ञेयम् तत् प्रवक्ष्यामि—जो अवश्य जाननेयोग्य है (जिसे साधन-ज्ञानके द्वारा जाना जा सकता है) तथा जिसको अवश्य जानना चाहिये, मैं उस परमात्मतत्त्वको भली प्रकार कहूँगा।

इन पदोंद्वारा भगवान् एक ओर तो ज्ञेय तत्त्वकी परोक्षता (दूरी या दुर्गमता) बता रहे हैं तथा दूसरी ओर उसी ज्ञेय तत्त्वको जिसे साधक परोक्ष मानता है, अवश्य ही जान लेनेके लिये प्रेरित कर रहे हैं। वे स्वयं इस ज्ञेय तत्त्वका भली प्रकार वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा भी करते हैं। ज्ञेय अथवा जाननेयोग्य तत्त्वका विवेचन करनेमें एक भाव यह भी हो सकता है कि अर्जुनकी दृष्टि अभीतक परमात्म (ज्ञेय) तत्त्वकी ओर नहीं गयी है, इसलिये भगवान्‌की इच्छा है कि अर्जुन इस ज्ञेय तत्त्वको जान जायँ।

मनुष्यको चाहिये कि उसे जो योग्यता और विवेक प्राप्त है, उसीसे वह ज्ञेय तत्त्वको प्राप्त करे।

'ज्ञेयम्' पदका अर्थ दो प्रकारसे किया जा सकता है—

(१) जो स्वाभाविक रूपसे जाननेमें आता है।

(२) जो जाना जा सकता है तथा जिसे अवश्य जानना चाहिये।

वैसे शरीरादि भी ज्ञेय-तत्त्व हैं, ये 'इदम्' (यह है), ऐसे निर्देशद्वारा जाने जाते हैं; किंतु इन्हें जानना इनसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेके लिये ही है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

जब ज्ञेय-तत्त्व (परमात्मा) को जाननेकी बात कही जाती है, तब उसका तात्पर्य उस तत्त्वकी प्राप्तिसे ही होता है। ज्ञेय तत्त्व शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धिका विषय न होनेके कारण इनके द्वारा नहीं जाना जा सकता, किंतु स्वयंसे ही जाना जा सकता है तथा उसे अवश्य जानना भी चाहिये; क्योंकि वही जाननेयोग्य है। उसे जान लेनेपर जानना पूर्ण हो जाता है। फिर कुछ भी जानना शेष नहीं रह जाता; जैसे 'रामचरितमानस'में गोस्वामीजी भगवान् श्रीरामकी माधुर्य-मूर्तिको देखनेके प्रसङ्गमें लिखते हैं—'अबधि देखिअहिं देखन जोगू' (१ । २२८ । ३) वैसे ही भगवान् इस पदसे जाननेयोग्य परमात्माको ही अवश्य जाननेके लिये कह रहे हैं और प्रतिज्ञा करते हैं कि मैं इस विषयको भलीभाँति कहूँगा (भगवान्‌से बढ़कर इस विषयका स्पष्ट विवेचन कर भी कौन सकता है)।

(च)—तथा।

यत् ज्ञात्वा अमृतम् अश्नुते—जिसे जानकर मनुष्य अमरताका अनुभव करता है।

इन पदोंसे भगवान् उस परमात्मतत्त्वको जाननेके परिणाम और माहात्म्यका वर्णन करते हुए कहते हैं कि उसे जान लेनेपर साधक सदाके लिये जन्म-मरणसे रहित हो जाता है। वास्तवमें तो वह (स्वयं) पहलेसे ही अमर है, किंतु उसने मरणशील शरीरादिके साथ एकता स्वीकार करनेके कारण अमृतस्वरूप होते हुए भी अपनेको जन्मने-मरनेवाला मान लिया है। परमात्मतत्त्वको जाननेसे यह भूल मिट जाती है। तत्पश्चात् वह अपने वास्तविक स्वरूपको पहचान लेता है अर्थात् अमरताका अनुभव कर लेता है।

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

तत् अनादिमत् परम् ब्रह्म—वह ज्ञेय तत्त्व अनादि है, परब्रह्म है।

इन पदोंमें भगवान् लक्षणसहित उस ज्ञेय तत्त्वके नामका वर्णन करते हैं। यहाँ 'अनादिमत्' लक्षण है और 'परम् ब्रह्म' नाम है।

'अनादिमत्'का अर्थ है—जिसका कोई आदि नहीं है अर्थात् जिसका किसी काल-विशेषसे प्रारम्भ नहीं होता और न जिसका कोई कारण ही है। यद्यपि प्रकृति और पुरुष दोनों अनादि हैं (१३। १९), तथापि प्रकृति और पुरुषमें साधारणतया भेद यह है कि प्रकृतिमें परिवर्तन होता है और पुरुष (परमात्मा)में कभी किंचिन्मात्र भी परिवर्तन नहीं होता। पुरुष अव्यय है (१३। ३१) और प्रकृतिको (गीतामें) कहीं भी अव्यय नहीं कहा गया है। प्रकृतिसे तीनों गुण तथा त्रिगुणात्मक पदार्थ और विकार उत्पन्न होते हैं, परंतु पुरुष वस्तुतः निर्विकार, निर्गुण या गुणातीत है। पुरुष प्रकृतिका नियामक है। अतः भगवान्‌ने इन पदोंद्वारा पुरुषकी प्रकृतिसे विलक्षण भिन्नताको बतानेके लिये ही 'अनादि' पदके साथ 'मत्' (प्रशंसार्थमें मतुप् प्रत्यय)का प्रयोग करके पुरुषको 'अनादिमत्' अर्थात् प्रकृतिका नियामक बतलाया है।

संसारका कारण प्रकृति भी अनादि ही है, किंतु परमात्मा उस प्रकृतिका भी आधार (आश्रय) है। अतः वह प्रकृतिसे महान् एवं विलक्षण है। यहाँ यह पद केवल पुरुष (परमात्मा) के लिये ही प्रयुक्त हुआ है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

'परम् ब्रह्म'—यह पद निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन परमात्माके नामका द्योतक है । वैसे 'ब्रह्म' पद गीताजीमें 'वेद' (३ । १५), 'ब्रह्मा' (८ । १६), 'प्रकृति' (१४ । ३-४) और 'ब्राह्मण' (१८ । ४२) के लिये भी प्रयुक्त हुआ है; किंतु यहाँ यह पद उनकी अन्योंसे विलक्षणता दिखलानेके लिये 'परम्' विशेषणके सहित आया है (जैसे 'अक्षरं ब्रह्म परमम्' ८ । ३)। तात्पर्य यह कि निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन परमात्मा सबसे विलक्षण है और उसे ही 'परम् ब्रह्म' शब्दोंसे सम्बोधित किया जाता है ।

न सत् न असत् उच्यते—(वह ज्ञेय तत्त्व) न सत् कहा जा सकता है और न असत् ही ।

इन पदोंसे भगवान् ज्ञेय तत्त्वकी विलक्षणताका वर्णन करते हैं। 'सत्' अर्थात् कार्य है और कार्य दृश्यरूप है अर्थात् इन्द्रियों और अन्तःकरणका विषय है । 'असत्' अर्थात् कारण, जो इन्द्रियों और अन्तःकरणका विषय नहीं है ।*

कारणरूपसे रहनेपर प्रकृति नहीं दीखती, इसीलिये वह 'असत्' कही जाती है, किंतु उसका कार्यरूप संसार (दृश्यरूपसे)

---

* दूसरे अध्यायके १६ वें श्लोकमें 'असत्'की सत्ता नहीं और 'सत्'का अभाव नहीं,—इस प्रकार सत्-असत्की व्याख्या की गयी है एवं सतरहवें अध्यायके २६ वें और २७ वें श्लोकोंमें 'सत्'की व्याख्या पाँच प्रकारसे की गयी है—(१) सत्यभाव, (२) श्रेष्ठभाव, (३) उत्तम कर्म, (४) यज्ञ, तप और दानमें स्थिति और (५) परमात्माके लिये किया जानेवाला कर्म । असत्की व्याख्या सतरहवें अध्यायके ही २८वें श्लोकमें हुई है । वहाँ अश्रद्धापूर्वक किये हुए यज्ञ, दान, तप, हवन और अन्य कर्मोंको असत् कहा गया है ।

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

दिखायी देता है, इसलिये उसे 'सत्' भी कहा जाता है। अभिप्राय यह कि प्रकृति 'सत्' और 'असत्' दोनों नामोंसे अभिहित होती है। वह नित्य-निरन्तर एकरस रहनेवाली नहीं है इसलिये भी 'असत्' है। ज्ञेय तत्त्व अखण्ड और एकरस रहता है। उसका अभाव कभी सम्भव ही नहीं, इसलिये उसे 'सत्-असत्'की संज्ञा नहीं दी जा सकती। जैसे रात और दिन दोनों एक-दूसरेके बाद आते रहते हैं, परंतु सूर्यमें न रात होती है न दिन, वहाँ तो प्रकाश ही सर्वदा विद्यमान रहता है। रातकी अपेक्षासे ही हम दिन कहते हैं। यदि रातकी सत्ता न रहे तो हम न दिन कह सकते हैं न रात। वैसे ही ज्ञेय तत्त्वमें 'असत्' की सत्ता न होनेसे वह 'सत्-असत्' दोनों ही नामोंसे सम्बोधित नहीं किया जा सकता। यहाँ इन पदों-द्वारा यह कहना कि 'ज्ञेय तत्त्व'को न 'सत्' कहा जा सकता है, न 'असत्'—निषेध-मुखसे वर्णन होनेके कारण उचित ही है; क्योंकि सत-असत्का निर्णय बुद्धि करती है एवं ऐसा कहना भी वहीं होता है, जहाँ वह मन, वाणी और बुद्धिका विषय होता है, किंतु ज्ञेय तत्त्व (परमात्मा) बुद्धिमें आयी हुई बातसे ही नहीं, प्रत्युत बुद्धिसे भी अतीत है; अतः उसकी 'सत्-असत्' संज्ञा नहीं हो सकती।

गोस्वामी तुलसीदासजी लिखते हैं—'राम सच्चिदानंद दिनेसा' (मानस १। ११५। ३) 'भगवान् श्रीराम सच्चिदानन्दघन हैं और दिनेश (सूर्य)के सदृश हैं, अर्थात् दिन और रात दोनोंसे विलक्षण केवल प्रकाशरूप हैं।' इसी प्रकार भगवान् यहाँ इन पदोंसे कहते हैं कि वह ज्ञेय तत्त्व 'सत्-असत्' दोनोंसे विलक्षण है।

CC-0. RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

गीताके नवें अध्यायके १९वें श्लोकमें विधिमुखसे वर्णन करते हुए श्रीभगवान् कहते हैं—'सदसच्चाहमर्जुन' अर्थात् सत्-असत् भी मैं ही हूँ। इसी तरह ग्यारहवें अध्यायके ३७वें श्लोकमें भगवान्‌की स्तुति करते हुए अर्जुन कहते हैं—'सदसत्तत्परं यत्' अर्थात् सत्-असत् और उन दोनोंसे परे भी आप ही हैं; क्योंकि परमात्माके अतिरिक्त किसीकी भी स्वतन्त्र सत्ता सम्भव नहीं है।

उपर्युक्त तीनों प्रकारसे 'ज्ञेय तत्त्व'का जो वर्णन हुआ है, उसका तात्पर्य यह है कि सब कुछ परमात्मा ही है—'वासुदेवः सर्वमिति' (७। १९)। विविध प्रकारसे समझानेका कारण मनुष्योंके स्वभाव, रुचि आदिकी विभिन्नता ही है। जो व्यक्ति जिस प्रकारसे समझ सके, उसके लिये उसी प्रकारकी शैलीमें तत्त्वका विवेचन किया जाना उचित है, तभी वह सुगमतासे समझ पाता है।

सम्बन्ध—

ज्ञेय तत्त्व गहन है, इसलिये साधकोंको उसका यथार्थ ज्ञान करानेके विचारसे अब उसके सगुण-निराकाररूपसे सर्वव्यापकत्व आदि लक्षण बतलाकर पुनः विस्तारसे वर्णन करते हैं—

श्लोक—

सर्वतःपाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १३ ॥

भावार्थ—

सगुण-निराकार-स्वरूपका विवेचन करते हुए श्रीभगवान् कहते हैं कि उन (परमात्मा)के हाथ और पाँव (पैर) सब जगह

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

हैं। सब जहग उनकी आँखें, सिर और मुख हैं। सभी जगह उनके कान हैं। वे सम्पूर्ण संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित हैं। जहाँ कोई उन्हें अर्पण करना चाहे, वहीं उनके हाथ हैं, जहाँ कोई उनका पूजन करना चाहे, वहीं उनके चरण हैं; जहाँ कोई उन्हें दीपक दिखाये, वहीं उनके नेत्र हैं; जहाँ कोई उन्हें पुष्प चढ़ाये, वहीं उनका मस्तक है और जहाँ कोई उन्हें भोग लगाये, वहीं उनका मुख है। स्तुति सुननेके लिये उनके कान भी सर्वत्र हैं; क्योंकि बाहर-भीतर सभी जगह वे ही हैं। तात्पर्य यह कि उनकी ग्रहण-शक्ति और चलन-शक्ति सर्वत्र व्याप्त है।

अन्वय—

तत्, सर्वतःपाणिपादम्, सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्, सर्वतःश्रुतिमत्, (अस्ति), (यतः), लोके, सर्वम्, आवृत्य, तिष्ठति ॥ १३ ॥

पद-व्याख्या—

तत् सर्वतः पाणिपादम्—सब जगह उनके हाथ और पैर हैं। साधक जहाँ-कहीं भी अपनी रक्षा चाहता है, वहीं वे अपने सर्वसमर्थ हाथोंसे उसकी रक्षा करते हैं। इसी प्रकार भक्त जहाँ भी उनका पूजन एवं ध्यान करना चाहता है, भगवान् वहीं उसका पूजन और ध्यान स्वीकार करते हैं।

सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्—सब जगह (उनके) आँखें, सिर और मुख हैं।

सब जगह भगवान्‌की आँखें होनेका भाव यह है कि वे सर्वज्ञ हैं, इसलिये सभीके मनके भावों और क्रियाओंको देखते हैं।

CC-0. Vasishtha Tripathi Collection. By RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

जब मनुष्यके देखते हुए भी बुरे काममें प्रवृत्त होनेमें संकोच होता है, तब साक्षात् परमात्माके देखते हुए साधक अनुचित चिन्तन या कार्यको कर ही कैसे सकता है ? अतः मनमें किसी प्रकारका भाव आये या क्रिया करे तो साधकको यह याद रखना चाहिये कि प्रभु सर्वज्ञ हैं, वे सब कुछ देख रहे हैं । कोई यदि पुष्प आदिद्वारा उनका पूजन करना चाहे तो उनका सिर भी सब जगह है और जहाँ-कहीं भी कोई सगुण उपासक उनको भोग लगाना चाहे, वहीं उनका श्रीमुख भी विद्यमान है ।

निष्कर्ष यह कि भगवान्‌के सिर, मुख और नेत्र आदि सर्वत्र विद्यमान हैं । इसीलिये जो सगुणोपासक शुद्ध हृदयसे उन्हें तिलक, प्रसाद (नैवेद्य), दीप आदि अर्पित करता है, उसे वे अवश्य ग्रहण करते हैं—ऐसा दृढ़ विश्वास होनेपर साधक किसीके साथ कटुतापूर्ण व्यवहार नहीं करेगा । इस प्रकार साधककी जिह्वा, नेत्र आदि इन्द्रियोंका संयम अनायास ही सम्पन्न हो जायगा और उसे आन्तरिक प्रसन्नताकी अनुभूति होगी ।

सर्वतःश्रुतिमत् (अस्ति)—सब जगह ही (उनके) कान हैं

साधक जहाँ और जिस भाषामें उनकी स्तुति करना चाहता है, उसे वे उसी रूपमें वहीं सुनते हैं और स्वीकार करते हैं । वे केवल मनुष्योंकी ही नहीं, प्रत्युत पशु-पक्षियोंकी भाषा भी जानते और सुनते हैं । तात्पर्य यह कि परमात्म-स्वरूप अलौकिक है । जीवोंके बोलनेका भाव जहाँसे उत्पन्न होता है, वहाँ अन्तर्यामी परमात्मा विराजमान हैं और उनके भावोंको जान

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

हैं, फिर भाषाको समझनेमें आश्चर्य ही क्या है ! जहाँ भी उनके पूजन या उनको कोई वस्तु समर्पित करनेका भाव उत्पन्न होता है, वहीं उस भावके अनुसार वे उस वस्तुको स्वीकार करनेके लिये पूर्णरूपसे विराजमान होते हैं ।

मूल श्लोकमें 'त्वक्' और 'नासिका'—इन दो इन्द्रियोंका वर्णन नहीं हुआ है, उन्हें भी उपलक्षणसे समझ लेना चाहिये ।

(यतः)—क्योंकि (वे) ।

लोके सर्वम् आवृत्य तिष्ठति—संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित हैं ।

जैसे सोनेकी डलीमें सर्वत्र सब प्रकारके गहने व्याप्त हैं, पत्थरमें सब प्रकारकी मूर्तियाँ संनिहित हैं, रंगमें सब प्रकारके चित्र विद्यमान हैं और स्याहीमें सब प्रकारकी लिपियाँ छिपी हैं, अर्थात् कारीगर, चित्रकार और लेखक जैसा बनाना, करना और लिखना चाहता है, वैसा ही बना सकता, कर सकता और लिख सकता है, वैसे ही परमात्मा सब जगह व्याप्त हैं, इसलिये साधक उन्हें (सगुण या निर्गुण) जिस रूपमें और जहाँ प्राप्त करना चाहे, उस रूपमें और वहीं प्राप्त कर सकता है ।

विशेषार्थ—

जैसे सर्वत्र उनके हाथ हैं, उनसे वे ग्रहण या रक्षण जो भी करना चाहें, कर सकते हैं, वैसे ही पैर, आँख, सिर, मुख और कान आदिसे भी वे सभी क्रियाएँ किसी भी देश-कालमें कर सकते हैं । तात्पर्य यह कि सब जगह परमात्माके सभी अङ्ग परिपूर्ण

CC-0. Jangamwadi Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

हैं और वे अपने प्रत्येक अङ्गसे सब प्रकारकी क्रियाएँ कर सकते हैं । उनमें सम्पूर्ण इन्द्रियोंकी शक्तियाँ सब स्थलोंपर परिपूर्ण हैं। संक्षेपमें कहा जा सकता है कि ज्ञेयस्वरूप परमात्मा सबके साक्षी, सब कुछ देखनेवाले तथा सबकी पूजा-स्तुति और भोग स्वीकार करनेकी शक्ति रखते हैं । एक भाव यह भी लिया जा सकता है कि चराचर विराट् भगवान्‌का ही रूप होनेसे समस्त जीवोंके हाथ, पैर, आँख, सिर, मुख आदि अवयव और उनके द्वारा होनेवाली क्रियाएँ सभी विराट् भगवान्‌की ही हैं । ऐसा यथार्थ एवं दृढ़ विश्वास होनेसे जीवमात्रके द्वारा अनुकूल, प्रतिकूल क्रियाएँ होनेपर भी साधकके अन्तःकरणमें राग-द्वेष न होकर 'मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत' (मानस ४ । ३) का भाव रहनेसे आनन्द-ही-आनन्द होगा ।

सम्बन्ध—

ज्ञेयस्वरूप परमात्माकी (सब ओर हाथ, पैर, नेत्र, मुखवाले कहकर) सर्वज्ञता बतानेके पश्चात् सगुण-निर्गुण तत्त्वकी एकता बताते हुए अब उनके अलौकिक स्वरूपका निरूपण करते हैं—

श्लोक—

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥१४॥

भावार्थ—

इस श्लोकमें ज्ञेय-तत्त्वके सगुण और निर्गुण स्वरूपकी एकताका वर्णन करते हुए भगवान् कहते हैं कि वे (परमात्मा) सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे रहित होते हुए भी उनके विषयोंके प्रकाशक, आसक्तिरहित

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

होते हुए भी सम्पूर्ण संसारको धारण-पोषण करनेवाले और सर्वथा निर्गुण होनेपर भी गुणोंके भोक्ता हैं।

श्रुतिमें भी कहा है—

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
(श्वेता० ३ । १९)

—'वे परमात्मा हाथ-पैरोंसे रहित होनेपर भी ग्रहण करनेमें समर्थ तथा वेगपूर्वक चलनेवाले हैं। वे नेत्रोंके बिना ही देखते हैं और कानोंके बिना ही सुनते हैं अर्थात् उनका स्वरूप अलौकिक

रामचरितमानसमें भी ऐसा ही वर्णन मिलता है—

बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ बिधि नाना॥
आनन रहित सकल भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी॥
तन बिनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहइ घ्रान बिनु बास असेषा॥
(१ । ११७ । ३-४)

उनका स्वरूप इतना अलौकिक है कि अन्य जीवोंकी भाँति इन्द्रिययुक्त न होनेपर भी वे इन्द्रियोंके विषयोंको ग्रहण करनेमें पूर्णतया समर्थ हैं।

अन्वय—

सर्वेन्द्रियविवर्जितम्, सर्वेन्द्रियगुणाभासम्, च, असक्तम्, एव, सर्वभृत्, च, निर्गुणम्, गुणभोक्तृ ॥ १४ ॥

पद-व्याख्या—

सर्वेन्द्रियविवर्जितम् सर्वेन्द्रियगुणाभासम्—(परमात्मा) सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे रहित होते हुए भी सम्पूर्ण इन्द्रियोंके विषयोंको प्रकाशित करनेवाले हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे रहित होते हुए भी शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध आदि जितने भी इन्द्रियोंके गुण हैं, परमात्मा उन सभीके प्रकाशक हैं अर्थात् जाननेवाले हैं। सम्पूर्ण इन्द्रियोंके कारणस्वरूप प्रकृतिका आधार एवं नियामक होनेसे वे सम्पूर्ण इन्द्रियोंके प्रकाशक (सत्तास्फूर्ति देनेवाले) भी कहे गये हैं। तात्पर्य यह कि उनका स्वरूप सर्वथा अलौकिक है। वे संसारके जीवोंकी भाँति हाथ, पैर, नेत्र, सिर, मुख और कान आदि इन्द्रियोंसे युक्त नहीं हैं, किंतु सर्वत्र उन-उन इन्द्रियोंके विषयोंको ग्रहण करनेमें सर्वथा समर्थ हैं। इसीलिये उन्हें सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे रहित भी कहा गया है और सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे युक्त भी।

च—तथा

असक्तम् एव सर्वभृत् च निर्गुणम् गुणभोक्तृ—आसक्तिरहित होते हुए भी सम्पूर्ण संसारका धारण-पोषण करनेवाले तथा सर्वथा निर्गुण होते हुए भी गुणोंके भोक्ता हैं।

परमात्मा जीवोंकी तरह संसारमें आसक्त नहीं हैं। वास्तवमें वे सम्पूर्ण संसारसे निर्लिप्त हैं, तथापि अपनी अलौकिक शक्तिके बलसे सम्पूर्ण संसारका भरण-पोषण करते हैं। वे सम्पूर्ण गुणोंसे भी सर्वथा अतीत हैं अर्थात् निर्गुण हैं। सूत्ररूपसे यह भी कहा जा सकता है कि वे गुणोंके भोक्ता होते हुए भी जीवोंकी भाँति प्रकृतिके गुणोंसे लिप्त नहीं हैं। वे गुणोंसे सर्वथा अतीत होकर भी समस्त गुणोंके भोक्ता हैं। नवें अध्यायके चौथे और पाँचवें श्लोकमें भगवान्‌ने इसी बातको दूसरे रूपमें कहा है—'मुझ निराकार परमात्मासे यह सम्पूर्ण संसार (जलसे बर्फके सदृश) परिपूर्ण है

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

और संकल्पके आधारसे सब भूत मेरे अन्तर्गत स्थित हैं; किंतु वास्तवमें मैं उनमें स्थित नहीं हूँ और वे सब भूत भी मुझमें स्थित नहीं हैं। सर्वथा निर्गुण होते हुए भी उनमें सगुणके कार्य विद्यमान हैं, यही परमात्माके स्वरूपकी अलौकिकता है। तात्पर्य यह कि एक परमात्मा ही निर्गुण-सगुण एवं साकार-निराकार सब कुछ हैं।

सम्बन्ध—

अब भगवान् ज्ञेय-तत्त्वका लक्ष्य करानेके लिये अगले श्लोकमें ज्ञेय-तत्त्वका पूर्णतया संक्षिप्त वर्णन करते हैं—

श्लोक—

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥ १५ ॥

भावार्थ—

इस श्लोकमें भगवान्‌के समग्र रूपका वर्णन हुआ है। वे परमात्मा सम्पूर्ण प्राणियोंके बाहर और भीतर परिपूर्ण हैं एवं चर-अचर प्राणियोंके रूपमें भी वे ही हैं। वे ही दूर-से-दूर तथा समीप-से-समीप भी हैं। इस प्रकार परिपूर्ण होनेपर भी वे अत्यन्त सूक्ष्म हैं, इसलिये वे अविज्ञेय हैं अर्थात् बुद्धि, मन और इन्द्रियोंके द्वारा उन्हें जाना नहीं जा सकता।

अन्वय—

भूतानाम्, बहिः, अन्तः, च, चरम्, अचरम्, एव, च, दूरस्थम्, च, अन्तिके, तत्, च, तत्, सूक्ष्मत्वात्, अविज्ञेयम् ॥ १५ ॥

विशेषार्थ—

यह श्लोक साधकोंके लिये बहुत उपयोगी है। इसमें परमात्माका निरन्तर चिन्तन करनेके लिये अत्यन्त उपयुक्त विषयका

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

विशेषरूपसे वर्णन हुआ है । इन्द्रियोंद्वारा जिन प्राणि-पदार्थोंका अनुभव किया जाता है, मनमें जो संकल्प उत्पन्न होते हैं और बुद्धिसे प्राणिपदार्थ, कर्तव्य और अकर्तव्यका जो निश्चय होता है, उन सबके बाहर और भीतर तत्त्वतः वासुदेव ही व्याप्त हैं और वे सब स्वयं भी वासुदेव ही हैं । यह श्लोक इसी भावका उद्बोधक है । यदि इस श्लोकमें वर्णित भाव (कि केवल परमात्मा ही सब भूतोंके बाहर-भीतर परिपूर्ण हैं,) साधकके हृदयमें निरन्तर जाग्रत रहे तो उसे व्यवहारकालमें भी परमात्माका ध्यान बना रहेगा और एकान्तमें तो उस भावकी और भी दृढ़ता होगी । जैसे सोनेके आभूषणोंमें नाम, रूप, आकृति और उपयोग—चारों दिखायी देते हैं, परंतु तत्त्वसे तो वे सब सोनामात्र ही हैं ।

पद-व्याख्या—

भूतानाम् बहिः अन्तः च चरम् अचरम् एव—सम्पूर्ण प्राणियोंके बाहर-भीतर वे परमात्मा ही हैं और चर-अचर प्राणियोंके रूपमें भी वे ही हैं ।

बर्फद्वारा निर्मित घट यदि गङ्गाजीमें जल भरकर रख दिया जाय तो उसके बाहर और भीतर जल-ही-जल होगा तथा वह स्वयं भी बर्फका बना होनेसे जल ही है । इन पदोंसे भगवान् बतलाते हैं कि ठीक इसी प्रकार जितने भी चर-अचर प्राणी देखने-सुनने और समझनेमें आते हैं, उन सबके बाहर और भीतर परमात्मा ही व्याप्त हैं तथा उन्हींसे सम्पूर्ण सृष्टिकी रचना हुई है और अन्तमें उन्हींमें सब लीन हो जाते हैं, इसलिये सम्पूर्ण चर-अचर प्राणी भी स्वयं परमात्मा ही हैं ।

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

च—एवं ।

दूरस्थम् च अन्तिके तत्—दूर-से-दूर तथा समीप-से-समीप भी वे ही परिपूर्ण हैं ।

मनुष्य देश और कालके कारण ही दूरी और निकटताका अनुभव करता है, किंतु सम्पूर्ण देश, काल और वस्तुएँ परमात्माके अन्तर्गत और उनके संकल्पसे ही टिकी हैं, अतः वे ही सर्वत्र व्यापक हैं । वे दूर-से-दूर एवं समीप-से-समीप स्थित पदार्थों एवं प्राणियोंमें परिपूर्ण हैं ।

जैसे शरीर सबसे निकट है, उससे परे भूमण्डल है, उससे भी परे वायु, आकाश-मण्डल आदि हैं, उनसे परे प्रकृति है और उससे परे परमात्मा हैं, इसलिये वे देशकी दृष्टिसे दूर-से-दूर हैं । परमात्मा भूतकालमें थे, अब भी हैं और दूर भविष्यमें भी रहेंगे । इसलिये वे दूर-से-दूर हैं और वर्तमान कालका ज्ञाता होनेसे समीप-से-समीप भी हैं ।

मनुष्य जिन शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहं आदिमें अपनेपनका अनुभव करता है, उन सबके भीतर और बाहर भी परमात्मा परिपूर्ण हैं । मनुष्य जितना अपने-आपको नहीं जानता, परमात्मा उससे भी अधिक उसे जानते हैं; क्योंकि वे उसके अत्यन्त समीप हैं । श्रद्धा होनेसे वे समीप-से-समीप हैं और अश्रद्धाके कारण दूर-से-दूर हैं ।

नाशवान् भौतिक पदार्थोंके संग्रह और सुखभोगकी अभिलाषा करनेवालोंके लिये परमात्मा दूर-से-दूर हैं, किंतु जो केवल परमात्माके

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

ही भक्त हैं, उनके लिये वे अत्यन्त समीप हैं। अतः साधकको नाशवान् भौतिक पदार्थोंके संग्रह और उनसे सुख-भोगकी इच्छाका त्याग कर केवल अविनाशी परमात्माको जाननेकी ही अभिलाषा जाग्रत् करनी चाहिये; क्योंकि उत्कट अभिलाषा होनेपर परमात्माकी अभिन्नताका अनुभव हो ही जाता है। तत्त्वतः वे पहलेसे ही अभिन्न हैं, किंतु संसारमें राग होनेके कारण ही दूर दिखायी देते हैं।

च—और।

तत् सूक्ष्मत्वात् अविज्ञेयम्—वे अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे अविज्ञेय हैं अर्थात् इन्द्रिय, मन और बुद्धिके ज्ञानके विषय नहीं हैं। इसलिये इनके द्वारा जाननेमें नहीं आते।

शङ्का—जब इन्द्रिय, मन और बुद्धिके द्वारा परमात्मा जाननेमें नहीं आते तो सम्भव है कि परमात्माका अस्तित्व ही न हो अर्थात् उनका अभाव ही हो।

समाधान—'सूक्ष्मत्वात्' पदका तात्पर्य यह है कि परमात्मा अभावके कारण अविज्ञेय नहीं हैं, प्रत्युत उनके अविज्ञेय होनेमें उनका अत्यन्त सूक्ष्म होना ही हेतु है।

शङ्का—जब परमात्मा इतने समीप हैं तो फिर दिखते क्यों नहीं देते? यदि वे अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे अविज्ञेय हैं तो फिर किस उपायसे देखा जाय?

समाधान—मनुष्यको जहाँ-कहीं जो कुछ भी दिखायी देता

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

है, वह सब परमात्मा ही हैं;* क्योंकि वस्तुतः सब परमात्मासे ही परिपूर्ण हैं (७ । १९), किंतु सूक्ष्म दृष्टि न होनेसे वह परमात्माको पहचान नहीं पाता । जैसे 'श्रीमद्भगवद्गीता'—शब्द मोटे-मोटे बड़े अक्षरोंमें अङ्कित होनेपर भी निरक्षर मनुष्यको केवल टेढी-मेढ़ी लकीरोंके रूपमें ही दिखायी देता है, उसे अक्षरोंका बोध नहीं होता, किंतु पढ़े-लिखे छोटे-से बालकको उन अक्षरोंका बोध होता है और वह उसे 'श्रीमद्भगवद्गीता' नामसे जान भी लेता है । व्याकरणके ज्ञाताको उसमें प्रकृति-प्रत्यय भी दिखायी देते हैं । गीताके पठन-पाठनके अभ्यासी मनुष्यको इसमें वर्णित विभिन्न विषयोंकी स्मृति भी हो आती है । गीताके गम्भीर भावोंको जाननेवाले साधकको इसमें कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोगके गूढ़ अर्थ भी दिखायी देने लगते हैं । इस प्रकार एक ही शब्द 'श्रीमद्भगवद्गीता'में जिसकी जितनी सूक्ष्म दृष्टि है, उसे उतनी ही विशेषता दिखायी देती है । इससे यह सिद्ध हुआ कि किसी वस्तुको तत्त्वसे न जाननेमें सूक्ष्म दृष्टिका अभाव ही हेतु है, न कि उस वस्तुका अभाव । जब स्थूल-विषय एवं सांसारिक पदार्थ इन्द्रियोंके विषय होते हुए भी सूक्ष्म दृष्टिके अभावमें तत्त्वसे नहीं जाने जा सकते, तब फिर प्रकृतिसे

---

* श्रीभगवान् कहते हैं—

मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः ।
अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा ॥
(श्रीमद्भागवत ११ । १३ । २४)

'मनसे, वाणीसे, दृष्टिसे तथा अन्य इन्द्रियोंसे भी जो कुछ ग्रहण किया जाता है, वह सब मैं ही हूँ, मुझसे भिन्न और कुछ नहीं है । यह सिद्धान्त आपलोग तत्त्वविचारके द्वारा समझ लीजिये ।'

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

अतीत अत्यन्त सूक्ष्म परमात्माको तो जाना ही कैसे जा सकता है ! इसलिये सर्वत्र परिपूर्ण परमात्माको जाननेके लिये यह आवश्यक है कि साधक परमात्माको सर्वत्र परिपूर्ण मान ले । ऐसा 'मानना' भी जाननेकी तरह ही है । जैसे (बोध होनेपर) ज्ञान (जानने) को कोई मिटा नहीं सकता, वैसे ही 'परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण हैं'—इस मान्यता (मानने) को कोई मिटा नहीं सकता । सांसारिक मान्यताओं—'मैं ब्राह्मण हूँ', 'मैं साधु हूँ' आदिको जब कोई मिटा नहीं सकता, तब पारमार्थिक मान्यताओंको, जो कि वास्तविक हैं, कौन मिटा सकता है ! तात्पर्य यह है कि 'मानना' भी एक स्वतन्त्र साधन है । जाननेकी तरह माननेकी भी बहुत महिमा है । 'परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण हैं'—ऐसा दृढ़तापूर्वक मान लेनेपर इन्द्रिय, मन, बुद्धिसे परे जो अत्यन्त सूक्ष्म परमात्मा हैं, उनका (स्वयंसे) अनुभव स्वतः हो जाता है ।

अविज्ञेयको जाननेका उपाय—

संसारमें जो कुछ भी दिखायी देता है, वह प्रतिक्षण परिवर्तनशील और नाशवान् है । विचार करनेसे सभीको इसका अनुभव भी होता है । यह कौन नहीं जानता कि जन्मसे लेकर आजतक यह शरीर प्रतिक्षण बदलता रहा है । अपने इस अनुभवकी वास्तविकताको समझकर इसपर दृढ़ रहनेसे जो संसारके आधार हैं एवं जिनसे संसार सत्य दिखायी देता है—

जासु सत्यता ते जड़ माया । भास सत्य इव मोह सहाया ॥
(मानस १ । ११६ । ४)

वे परमात्मा सर्वत्र दिखायी देने लगते हैं ।

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

साधकोंद्वारा एक बहुत बड़ी भूल यह होती है कि वे सुनते, पढ़ते और विचार करते समय तो अपने अनुभवको महत्त्व देते हैं, किंतु अन्य समयमें उसकी उपेक्षा कर देते हैं। इसी भूलके फलस्वरूप वे परमात्मतत्त्वका अनुभव नहीं कर पाते। अतः उन्हें चाहिये कि वे संसारको प्रतिक्षण परिवर्तनशील और क्षयधर्मा मानें और अपनी इस मान्यतापर दृढ़ रहते हुए अपने इस अनुभवके महत्त्वको कम न होने दें। तात्पर्य यह कि वस्तुओंकी सत्ता जिस मूल आधाररूप सत्ताके कारण है, साधक केवल उसी (आधाररूप) सत्ताको देखे।

सम्बन्ध—

अब ज्ञेय-तत्त्वमें भगवान् अपने सर्वव्यापी स्वरूपका वर्णन करते हुए अपनेको ही उत्पन्न-पालन-संहार करनेवाला बतलाते हैं।

श्लोक—

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥ १६ ॥

भावार्थ

भगवान् अपने सर्वव्यापी स्वरूपको बतलाते हुए यह समझा रहे हैं कि वे परमात्मा सम्पूर्ण प्राणियोंके बाहर-भीतर चारों ओर एकरूपसे रहते हुए भी साधारण दृष्टिसे विभक्तकी भाँति प्रतीत होते हैं, पर वास्तवमें वे विभागरहित (अविभक्त) हैं। भगवान्‌ने जिस 'ज्ञेय-तत्त्व'का वर्णन करनेके लिये १२ वें श्लोकमें प्रतिज्ञा की थी, उसीका वर्णन करते हुए अब वे कहते हैं कि परमात्मा ब्रह्मा (प्रभविष्णु) रूपसे सबको उत्पन्न करनेवाले, विष्णु (भूतभर्तृ)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

रूपसे धारण-पोषण करनेवाले तथा रुद्र (ग्रसिष्णु) रूपसे सबका संहार करनेवाले हैं, अर्थात् वे ही सबकी उत्पत्ति, स्थिति और संहारके कारण हैं ।

अन्वय —

च, अविभक्तम्, च, भूतेषु, विभक्तम्, इव, स्थितम्,
तत्, ज्ञेयम्, प्रभविष्णु, च, भूतभर्तृ, च, ग्रसिष्णु ॥ १६ ॥

पद-व्याख्या—

च अविभक्तम् च भूतेषु विभक्तम् इव स्थितम्—

वे परमात्मा विभागरहित होते हुए भी (साधारण दृष्टिसे) सम्पूर्ण प्राणियोंमें विभक्तकी तरह प्रतीत होते हैं ।

जिस प्रकार महाकाश घट और मठके सम्बन्धमें घटाकाश एवं मठाकाशरूपसे विभक्त-सा प्रतीत होते हुए भी अविभक्त ही है, उसी प्रकार विभागरहित परमात्मा भिन्न-भिन्न प्राणियोंके शरीरोंके सम्बन्धसे विभिन्न प्राणियोंके रूपमें विभक्त-से दीखते हैं, किंतु वास्तमें हैं वे अविभक्त ही । विभाग केवल प्रतीति है । अन्य पदार्थोंकी स्वतन्त्र सत्ता न रहनेके कारण एक परमात्माको ही देखना चाहिये ।

'वासुदेवः सर्वमिति' (७ । १९) ।

इसी अध्यायके २७वें श्लोकमें **'समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्'** पदोंसे परमात्माको सम्पूर्ण प्राणियोंमें समभावसे स्थित देखनेके लिये कहा गया है । इसी तरह अठारहवें अध्यायके २०वें श्लोकमें **'अविभक्तं विभक्तेषु'** पदोंसे सात्त्विक ज्ञानका वर्णन करते हुए भी परमात्माको अविभक्तरूपसे देखनेको ही 'सात्त्विक ज्ञान' माना

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

गया है । नवें अध्यायके ४थे श्लोकमें 'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना' पदोंसे भी यही भाव व्यक्त किया गया है कि परमात्मासे ही यह सम्पूर्ण चराचर जगत् परिपूर्ण है । यहाँ भी भगवान् इन पदोंसे उसी बातका उल्लेख करते हैं ।

तत् ज्ञेयम्—वे जाननेयोग्य परमात्मा ।

इसी अध्यायके दूसरे श्लोकमें 'विद्धि' पदसे जिस 'माम्' (परमात्मा)को जाननेकी बात कही गयी एवं १२वें श्लोकमें जिस 'ज्ञेय' तत्त्वका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा की गयी, उसीका यहाँ ब्रह्मा, विष्णु और महेश (रुद्र)के रूपसे वर्णन हुआ है । वस्तुतः चेतन-तत्त्व (परमात्मा) एक ही है । वे ही रजोगुणकी प्रधानता स्वीकार करनेसे ब्रह्मारूपसे सबको उत्पन्न करनेवाले, सत्त्वगुणकी प्रधानता स्वीकार करनेसे विष्णुरूपसे सबका पालन-पोषण करनेवाले और तमोगुणकी प्रधानता स्वीकार करनेसे (रुद्ररूपसे) सबका संहार करनेवाले हैं अर्थात् एक परमात्मा ही सम्पूर्ण रूपोंमें स्थित हैं । यहाँ यह बात अवश्य समझ लेनी चाहिये कि परमात्मा अपने विभिन्न रूपोंमें तदनुरूप कार्यके लिये विभिन्न गुणोंको स्वीकार करनेपर भी उन गुणोंके वशीभूत नहीं हैं । गुणोंपर उनका पूर्णतया आधिपत्य है । इसीलिये उन्हें गुणातीत कहा गया है ।

प्रभविष्णु—ब्रह्मारूपसे सम्पूर्ण संसारको उत्पन्न करनेवाले ।

च—और ।

भूतभर्तृ—विष्णुरूपसे सम्पूर्ण संसारको धारण-पोषण करनेवाले ।

च—तथा ।

CC-0. RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

ग्रसिष्णु—रुद्ररूपसे सम्पूर्ण संसारका संहार करनेवाले ।

सम्बन्ध—

अब 'ज्ञेय-तत्त्व' के ज्योतिःस्वरूपका वर्णन करते हुए भगवान् इस प्रकरणका उपसंहार करते हैं—

श्लोक—

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥ १७ ॥

भावार्थ—

परब्रह्मके ज्योतिःस्वरूपका वर्णन करते हुए इस श्लोकमें बतलाया गया है कि वे परमात्मा सम्पूर्ण बाह्य, आन्तरिक और देव-ज्योतियोंके भी प्रकाशक एक अलौकिक ज्योति हैं एवं उनको अविद्यासे अत्यन्त परे कहा गया है अर्थात् परमात्मा अन्धकार और अज्ञानसे सर्वथा असम्बद्ध और निर्लिप्त हैं । वे ज्ञानस्वरूप हैं, उन्हें तत्त्व-ज्ञानके द्वारा अवश्य जानना चाहिये । वे ही तत्त्वज्ञानके द्वारा प्राप्त करनेयोग्य हैं । वे सबके हृदयमें समानरूपसे विराजमान हैं ।

अन्वय—

तत्, ज्योतिषाम्, अपि, ज्योतिः, तमसः, परम्, उच्यते, ज्ञानम्, ज्ञेयम्, ज्ञानगम्यम्, सर्वस्य, हृदि, विष्ठितम् ॥ १७ ॥

पद-व्याख्या—

तत् ज्योतिषाम् अपि ज्योतिः—वे ज्ञेयरूप परमात्मा सम्पूर्ण (बाह्य, आन्तरिक और देव) ज्योतियोंकी भी ज्योति हैं ।

सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, अग्नि और विद्युत् आदि बाह्य ज्योतियाँ हैं; अपने-अपने विषयोंको प्रकाशित करनेवाली इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

और अहं—ये आन्तरिक ज्योतियाँ हैं, और विभिन्न लोकों तथा वस्तुओंके अधिष्ठातृ-देवतारूप देव-ज्योतियाँ हैं। वे परमात्मा इन सम्पूर्ण ज्योतियोंको प्रकाशित करनेवाले हैं एवं प्रकाश प्रदान करनेकी शक्ति भी उन्हें परमात्मसत्तासे ही प्राप्त होती है (१५। १२)।

जैसे मनुष्य सम्पूर्ण पदार्थोंको इन्द्रियों और अन्तःकरणकी सहायतासे 'इदंता'से अर्थात् 'ये हैं'—इस प्रकार देखता और जानता है, वैसे ही 'अहं' अर्थात् 'मैंपन' भी परम प्रकाशक परमात्माके प्रकाशमें 'इदंता'से ही दीखता है। जिस प्रकाशमें 'मैंपन' प्रकाशित हो रहा है, उसीमें मैं, तू, यह (व्यक्ति, पदार्थ) और वह (व्यक्ति, पदार्थ)—चारों समानरूपसे दृश्य हैं अर्थात् सबका परम प्रकाशक तत्त्व एक ही है।

यह तो सभीका प्रत्यक्ष अनुभव है कि 'मैं हूँ', इस 'मैं'की मान्यताके कारण एक देश, काल और वस्तुको लेकर व्यक्तित्व बनता है; किंतु यह 'मैं' भी उन ज्योतिःस्वरूप एवं स्वयंप्रकाशस्वरूप परमात्मासे ही प्रकाशित हो रहा है। सुषुप्तिसे जागनेपर प्रत्येक व्यक्ति कहता है—'मुझे निद्राकालमें कुछ पता नहीं था।' इसका तात्पर्य यह कि गाढ़ निद्रामें मैं तो था, किंतु निद्रा आनेपर इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिके अविद्यामें लीन हो जानेसे इन्द्रियजन्य ज्ञान नहीं रहा। इसी प्रकार कुछ लोग यह भी कहते हैं 'मैं बहुत सुखसे सोया।' इस वाक्यसे भी निद्राके समय 'मैं'का होना सिद्ध होता है। वह परमात्मज्योति निद्रामें लीन 'मैं'को भी प्रकाशित करनेवाली है; क्योंकि कोई वहाँ है,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

जो इस बातको कहनेवाला है, तभी तो कहता है—'मुझे कुछ स्मरण नहीं है' अथवा 'मैं बहुत सुखसे सोया।' जाग्रदवस्थाके आते ही उसे अपने व्यक्तित्वका भान होने लगता है।

इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदिके ज्ञानमें संदेह हो सकता है, परंतु स्वयंप्रकाशस्वरूपमें कभी संदेह, संशय और विपरीत बात हो ही नहीं सकती; क्योंकि वह ज्ञान ही यथार्थ ज्ञान है। जब वह सुषुप्तिको भी प्रकाशित करनेवाला है तो फिर स्वप्न और जाग्रदवस्थाओंको प्रकाशित करता है, इसमें तो कहना ही क्या है! गोस्वामीजी महाराज भी इसी बातकी ओर संकेत कर रहे हैं—ऋषि जागत सोवत सपने की (मानस २। ३००। १)। तात्पर्य यह है कि भगवान् श्रीराम जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—तीनों अवस्थाओंकी रुचिको जानते हैं अर्थात् तीनोंको प्रकाशित करते हैं।

भगवान् यहाँ इन पदोंसे उन ज्योतिःस्वरूप परमात्माकी ओर लक्ष्य करा रहे हैं कि वे स्वयं किसीके विषय नहीं हैं, प्रत्युत सम्पूर्ण पदार्थ और प्राणी उन्हींके विषय हैं अर्थात् वे दूसरोंसे प्रकाशित न होकर स्वयं ही सबको प्रकाशित करते हैं। वहाँ प्रकाशक, प्रकाश और प्रकाश्य—ऐसी त्रिपुटी नहीं है, प्रत्युत एक प्रकाश-स्वरूप (परमात्मा) ही हैं। यही उनकी अलौकिकता है। कहा भी गया है—

रूपं दृश्यं लोचनं दृक् तद्दृश्यं दृक् तु मानसम्।
दृश्या धीवृत्तयः साक्षी दृगेव न तु दृश्यते॥
(वाक्य-सुधा १)

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

'सबसे पहले (वाह्यरूपसे) नेत्र ज्योति है और रूप दृश्य। फिर मन ज्योति है और नेत्रादि इन्द्रियाँ दृश्य हैं। फिर बुद्धि ज्योति है और मन दृश्य। अन्तमें बुद्धिकी वृत्तियोंका भी जो साक्षी है, वह ज्योति है और वहाँ बुद्धि भी दृश्य है।'

साक्षी (परमात्म-स्वरूप) असम्बद्ध, असङ्ग और निर्लिप्त होते हुए भी दृश्यमें अपनापन कर लेता है तो उनसे सम्बन्वित हो जाता है अर्थात् 'तम' (अन्धकार, अज्ञान)से संयुक्त होनेपर वन्धनमें पड़ जाता है। इसी अध्यायके पहले श्लोकमें साक्षी अर्थात् 'क्षेत्रज्ञ' (परम ज्योति) द्वारा शरीरादि दृश्यको 'इदंता'से (अपनेसे पृथक्) देखनेके लिये कहा गया है एवं दूसरे श्लोकमें अपने साथ इसकी अभिन्नताका अनुभव करानेके लिये भगवान्‌ने 'माम् विद्धि' पदोंका प्रयोग किया है। यहाँ (इस श्लोकमें) अभिन्नताका अनुभव करनेपर इसे 'तत्' (वह परमात्मा) पदसे सम्बोधित किया गया है।

शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि—इन सबसे परे है 'अहं'। इस 'अहं'को भी प्रकाशित करनेवाला परमतत्त्व है, जिसे बुद्धिके द्वारा नहीं जाना जा सकता; क्योंकि वहाँ बुद्धि भी कुण्ठित हो जाती है। जब बुद्धि अपनेसे परे 'अहं'को पूर्णरूपसे नहीं जान सकती तो फिर वह अहंसे परे अर्थात् अहंको भी प्रकाशित करनेवालेको जाननेमें कैसे समर्थ हो सकती है? 'मेरी बुद्धि है', 'मैं बुद्धिवाला हूँ' आदि वाक्योंसे यह अर्थ निकलता है कि 'मैं' बुद्धिको जानता हूँ, पर बुद्धि मुझे नहीं जान सकती। बुद्धि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Siddhanta eGangotri Trust. Funding IKS MoE-Gr

तो केवल अपने सामनेवाले पदार्थों—मन, इन्द्रिय और शरीरादिको ही जान सकती है। जैसे एक-एकके पीछे बैठे हुए परीक्षार्थी केवल अपने आगेवालेको ही देख सकते हैं, अपनेसे पीछे बैठे हुएको नहीं, वैसे ही बुद्धि भी अपने पीछेवालेको नहीं जान सकती; किंतु जैसे सबसे पीछे बैठा हुआ परीक्षार्थी अपने आगेवाले समस्त परीक्षार्थियोंको देख सकता है, वैसे ही सबको प्रकाशित करनेवाले ज्योतिर्मय परमात्मा अहं, बुद्धि, मन, इन्द्रिय और शरीरादि समस्त पदार्थोंको जानते हैं, अर्थात् उनसे सब प्रकाशित होते हैं। जिस प्रकाशमें (प्रत्येक व्यक्तिमें स्फुरित) 'अहं' भी 'मैं', 'तू', 'यह' और 'वह'के रूपमें प्रकाशित होता है, उस प्रकाशका यदि (इस एक) 'अहं'के साथ सम्बन्ध है तो सभीके साथ समानरूपसे सम्बन्ध है और यदि अन्यके साथ सम्बन्ध नहीं है तो (इस एक) 'अहं' के साथ भी नहीं है। वे (परमात्मा)समान-रूपसे सभीके निरपेक्ष प्रकाशक हैं एवं सबमें समानरूपसे विराजमान हैं। वे प्रत्येक अहंके जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति; भूत, भविष्य और वर्तमान तथा उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयको प्रकाशित करते हैं। भगवान् यहाँ इन पदोंसे ज्योतिःस्वरूप परमात्माकी इसी विलक्षणताका वर्णन करते हैं कि वे स्वयं प्रकाशस्वरूप हैं और उन्हींसे सम्पूर्ण चर-अचर प्रकाशित होते हैं, अतः उन्हें कोई प्रकाशित नहीं कर सकता—'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्'(बृहदारण्यक २ । ४ । १४)।

सम्पूर्ण सांसारिक ज्योतियाँ प्रकृति और प्रकृतिके कार्योंके अन्तर्गत ही हैं, किंतु परमात्मारूप ज्योति प्रकृति और प्रकृतिके

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

कार्योंसे सर्वथा अतीत और निर्लिप्त है; अतः वे इन सम्पूर्ण ज्योतियोंसे अलौकिक ज्योति हैं ।

'रामचरितमानस' में भगवान् शंकर इसी बातकी ओर संकेत करते हुए जगज्जननी पार्वतीजीसे कहते हैं—

बिषय करन सुर जीव समेता । सकल एक तें एक सचेता ॥
सब कर परम प्रकासक जोई । राम अनादि अवधपति सोई ॥
(१ । ११६ । ३)

'अनादि ब्रह्म अर्थात् भगवान् श्रीराम परम प्रकाशक हैं । उन्हींके प्रकाशसे विषय, इन्द्रियाँ, इन्द्रियोंके देवता और अहं आदि प्रकाशित होते हैं ।'

इन्द्रिय, मन आदिका ज्ञान सीमित होता है, इसलिये यह माननेमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये कि इनके साथ अँधेरा (अज्ञान) भी रहता है, परंतु उस परम ज्योतिमें, जो इन सबको प्रकाशित करती है और स्वयं-प्रकाश है, कोई अन्धकार नहीं है; इसीलिये उसे 'तमसः परस्तात्' (८ । ९) कहा गया है । इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयोंको, मन इन्द्रियोंको और बुद्धि मनको प्रकाशित करती है । बुद्धिको 'अहं' प्रकाशित करता है । उस 'अहं' को प्रकाश देनेवाला निरपेक्ष द्रष्टा है । वास्तवमें वही मन, बुद्धि, इन्द्रिय अहं आदिका मूल प्रकाशक है । वह स्वयंप्रकाश है, उसे किसी अन्य ज्योतिकी अपेक्षा नहीं है ।

तमसः परम् उच्यते—अन्धकाररूप अज्ञानसे अत्यन्त परे कहे गये हैं ।

CC-0. RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

'तमसः परम्' पदोंका अर्थ है—(वे) अन्धकाररूप अज्ञानसे अत्यन्त परे अर्थात् सर्वथा असम्बद्ध और निर्लिप्त हैं। अन्धकाररूप अज्ञानकी स्थिति अहंता-ममताके कारण ही है, जैसा कि पहले कहा जा चुका है। इन्द्रियोंसे लेकर 'अहं'पर्यन्त सबका ज्ञान सीमित है अर्थात् वे सभी अन्धकार (अज्ञान) से युक्त हैं। केवल निरपेक्ष द्रष्टाका ज्ञान निस्सीम है। मनुष्य अपने सीमित ज्ञानके कारण ही ऐसी भावना करता है कि मेरी बुद्धि अच्छी है अथवा वाक्-शक्ति, श्रवण-शक्ति, घ्राण-शक्ति आदि तीव्र या मन्द हैं। इस प्रकार अहंता-ममतासे ग्रस्त होकर वह अज्ञानरूप अन्धकारसे घिरा रहता है।

'उच्यते'पदका अर्थ है—(ऐसे) कहे गये हैं। तात्पर्य यह कि परमात्मा न तो कभी अन्धकाररूप अज्ञानसे सम्बद्ध और लिप्त थे, न हैं, न होंगे और न हो ही सकते हैं।

ज्ञानम्—ज्ञानस्वरूप।

संसारमें जितने कल्याणकारी ज्ञान हैं, उन सबके आधार ज्ञानस्वरूप परमात्मा ही हैं। भगवान् इस पदसे यह बतलाते हैं कि वे परमात्मा समस्त दृश्य-वर्गके केवल प्रकाशक ही नहीं हैं, प्रत्युत स्वयंप्रकाश (ज्ञान)स्वरूप भी हैं। तात्पर्य यह कि समस्त दृश्यवर्ग पृथक्-पृथक् रूपमें परमात्माद्वारा ही प्रकाशित होता है अर्थात् जाना जाता है। परमात्मा अत्यन्त 'पर' अर्थात् असंस्पृष्ट (सम्बन्धरहित) हैं, इसलिये सम्पूर्ण दृश्य-वर्ग सम्मिलित होकर भी न तो उन्हें प्रकाशित कर सकता है और न जाननेमें ही समर्थ है। यही कारण

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

है कि साधकोंको उन्हें तत्त्वसे जाननेमें कठिनाईका अनुभव होता है। इस कठिनाईका कारण उनका इस प्रकारका पुराना अभ्यास ही है कि वे (साधक) जिस जड-बुद्धिसे सांसारिक पदार्थोंका ज्ञान प्राप्त करते आ रहे हैं, उसीसे उस चेतन-तत्त्वका ज्ञान भी प्राप्त करना चाहते हैं, पर ध्यान रहे, चेतन-तत्त्वका अनुभव जड-बुद्धिके आश्रयका सर्वथा त्याग करनेपर ही सम्भव हो सकेगा। सत्य बात तो यह है कि वास्तवमें कोई कठिनाई है ही नहीं; क्योंकि जीवमात्रकी स्थिति सदैव परमात्मामें ही है।

ज्ञेयम्—जाननेयोग्य।

वास्तवमें जाननेयोग्य एकमात्र परमात्मा ही हैं। यद्यपि 'इदंता'के विषय तो शरीरादि भी माने जाते हैं, पर उनका जानना उनसे सम्बन्ध-विच्छेदके लिये ही होता है, किंतु परमात्माका जानना उनसे अभिन्नताका अनुभव करनेके लिये है। तात्पर्य यह कि जो जाननेमें आता है, वह सारा दृश्य-वर्ग 'जड' होता है। जो क्षेत्रको जानता है, वह 'क्षेत्रज्ञ' कहलाता है और जिसे अवश्य जानना चाहिये—वह है परमात्मतत्त्व—'अवसि देखिअहिं देखन जोगू' (मानस १। २८८। ३)। वस्तुतः परमात्माको जानना ही मनुष्य-जीवनका चरम और परम लक्ष्य है; क्योंकि उन्हें जान लेनेके बाद अन्य कुछ जानना शेष नहीं रह जाता—'यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते।' (७। २); 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः...' (१५। १५) अर्थात् सब वेदोंद्वारा मैं ही जाननेयोग्य हूँ। इसी प्रकार इस अध्यायके दूसरे, बारहवें और सोलहवें श्लोकोंमें भी ज्ञेय-तत्त्व (भगवान्)को जाननेकी बात बारंबार कही गयी है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

ज्ञानगम्यम्—(वे परमात्मा) साधन-ज्ञानद्वारा जाने जाते हैं। देहाभिमानरहित होकर ही परमात्माको यथार्थरूपसे जाना जा सकता है। जबतक मनुष्य शरीरादिको अपना स्वरूप समझता है, तबतक जन्म-मरणके चक्रमें फँसा रहता है। अतः दृश्यको दृश्य-रूपमें समझनेके लिये साधन-सम्पन्न होनेकी आवश्यकता है; क्योंकि साधन-सम्पन्न हुए बिना उसे जानना सम्भव नहीं है। साधन-सम्पन्न होनेके लिये भगवान्‌ने सातवेंसे ग्यारहवें श्लोकोंतक साधन-समुदायके अन्तर्गत **'अमानित्वम्'** आदि 'ज्ञान'के बीस साधनोंका वर्णन किया है, जिन्हें धारण करनेसे तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति होती है। उस ज्ञेय-तत्त्व (परमात्मा) को जानते ही अमरताका अनुभव हो जाता है (१४। २०)।

सर्वस्य हृदि विष्ठितम्—सबके हृदयमें (समानरूपसे) विराजमान हैं।

भगवान्‌ने इन पदोंमें परमात्माको सबके हृदयमें (समानरूपसे) विराजमान बतलाया है। तात्पर्य यह कि जीवके साथ भगवान्‌की अभिन्नताका अनुभव करानेमें बोध (ज्ञान) और प्रेम (भक्ति)—दोनों ही साधन मान्य हैं। बोध हो जानेपर दूसरे तत्त्वकी स्थिति सम्भव ही नहीं है, अतः अभिन्नता ही है एवं प्रेममें उनके अतिरिक्त अपना कोई दूसरा है ही नहीं। परमात्माके साथ अभिन्नताके अनुभवमें बाधा शरीर, मन, बुद्धि आदि जड पदार्थोंका महत्त्व ही है। जबतक साधकका आकर्षण जड पदार्थोंकी ओर रहता है, तबतक वह बन्धनमें है; किंतु जब वह केवल परमात्माको ही अपना

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

मानने लगता है, उन्हें पानेकी तीव्र उत्कण्ठा उसके हृदयमें जाग्रत् हो जाती है और उसके मन, बुद्धिका प्रवाह भी केवल भगवान्‌की ओर हो जाता है, तब उसे उनमें ही निवासका अनुभव हो जाता है। निष्कर्ष यह है कि प्राकृतिक पदार्थोंसे सम्बन्धरूप आवरणके नष्ट हो जानेपर उसे हृदयमें विराजित परमात्माके साथ अभिन्नताका अनुभव हो जाता है।

जैसे जल पृथ्वीमें सभी जगह विद्यमान है, फिर भी नल और कुएँ आदिसे उसकी प्राप्ति होती है, इसलिये उन्हें जलका उपलब्धि-स्थान कहा जाता है; इसी तरह सर्वत्र परिपूर्ण रहते हुए भी परमात्मा-की अनुभूति हृदयमें ही होनेके कारण उन्हें हृदयमें विराजित कहा गया है—

'सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः.....।'

(१५ । १५)

एवं—

'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।'

(१८ । ६१)

यहाँ इन पदोंसे एक विशेष भाव यह निकलता है कि मनुष्य अपने हृदयमें परमात्माके विराजमान होते हुए भी भगवत्प्राप्तिमें जो निराश और उत्साहहीन हो रहा है, यह उसकी भूल है। 'मेरे हृदयमें ही परमात्मा विराजमान हैं'—इस बातको जानकर प्रबल उत्कण्ठा और तत्परता जाग्रत् होनी चाहिये कि अब तत्त्व-प्राप्तिमें विलम्ब क्यों हो रहा है? साधकको जानना चाहिये कि जहाँ मैं

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

साधन कर रहा हूँ, उसमें तथा साधन-रूप क्रिया और चिन्तनमें भी वे परमात्मा ही परिपूर्ण हैं; क्योंकि तत्त्वमें देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदिका व्यवधान सम्भव नहीं है। इस प्रकार जानकर प्रबल उत्कण्ठा और उत्साहके साथ अपनी साधनामें लगा हुआ साधक परमात्माको शीघ्र ही अपने हृदयमें प्राप्त कर लेता है। एक बार हृदयमें परमात्माका अनुभव हो जानेपर उसे कण-कणमें परमात्मा ही विराजमान दीखने लगते हैं। तब उसे 'वासुदेवः सर्वमिति' (७। १९)—'सब कुछ वासुदेव ही हैं;' ऐसा अनुभव हो जाता है। यही वास्तविक अनुभव है।

परमात्म-स्वरूपसम्बन्धी विशेष बात—

जो तत्त्व सर्वथा गुणोंसे रहित है, वही सम्पूर्ण गुणोंका आश्रय हो सकता है अर्थात् सम्पूर्ण गुण उसीमें रहते हैं। किसी गुणविशेषमें आबद्ध रहनेवाला सम्पूर्ण गुणोंका आश्रय कैसे हो सकता है! परमात्मा सम्पूर्ण दिव्य गुणोंसे युक्त होते हुए भी सम्पूर्ण गुणोंसे निर्लिप्त रहते हैं, उन्हें इसीलिये निर्गुण कहा जाता है।

श्रद्धासे युक्त हृदय-प्रधान या भावुक साधक परमात्माको सगुण और बुद्धि-प्रधान साधक ज्ञानका आश्रय लेकर उन्हीं परमात्माको निर्गुण मानता है। इस प्रकार साधकोंकी दृष्टिसे परमात्माके सगुण और निर्गुण दो भेद होनेपर भी वास्तवमें परमात्मा निर्गुण भी हैं और सगुण भी तथा साथ ही उनके विषयमें जितना अनुमान लगाया जाता है उससे अतीत भी; क्योंकि अनुमान तो बुद्धिसे ही लगाया जाता है और परमात्मा बुद्धिसे अतीत हैं। बुद्धि, विचार आदि सब

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

परमात्माके अन्तर्गत हैं, इसलिये बुद्धि परमात्मस्वरूपके किसी एक अंशका ही अनुमान कर सकती है।

संत-महापुरुषोंने परमात्माके स्वरूपका जैसा अनुभव किया, वैसा ही उन्होंने कृपापूर्वक अपने अनुयायियोंके उद्धारार्थ वर्णन करनेका प्रयत्न किया। वैसा ही वर्णन करना उचित भी है; क्योंकि परमात्माका स्वरूप ऐसा अलौकिक है कि वे (परमात्मा) ही कृपा करके उसकी अनुभूति करायें, तभी उसे जाना जा सकता है। बुद्धि और वाणी प्रकृतिके कार्य हैं, इसलिये तत्त्वज्ञ पुरुष परमात्माको जान लेनेपर भी उनका वर्णन करनेमें असमर्थ हैं; क्योंकि परमात्मा प्रकृतिसे अतीत हैं। फिर भी संत-महापुरुषोंने जितना बुद्धिगम्य हो सका और वाणी जितना वर्णन कर सकी, उतनी मात्रामें उनका वर्णन किया है। संतोंके एकमात्र लक्ष्य परमात्मा ही होनेसे उनकी बुद्धि एवं वाणीमें भी परमात्मा ही विराजमान रहते हैं। यह तो संतोंकी कृपा है, जो वे अपना अनुभव बतलाते हैं, पर इतनेसे ही भगवान्‌का पूर्ण वर्णन हो जाय—ऐसा नहीं है। परन्तु परमात्माका जैसा स्वरूप समझमें आये, उसके अनुरूप ही यदि साधक लगनपूर्वक साधना करता है तो उसे यथार्थ तत्त्वका अनुभव हो जाता है; क्योंकि साधकका लक्ष्य तो परमात्मा ही है। इस प्रकार एक ही परमात्माके दो स्वरूप कहे जाते हैं—१—निर्गुण और २—सगुण।

सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण प्रकृतिमें रहते हैं। परमात्मा प्रकृतिसे भी परे हैं अर्थात् जहाँ प्रकृतिका अस्तित्व नहीं है, वहाँ भी वे हैं। प्रकृतिसे परे होनेके कारण परमात्माके इस

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri
Ra Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

स्वरूपको निर्गुण कहते हैं । निर्गुण स्वरूपका कोई आकार न होनेसे यह निर्गुण-निराकार भी कहा जाता है ।

अद्वैत-सिद्धान्तके अनुसार निर्गुण परमात्मा अर्थात् ब्रह्म वे हैं जो दिव्य तथा प्रकृतिजन्य गुणों- (सत्त्व, रज और तम) से सर्वथा रहित हैं ।

भक्तोंके मतसे सगुण परमात्मा अर्थात् ईश्वर वे हैं, जो प्रकृतिजन्य गुणोंसे सर्वथा रहित एवं दिव्य चिन्मय भगवत्स्वरूप गुणों (सौन्दर्य, माधुर्य, ऐश्वर्य आदि) से सुशोभित हैं ।

सगुण परमात्माके भी दो स्वरूप कहे जाते हैं— (१) सगुण-निराकार और (२) सगुण-साकार । सगुण-निराकार परमात्मा सौन्दर्य, माधुर्य, ऐश्वर्य, सौशील्य, औदार्य, सौहार्द आदि दिव्य गुणोंसे सम्पन्न होते हुए भी आकृतिरहित हैं और संसारमें सर्वत्र उसी प्रकार व्याप्त हैं, जैसे काष्ठमें अग्नि । काष्ठमें व्याप्त अग्निको जिस प्रकार एक अथवा अनेक स्थानोंपर एक साथ प्रकट किया जा सकता है, उसी प्रकार सगुण-निराकार परमात्मा प्रेमके वशीभूत होकर भक्तोंके सामने एक अथवा अनेक स्थानोंपर एक साथ प्रकट होकर साकार रूपसे उन्हें दर्शन देते हैं । उदाहरणार्थ—भगवान् श्रीराम वनवाससे लौटनेपर क्षणभरमें सारे प्रजाजनोंसे मिले । उस समय उनके अनेक रूप प्रकट हो गये—

अमित रूप प्रगटे तेहि काला ।
(मानस ७ । ५ । ३)

उस समय ये परमात्मा निराकारसे साकार अर्थात् नराकार हो गये ।

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

सगुण-साकार भगवान् अर्थात् विष्णु, शिव, शक्ति, सूर्य और गणेश—ये पाँच ईश्वरकोटिके देवता भी कहलाते हैं एवं साकार-रूपसे दिव्य लोकोंमें निवास करते हैं। सगुण-निराकार परमात्मा समय-समयपर भगवान् श्रीराम और भगवान् श्रीकृष्णकी भाँति अवतार लेकर जगत्‌में अद्भुत लीलाएँ करते हैं और भक्तोंको उनके इच्छानुसार साकाररूपमें दर्शन देकर कृतार्थ करते हैं। सभी अवतारोंके दिव्य लीलाशरीर परमात्माके सगुण-साकार स्वरूप हैं।

सम्बन्ध—अब भगवान् पूर्व वर्णित क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेयके विषयका उपसंहार करते हैं—

श्लोक—

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते॥ १८॥

भावार्थ—

अभीतक क्षेत्रके स्वरूप और विकारोंका, ज्ञानके नामसे ज्ञानके बीस साधनोंका और ज्ञेय-तत्त्व (परमात्माके स्वरूप) का संक्षेपमें वर्णन हुआ। अब भगवान् बता रहे हैं कि तत्त्व-ज्ञानका जिज्ञासु, जो केवल विवेकमार्गी नहीं है, अपितु मेरा (भगवान्‌का) आश्रय लेकर भजन-स्मरणद्वारा मेरी भक्ति करता है, ऐसा मुझमें आत्मीयता रखनेवाला मेरा भक्त परमात्माके स्वरूपको तत्त्वसे जानकर मेरे (परमात्माके) भावको प्राप्त हो जाता है। इस श्लोकमें भगवान्‌ने इसी विशेष बातका संकेत किया है कि मेरा आश्रय लेनेसे ज्ञान-मार्गमें भी तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिमें सुगमता होती है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

. In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

अन्वय—

इति, क्षेत्रम्, तथा, ज्ञानम्, च, ज्ञेयम्, समासतः, उक्तम्, मद्भक्त, एतत्, विज्ञाय, मद्भावाय, उपपद्यते ॥ १८ ॥

पद-व्याख्या—

इति क्षेत्रम्—इस प्रकार क्षेत्र ।

इसी अध्यायके पहले श्लोकमें क्षेत्रको 'इदंता'से देखनेके लिये कहा गया, पाँचवें श्लोकमें उसीके समष्टि स्वरूप और छठे श्लोकमें क्षेत्रके ही विकारोंका (व्यष्टिरूपसे) वर्णन किया गया । इन पदोंसे भगवान् क्षेत्रके उस वर्णित विषयकी ओर स्मृति करा रहे हैं। इसका तात्पर्य यह है कि यह क्षेत्र 'स्व' (अपने स्वरूप) से भिन्न है।

तथा—तथा ।

ज्ञानम्—ज्ञान ।

यहाँ यह पद ज्ञानके साधन-समुदायका वाचक है । इसका वर्णन 'अमानित्वम्' आदि बीस साधनोंके रूपमें इसी अध्यायके सातवेंसे ग्यारहवें श्लोकतक किया गया है ।

बारहवें अध्यायके ५वें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा है कि देहाभिमान रहते हुए वास्तविक ज्ञानकी प्राप्ति होना कठिन है। अतः ज्ञानके साधन-समुदायको धारण करने, शरीरको मात्र संसारके साथ अभिन्न अनुभव करने और ज्ञेय-तत्त्वको जाननेकी उत्कट अभिलाषासे जब देहाभिमानरूप कठिनाई दूर हो जाती है, तब वास्तविक ज्ञान अर्थात् परमात्मासे अभिन्नताका बोध सुगमतासे हो जाता है ।

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

च—और ।

ज्ञेयम्—परमात्म-तत्त्व ।

इस पदसे भगवान् इसी अध्यायके बारहवेंसे सतरहवें श्लोकोंतक वर्णित परमात्मतत्त्वके निर्विशेष और सविशेष अलौकिक स्वरूपकी ओर संकेत कर रहे हैं । उन्हें जान लेनेपर भावद्वारकी प्राप्ति हो जाती है अर्थात् परमात्माके वास्तविक स्वरूपका अनुभव हो जाता है ।

समासतः उक्तम्—संक्षेपमें कहा गया ।

भगवान्ने इसी अध्यायके तीसरे श्लोकमें 'समासेन' पदसे 'क्षेत्र'के विषयमें चार बातें और 'क्षेत्रज्ञ'के विषयमें दो बातें संक्षेपसे सुननेकी आज्ञा दी एवं छठे श्लोकमें पुनः 'समासेन' पद देकर उसी क्षेत्रके स्वरूप और विकारोंका वर्णन किया । उसी प्रसङ्गका उपसंहार यहाँ 'समासतः उक्तम्' पदोंसे किया गया है ।

यहाँ भी भगवान् 'संक्षेप'से ही वर्णन करते हैं । तात्पर्य यह कि शरीरादि दृश्यको 'इदंता'से देखकर परमात्माके साथ अभिन्नताका बोध कराना ही इन सबका सार है । इस सार-तत्त्वको जान लेनेपर फिर इन्हें विस्तारसे जाननेका कोई विशेष प्रयोजन नहीं रह जाता । साधकको चाहिये कि वे इस सार-तत्त्वको अपनाकर ज्ञात-ज्ञातव्य हो जायँ ।

मद्भक्तः—मेरा भक्त ।

यह पद यहाँ अपनी विलक्षणताका भाव व्यक्त कर रहा है । भक्त अपनी कोई स्वतन्त्रता नहीं मानता । जिस प्रकार सूत्रधारके

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri
CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri
CC-0. Jangamwadi Math

In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

संकेतपर कठपुतली नाचती है, उसकी कोई स्वतन्त्रता नहीं रहती, उसी प्रकार भक्त भगवान्‌की कठपुतली होता है।

जब मनुष्य दृश्य-शरीरादिको आदर देने लगता है, प्राणि-पदार्थ आदिको अपना मान लेता है, तब उसे अपनी स्वतन्त्रता दीखने लगती है एवं भगवान्‌से विमुख हो जाता है। वह प्रकृति-प्रदत्त पदार्थोंको अपना मानकर अपने-आपको उनका स्वामी समझता है और वास्तविक स्वामी (परमात्मा) को भूल जाता है। जबतक वह अपने अन्तःकरणमें उनकी आवश्यकता समझता है, तबतक अपने-आपको उनका स्वामी समझते हुए भी वास्तवमें वह उनका दास ही है। पदार्थोंको लेकर वह अभिमान करता है अर्थात् अपनेको बड़ा मानता है तो स्वयं पदार्थोंसे छोटा अर्थात् दास ही हुआ; क्योंकि वह स्वयं अपना बड़प्पन पदार्थोंसे ही मानता है। प्राणी और पदार्थोंको अपना मानकर यह उनका स्वामी बनता है, किंतु स्वयं जिसका अंश है, उस अंशीकी ओर इसका ध्यान ही नहीं जाता। इस प्रकार इसने स्वयं (अपने) को अनाथ और असहाय बना लिया है।

प्राणियों और पदार्थोंके अतिरिक्त बौद्धिक ज्ञान और उससे प्राप्त होनेवाली शान्तिको अपनी मानकर उसमें सुख-बुद्धि कर लेना भी साधकके प्रगति-पथमें एक रोड़ा (बाधा) है। **'सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ।'** (१४। ६) इस सुख-बुद्धिके कारण यह (जीव) परमात्मतत्त्वको भूल जाता है तथा अभिमानसे बँधकर वह अपने-आपको भगवान्‌से दूर मान लेता है—

किंतु भगवान्‌का भक्त सांसारिक पदार्थों और प्राणियोंका दास

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jai

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

नहीं बनता। उसके हृदयमें भगवान्‌के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तुके लिये स्थान ही नहीं होता। वह पदार्थोंका दास न होकर उनका स्वामी होता है।

साधारण मनुष्य स्वयं सांसारिक पदार्थोंका स्वामी बनकर उनके एवं अपने वास्तविक स्वामी—परमात्माको भूल जाता है। उसके पास जो धनादि पदार्थ हैं, उनसे जब वह अपनी विपत्तिका निवारण नहीं कर पाता तो अपनेको अनाथ अनुभव करता है। भक्त सदा-सर्वदा सम्पूर्ण पदार्थोंका—यहाँतक कि शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदिका भी स्वामी भगवान्‌को ही समझता है, इसलिये वह अपनेको कभी भी अनाथ अनुभव नहीं करता।

साधारण मनुष्य सांसारिक पदार्थोंसे सुख प्राप्त करनेकी इच्छाके कारण परमात्म-तत्त्व-प्राप्तिरूप परम सुखसे वञ्चित रह जाता है। वह पदार्थोंके संयोगमें सुख मानता है, पर वस्तुतः उनमें सुख है ही नहीं, उनके वियोगमें ही सच्चा सुख है। अन्तमें इन सबका वियोग होना तो निश्चित है—चाहे पदार्थोंके नष्ट होनेसे हो अथवा अपनी मृत्युसे या दोनोंसे। इस वियोगमें परतन्त्रता है और यह जन्म-मरणको देनेवाला है, परंतु पदार्थोंका स्वेच्छासे त्याग करके उनसे सम्बन्धविच्छेद करनेमें मनुष्य स्वतन्त्र है तथा यह स्वतन्त्रता महान् सुख देनेवाली भी है—

स्वयं त्यक्ता ह्येते शमसुखमनन्तं विदधति।

(वैराग्यशतक १६)

मनुष्य जिस क्षण इनसे सुख लेनेकी इच्छाका त्याग कर देता है, उसी क्षण उसे परमसुख प्राप्त हो जाता है। पदार्थोंकी इच्छा

Ra Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

करते ही उनके अभावका दुःख, इच्छापूर्ति न होनेपर दुःख, अपनेसे किसीको अधिक मिल जाय तो ईर्ष्या एवं संताप-दुःख, मनचाहे पदार्थ मिल जायँ तो उनके प्राप्त होनेपर अभिमान, दर्प आदि आसुरी सम्पत्तिरूप दुःख और नष्ट होनेपर उनकी स्मृतिसे उत्पन्न दुःख प्राप्त होते हैं । इस प्रकार पदार्थोंके संयोगमें दुःख-ही-दुःख है।

सांसारिक पदार्थोंसे किसी प्रकारका सुख न चाहनेके कारण भक्तकी परमात्मामें ही सहज स्थिति रहती है अर्थात् उसे परमसुख या परमानन्दकी प्राप्ति हो जाती है ।

एतत् विज्ञाय—इसको तत्त्वसे जानकर ।

भगवान् इन पदोंद्वारा 'क्षेत्र' और 'ज्ञेय' (परमात्मा) को 'साधन-ज्ञान'के माध्यमसे वास्तविक रूपमें जाननेके लिये कह रहे हैं। मनुष्य जब क्षेत्रके तत्त्वको जान लेता है, तब उससे सर्वथा अलग हो जाता है और ज्ञेय (परमात्मा) को तत्त्वसे जान लेनेपर परमात्माके एकता (अभिन्नता) का बोध हो जाता है ।

प्रकृति और प्रकृतिका सम्पूर्ण कार्य 'क्षेत्र' है । वह दृश्य, जड़, विकारी, परिवर्तनशील और नाशवान् है—इस प्रकार क्षेत्रके वास्तविक स्वरूपको जान लेना ही उसे तत्त्वसे जानना है ।

ज्ञेय चेतन, निर्विकार, नित्य, अविनाशी, सर्वव्यापक एवं सभी रूपोंमें अनुस्यूत है । निर्विशेष, सविशेष, सगुण, साकार आदि सब उसीके स्वरूप हैं । ज्ञानके साधन-समुदायको ग्रहण कर लेनेसे 'ज्ञेय'के यथार्थ तत्त्वका अनुभव हो जाता है । अतः सभी साधकोंके लिये यह आवश्यक है कि वे ज्ञानके साधन-समुदायको धारण करें

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jaipur

In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

क्षेत्रको तत्त्वसे जानकर अर्थात् क्षेत्रसे सर्वथा विमुख होकर ज्ञेयके साथ अपनी अभिन्नताका बोध कर लें। यही मानव-जीवनका परम कर्तव्य है।

मद्भावाय उपपद्यते—मेरे भावको प्राप्त होता है।

'मद्भावाय'का अर्थ है—अमर-भाव, प्रेम-भाव, महाभाव, अभिन्न-भाव आदि। यदि भक्त भगवान्‌के आश्रित रहकर तत्त्वको जानना चाहता है तो अपनी भावना और साधनाके अनुसार अन्तमें वह भगवद्भावको ही प्राप्त हो जाता है अर्थात् भगवान्‌से उसकी अभिन्नता हो जाती है।

ऐसा प्रतीत होता है कि उपर्युक्त बातें साधनावस्थामें विचार-द्वारा साधककी समझमें आ जाती हैं और उसे वैसी स्थितिका ज्ञान भी हो जाता है, परंतु ऐसा होनेपर भी चिन्तन करनेवाले साधकके मनमें कुछ अन्य शङ्काएँ उत्पन्न होती रहती हैं, जिनकी उत्पत्तिका कारण हृदयमें वर्तमान एकदेशीयता है। भगवान्‌के साथ घनिष्ठता होनेसे एकदेशीयता मिट जाती है और वास्तविक प्रेम-भाव उत्पन्न हो जाता है, जिसकी प्रगाढ़ता होनेपर फिर कभी भगवान्‌से वियोग होना सम्भव नहीं है।

सम्बन्ध—उपर्युक्त जिस प्रकरणमें देहाभिमान मिटानेके उद्देश्यसे क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके विभागका वर्णन किया गया और क्षेत्रका स्वरूप एवं उसके विकार भी बताये गये, उसी विषयको अब पुनः पाँच श्लोकोंमें प्रकृति-पुरुषके विवेचन-द्वारा समझाया जा रहा है—

CC-0. Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

श्लोक—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥ १९ ॥

भावार्थ—

यहाँ भगवान् 'क्षेत्र'के कारणरूप प्रकृति और 'क्षेत्रज्ञ' कहलानेवाले पुरुष—दोनोंको 'अनादि' समझनेकी आज्ञा देते हैं तथा प्रकृतिके कार्योंको—मन, बुद्धि, अहंकार, पञ्चमहाभूत आदि तेईस तत्त्वरूप विकारों एवं सत्त्वादि तीनों गुणों और उनसे उत्पन्न पदार्थोंको भी प्रकृतिसे ही उत्पन्न हुआ बतलाते हैं ।

अन्वय—

प्रकृतिम्, च, पुरुषम्, उभौ, एव, अनादी, विद्धि, च, विकारान्, च, गुणान्, अपि, प्रकृतिसम्भवान्, एव, विद्धि ॥ १९ ॥

पद-व्याख्या—

प्रकृतिम् च पुरुषम् उभौ एव अनादी विद्धि—प्रकृति और पुरुष—दोनोंको ही अनादि जानो ।

'प्रकृतिम्'पद यहाँ सम्पूर्ण जगत्की कारणरूपा मूलप्रकृतिका वाचक है । सातवें अध्यायके चौथे और पाँचवें श्लोकोंमें इसीका मन, बुद्धि, अहंकार और पञ्चमहाभूतादिके रूपमें कार्यसहित 'अपरा प्रकृति'के नामसे वर्णन हुआ है । पुनः तेरहवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें बुद्धि, अहंकार, पञ्चमहाभूत, मन, दस इन्द्रियाँ और पाँच इन्द्रियोंके विषय—इस प्रकार तेईस तत्त्वोंके रूपमें 'क्षेत्र'के नामसे भी कार्यसहित इसी मूल-प्रकृतिका उल्लेख है । चौदहवें अध्यायके तीसरे और चौथे श्लोकोंमें इस मूल-प्रकृतिको 'महत् ब्रह्म'के नामसे बताया गया है ।

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jaipur

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

'पुरुषम्' पद यहाँ 'क्षेत्रज्ञ' (सामान्य पुरुष) का वाचक है। जबतक क्षेत्रज्ञकी दृष्टि क्षेत्रकी ओर रहती है एवं क्षेत्रके साथ उसकी मानी हुई एकता रहती है, तबतक वह परमात्मस्वरूप होते हुए भी 'क्षेत्रज्ञ' या 'जीवात्मा'के नामसे पुकारा जाता है। वास्तवमें क्षेत्रज्ञ या जीवात्माकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, भूलके कारण ही उसकी पृथक् सत्ताका भान होता है; अतः यह भूल मिट जानेपर एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही है, ऐसा अनुभव हो जाता है। अपने वास्तविक स्वरूपका अनुभव होनेपर महासर्गके आदिमें न तो उसकी पुनः उत्पत्ति ही होती है और न वह महाप्रलयमें व्यथित ही होता है (१४ । २)।

'उभौ एव' का तात्पर्य यह है कि प्रकृति और पुरुष—दोनोंको (अनादि होते हुए भी) सर्वथा भिन्न ही जानो। आगे बीसवें श्लोकमें भगवान् स्पष्टतया कहते हैं कि प्रकृतिस्थ पुरुष सुख-दुःखके भोक्तापनमें हेतु तो बनता है, किंतु वास्तवमें उसका प्रकृतिके साथ सम्बन्ध है ही नहीं अर्थात् ये दोनों पहलेसे ही अलग-अलग हैं; उन्हें भगवान् इन पदोंसे पृथक्-पृथक् ही जाननेके लिये कहते हैं। 'एव' पद देकर वे इस बातपर बल देते हैं कि ये कभी भी एक नहीं हो सकते, सर्वथा एक-दूसरेसे अलग-अलग ही हैं।

जिसका कोई आदि अर्थात् कारण न हो वह अनादि कहा जाता है। प्रकृति और पुरुष—दोनों अनादि होनेसे समान हैं, किंतु पुरुष प्रकृतिसे विलक्षण है। पुरुष निर्गुण, अव्यय परमात्मा है (१३ । ३१), किंतु प्रकृतिको शास्त्रोंमें गुणों और विकारोंसे

a Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

युक्त एवं परिवर्तनशील कहा गया है । अतः भगवान् इन पदोंसे प्रकृति और पुरुषको अनादि जाननेका संकेत कर रहे हैं ।*

गीतामें प्रकृतिका अनादि रूपसे वर्णन होते हुए भी न तो उसे अनादि-अनन्त कहा गया है और न अनादि-सान्त ही; क्योंकि गीता किसी मतविशेषके फेरमें न पड़कर निष्पक्ष सिद्धान्तका निरूपण करती है और उसका पक्षपातरहित सिद्धान्त यही है कि प्रकृति (जड वस्तु) के सङ्ग (आसक्ति)का त्याग कर देना चाहिये। साधकके लिये जड वस्तुके सङ्ग अर्थात् उसके प्रति प्रियताका त्याग ही मुख्य है ।

च—तथा ।

विकारान् च गुणान् अपि प्रकृतिसम्भवान् एव विद्धि—विकारों और गुणोंको भी प्रकृतिसे ही उत्पन्न जानो ।

यद्यपि शरीरादिके साथ माने हुए अपनेपनके सम्बन्धसे इच्छा-द्वेषादि विकारोंकी उत्पत्ति होती है और इन्हें विकार कहते हैं तथापि इन्हें इस पदके अन्तर्गत नहीं माना गया है; क्योंकि ये गुणोंके कार्य हैं । भगवान् यहाँ प्रकृतिके कार्यरूप महत्तत्त्व आदि

---

* गीतामें प्रकृति और पुरुषका वर्णन अन्य स्थलोंपर भी विभिन्न नामोंसे हुआ है । यथा—सातवें अध्यायके चौथे और पाँचवें श्लोकोंमें 'अपरा' और 'परा' प्रकृतिके नामसे, आठवें अध्यायके तीसरे और चौथे श्लोकोंमें 'अधिभूत' और 'अध्यात्म'के नामसे, इसी (तेरहवें) अध्यायमें 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ'के नामसे, चौदहवें अध्यायके तीसरे और चौथे श्लोकोंमें 'महद्ब्रह्म' और 'गर्भ' नामसे तथा पंद्रहवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें 'क्षर-अक्षर'के नामसे ।

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jaipur

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

विकारोंको ही विकार कहते हैं। इनका वर्णन इसी अध्यायके पाँचवें श्लोकमें सात प्रकृति-विकृति (पाँच सूक्ष्म महाभूत, अहंकार एवं बुद्धि) और सोलह विकृति (एक मन, दस इन्द्रियाँ और पाँच इन्द्रियोंके विषय) बतलाकर किया गया है। अतः यहाँ प्रकृतिके कार्यरूप तेईस तत्त्वोंको ही प्रकृतिसे उत्पन्न हुए विकारोंके रूपमें जानना चाहिये।

तीनों गुण—सत्त्व, रज और तम एवं इनसे उत्पन्न हुए प्रकाश, प्रवृत्ति तथा मोहात्मक सम्पूर्ण वृत्तियों और क्रियाओंको प्रकृतिसे ही उत्पन्न हुए गुणोंके रूपमें जानना चाहिये।

प्रकृति-विकृति एवं विकृति तथा सत्त्व, रज और तम—ये सब प्रकृतिसे ही उत्पन्न होते हैं। 'प्रकृतिसे उत्पन्न' कहनेका भाव यह है कि ये प्रकृतिके ही कार्य हैं, पुरुष इनसे सर्वथा असङ्ग और निर्लिप्त है। उपर्युक्त विवेचनसे साधकको ऐसा स्पष्ट समझ लेना चाहिये कि सम्पूर्ण विकार, क्रियाएँ और पदार्थादि प्रकृतिसम्भूत हैं तथा मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ आदि भी प्राकृतिक ही हैं; अतः इनके द्वारा जो चेष्टाएँ हो रही हैं, वे न तो मुझमें हैं, न मेरी हैं और न मेरे लिये ही हैं। वास्तविक स्वरूपमें कोई चेष्टा है ही नहीं। जिस शरीरके साथ सम्बन्ध माना हुआ है, उसीमें सम्पूर्ण चेष्टाएँ हो रही हैं।

श्लोक—

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥ २०॥

CC-0. Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

भावार्थ—

आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन दसका नाम 'कार्य' एवं मन, बुद्धि और अहंकार; श्रोत्र, त्वचा, रसना, नेत्र और नासिका तथा वाणी, हस्त, पैर, उपस्थ और गुदा—इन तेरह (अन्तःकरण और बाह्यकरण) का नाम 'करण' है। ये सब प्रकृतिके कार्य हैं, इसलिये इनके द्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंके कर्तापनमें भी प्रकृतिकी प्रधानता है। प्रकृति जड है, इसलिये वास्तवमें उसमें कर्तृत्व-भोक्तृत्वका स्वतन्त्र सामर्थ्य है ही नहीं, किंतु व्यवहारमें होनेवाला (सामान्य क्रियासे लेकर निर्विकल्प समाधितक) कर्तृत्व-भोक्तृत्व प्रकृति-पुरुषके सम्बन्धसे ही होता है। कर्तृत्वमें क्रियाकी प्रधानता होनेसे प्रकृतिको हेतु कहा गया है।

सुख-दुःखका अनुभवरूप 'ज्ञान' चेतनको ही हो सकता है, जडको नहीं। इस अभिप्रायसे ही पुरुषको सुख-दुःखोंके भोक्तापनमें हेतु कहा गया है। वास्तवमें पुरुष सुख-दुःखका भोक्ता नहीं है।

अन्वय—

प्रकृतिः, कार्यकरणकर्तृत्वे, हेतुः, उच्यते, [पुरुषः, सुख-दुःखानाम्, भोक्तृत्वे, हेतुः, उच्यते ॥ २० ॥

पद-व्याख्या—

प्रकृतिः कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः उच्यते—(प्रकृतिके) द्वारा 'कार्य' और तेरह 'करण' द्वारा ही सम्पूर्ण क्रियाएँ होनेसे प्रकृति ही कर्तृत्वमें हेतु कही जाती है।

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

क्रियामात्र प्रकृतिमें ही हो रही है, जैसे शरीरका बढ़ना, श्वासका आना-जाना, भोजनका पचना आदि क्रियाएँ स्वतः प्रकृतिमें हो रही हैं, किंतु मन-बुद्धिपूर्वक होनेवाली कुछ क्रियाओं—खाना-पीना, चलना-फिरना, उठना-बैठना, आदिको साधारण मनुष्य अपने-द्वारा की हुई मानता है। इन पदोंसे भगवान्‌का यहाँ यह मन्तव्य है कि वास्तवमें सम्पूर्ण क्रियाएँ प्रकृतिमें ही हो रही हैं, उनमेंसे कुछ क्रियाओंके साथ अपना सम्बन्ध मानना भूल है। मनुष्य वास्तवमें स्वयं कर्ता न होते हुए भी अपनेको कर्ता मान लेता है। ऐसे माने हुए कर्ताको भगवान्‌ने 'अहंकार-विमूढात्मा'की संज्ञा दी है। उसको 'दुर्मति' तथा उसकी बुद्धिको 'अकृतबुद्धि' भी कहा है। सम्पूर्ण क्रियाएँ प्रकृतिद्वारा हो रही हैं—यह कहनेका तात्पर्य वस्तुतः आत्मामें अकर्तापनका बोध करानेमें ही है। यही इन पदोंकी सार्थकता है।

भगवान्‌ने इसी बातको गीतामें अन्य स्थलोंपर भी विभिन्न प्रकारसे कहा है। जैसे—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। (३ । २७)

'वास्तवमें सम्पूर्ण कर्म सब प्रकारसे प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये जाते हैं।'

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः। (३ । २९)

'और प्रकृतिसे ही सम्पूर्ण क्रियाएँ होती हैं।'

गुणा गुणेषु वर्तन्ते। (३ । २८)

'सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बरतते हैं।'

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति। (१४ । १९)

aGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding: MoE-IKS

'जिस कालमें द्रष्टा अर्थात् समष्टि चेतनमें एकीभावसे स्थित हुआ साक्षी पुरुष तीनों गुणोंके अतिरिक्त अन्य किसीको कर्ता नहीं देखता।'

पाँचवें अध्यायका नवाँ, अठारहवें अध्यायका चौदहवाँ आदि श्लोक भी इसी आशयका प्रतिपादन करते हैं। भाव यह है कि प्रकृतिमें ही समस्त क्रियाएँ हो रही हैं, पुरुषमें नहीं।*

---

* गीतामें पुरुषको अकर्ता देखनेवालेकी प्रशंसा और स्वयंको कर्ता माननेवालेकी निन्दा की गयी है। पहले ऐसे कुछ श्लोक द्रष्टव्य हैं, जिनमें विमूढात्मा अपनेको कर्ता मानता है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥ (३।२७)
तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः। (१८।१६)

और निम्नलिखित श्लोक पुरुषको अकर्ता देखनेवालेकी प्रशंसामें कहे गये हैं—

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥ (३।२८)
नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन् गच्छन्स्वपञ्श्वसन्॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥ (५।८-९)
नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥ (१४।१९)
यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥ (१८।१७)

CC-0. Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jaga

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

पुरुषः सुखदुःखानाम् भोक्तृत्वे हेतुः उच्यते—पुरुष सुख-दुःखोंके भोक्तापनमें हेतु कहा जाता है।

सुख-दुःखका ज्ञान चेतनको ही हो सकता है, अतः अपने किये हुए कर्मोंके फलका हेतु भी यही बनता है। कर्मफलरूपसे सुख-दुःखकी परिस्थितिमात्र उत्पन्न होती है; किंतु वे परिस्थितियाँ मनुष्यको बाध्य नहीं करतीं कि वह सुखी-दुखी होकर भोक्ता बने। मनुष्य अपनी मूढ़ताके कारण सुखी-दुखी होता है। यदि वह चाहे तो सुख-दुःखकी परिस्थितिमें सम रह सकता है अर्थात् उनसे ऊँचा उठ सकता है। इसी बातको भगवान्‌ने (२। ३८में) इस प्रकार कहा है—

'सुखदुःखे समे कृत्वा'

—'सुख-दुःखमें समान समझकर अर्थात् सुख-दुःखमें सम रहनेसे स्वरूपमें स्वतः स्थिति हो जाती है, जिसे भगवान्‌ने 'स्वस्थः' (१४। २४) पदसे भी व्यक्त किया है।

निष्कर्ष यह है कि पुरुष वास्तवमें फलका भोक्ता नहीं है, किंतु वह फलसे सर्वथा असङ्ग और निर्लिप्त है। पुरुषको सुख-दुःखोंके भोगनेमें हेतु कहा जाता है अर्थात् वास्तवमें भोक्ता न होते हुए भी प्रकृतिके सङ्गसे उसमें भोक्तापनकी प्रतीति होती है। इस माने हुए भोक्तापनको हटानेमें ही इन पदोंकी सार्थकता है। अगले श्लोकमें यह भी कह दिया गया है कि प्रकृतिमें स्थित पुरुष ही प्रकृतिजन्य गुणोंको भोगता है। क्रियाओंके होनेमें प्रकृतिकी ही प्रधानता है, चेतनकी तो केवल सत्ता-स्फूर्ति है

aGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gi

अर्थात् क्रियाएँ प्रकृतिमें चेतनकी संनिधिमात्रसे ही होती हैं। केवल अज्ञानवश वह अपनेको उनका कर्ता मानता है, अतः माना हुआ कर्तापन मिटाया जा सकता है। भोक्तृत्वमें चेतनकी ही प्रधानता है; क्योंकि सुख-दुःखका अनुभवरूप 'ज्ञान' चेतनको ही होता है, जडको नहीं। जड प्रकृति अंधी होती है, अतः उसकी क्रियाओंमें ज्ञानशक्ति नहीं होती। ज्ञान-शक्ति चेतन पुरुषमें ही है। यही कारण है कि भोक्तापनमें पुरुषको हेतु बताया गया है।

विशेष बात

इस श्लोकमें प्रकृति और पुरुष दोनोंके लिये 'हेतु' पद और 'त्व' प्रत्यय एवं 'कर्तृत्व' तथा 'भोक्तृत्व' शब्द एक-जैसे ही आये हैं। फिर भी 'कर्तृत्व' और तरहका एवं 'भोक्तृत्व' और तरहका है अर्थात् दोनोंमें बहुत अन्तर है।

प्रकृति कार्य-करणरूपमें परिणत होकर कार्य-करणरूपमें ही रहती है, इसलिये कर्तृत्वमें प्रकृतिको हेतु कहा गया है। परंतु पुरुष (चेतन) सुख-दुःखमें परिणत (तद्रूप) नहीं होता; अपितु अपने स्वरूपमें ही स्थित रहता है। वह सुख-दुःखका ज्ञाता बनकर भोक्ता बनता है। 'मैं सुखी हूँ', 'मैं दुःखी हूँ'—यह ज्ञान चेतनके बिना केवल प्रकृतिमें नहीं होता। इसलिये भोक्तृत्वमें पुरुषको हेतु कहा गया है।

पुरुषके वास्तविक स्वरूपमें कर्तृत्व-भोक्तृत्व नहीं है। भगवान्‌ने इसके वास्तविक स्वरूपको निर्विकार कहा है— नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥ अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽय

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalg

0. In Public Domain. Digitized by eGangotri/Sarayu Trust. Funding by MoE-Gran

मुच्यते । (गीता २ । २४-२५) अर्थात् 'यह आत्मा नित्य, सर्वव्यापी, अचल, स्थिर रहनेवाला और सनातन है; और यह अव्यक्त, अचिन्त्य विकाररहित कहा जाता है ।' फिर 'तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि' पदोंसे कहते हैं कि पुरुष (आत्मा)के वास्तविक स्वरूपको जाननेसे शोक हो ही नहीं सकता । परंतु जब पुरुष प्रकृतिस्थ हो जाता है अर्थात् प्रकृति एवं प्रकृतिके कार्यों-(शरीरादि)से अपना सम्बन्ध मान लेता है, तब वह प्रकृतिजन्य गुणोंका भोक्ता बन जाता है ।

अब प्रश्न यह होता है कि जिसमें कर्तृत्व-भोक्तृत्व है ही नहीं, वह पुरुष प्रकृतिजन्य गुणोंका भोक्ता कैसे हो सकता है ?

गीताके सातवें अध्यायके चौथे-पाँचवें श्लोकोंमें भगवान् अपरा (जड़) और परा (चेतन) नामसे अपनी दो प्रकृतियोंका वर्णन करते हैं । ये दोनों प्रकृतियाँ भगवान्का स्वभाव हैं । इसलिये वे दोनों ही स्वतः भगवान्की ओर जा रही हैं । बीचमें पराप्रकृति (चेतन), जो परमात्माका अंश है और जिसकी स्वाभाविक रुचि परमात्माकी ओर जानेकी है, तात्कालिक सुख-भोगमें आकर्षित होकर अपरा प्रकृति (जड़) में लिप्त हो गया । पंद्रहवें अध्यायके सातवें श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि यह जीव मेरा ही अंश है; किंतु तात्कालिक सुखभोगके लिये प्रकृतिमें स्थित मन-बुद्धि-इन्द्रियोंको अपनी ओर खींचता है अर्थात् उन्हें अपना मान लेता है । इतना ही नहीं, प्रकृतिके साथ तादात्म्य करके प्रकृतिस्थ पुरुषके रूपमें अपनी एक स्वतन्त्र सत्ता, जिसे स्वीकृत-सत्ता भी कहते हैं, का निर्माण कर

a Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

लेता है। इस प्रकृतिस्थ पुरुषमें चेतन अंश मिला होनेपर भी प्रकृतिजन्य गुणोंका भोक्ता (इसमें होनेवाला) जड़-अंश ही होता है; क्योंकि सजातीयतामें ही भोगोंकी इच्छा (आकर्षण); भोगनेकी शक्ति और भोगोंमें प्रवृत्ति—इन तीनोंकी सिद्धि होती है। चेतन जितना जड़-अंश पकड़ता है, उतना ही उसका उसमें आकर्षण होता है।

गीताजीमें विचारपूर्वक देखा जाय तो स्पष्ट ज्ञात होता है कि परमात्मामें कर्तृत्व-भोक्तृत्वकी योग्यता है (गीता ३ । २२; ४ । १३-१४; ४ । २९; ९ । २४)। परमात्मा निर्लिप्ततापूर्वक सृष्टिकी रचना, पालन आदि कार्य करते हैं। यह जीवात्मा भी उन्हींका अंश होनेसे इसमें भी सम्बन्ध मानने और न माननेकी योग्यता है। इसी योग्यताका दुरुपयोग करके वह जड़ प्रकृतिके साथ सम्बन्ध मानकर तादात्म्य कर लेता है और प्रकृतिजन्य गुणोंके सङ्गसे बार-बार ऊँच-नीच योनियोंमें भटकता रहता है (१३ । २१)।

जैसे चूने और कत्थे—दोनोंमें 'लाली' नहीं है। चूना सफेद और कत्था मटमैला होता है। परंतु दोनोंके मिलनेपर कत्थेकी योग्यतासे तीसरी वस्तु 'लाली' उत्पन्न हो जाती है; इसी प्रकार जीवात्मामें भी कर्तृत्व-भोक्तृत्वकी योग्यता है, जिससे जड़को अपना माननेपर 'मैं' (अहं) के रूपमें एक नयी प्रकृतिस्थ अवस्था पैदा हो जाती है। यह 'मैं' न तो जड़ है और न चेतन ही है। यह 'मैं' जड़की विशेषता देखकर जड़के साथ एक हो जाता है; जैसे 'मैं धनी हूँ,' 'मैं विद्वान् हूँ' आदि और बँध जाता है। कारण

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

यह है कि जड़-अंश प्रतिक्षण परिवर्तनशील होनेके कारण इसके साथ रहता नहीं; किंतु यह उसकी स्वयं चाह करके उसे छोड़ता नहीं और बार-बार जन्मता-मरता रहता है। इसी तरह यह 'मैं' चेतनकी विशेषता देखकर चेतनके साथ एक हो जाता है; जैसे—'मैं आत्मा हूँ', 'मैं ब्रह्म हूँ' आदि। जबतक मान्यतारूप 'मैं' विद्यमान रहता है, तबतक वास्तविक बोध नहीं होता। अतः इस माने हुए 'मैं'को मिटाना प्रत्येक साधकके लिये अत्यावश्यक है।

इस माने हुए 'मैं'की वास्तविकता जाने बिना सुखपूर्वक रहना और इसकी परवाह न करना 'मैं' के प्रति द्वेष करना है। कारण यह कि इस 'मैं'के रहते हुए कितनी बार जन्मना-मरना पड़ेगा, इसकी गड़ना नहीं हो सकती। तात्पर्य यह कि 'मैं'को बनाये रखना 'मैं' का बहुत बड़ा अहित करना है। इसके विपरीत इस 'मैं' के प्रति इतना मोह हो गया है कि उसे अस्वीकार करना बहुत ही भय उत्पन्न करता है। अतः 'मैं' को किसी-न-किसी रूपमें बनाये रखना एवं उसमें ठेस लगनेसे दुःख होना 'मैं'के प्रति राग है। जिसमें राग होता है, उसका विनाश कोई नहीं चाहता एवं जिसमें द्वेष होता है, उसे बनाये रखना कोई नहीं चाहता। इस प्रकार राग और द्वेष दोनों 'मैं' को दृढ़ करते रहते हैं। अतएव 'मैं' की वास्तविकताका बोध करनेके लिये राग और द्वेषको मिटाना आवश्यक है।

'मैं' के दृढ़ हो जानेपर साधक अपनेको सुन्दर बनानेके लिये किसी-न-किसी मत या वादको अपनायेगा ही, जिसमें एकता भी

a Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

. In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding IKS MoE-SI

होगी और भेद भी। जिस प्रकार भूख और तृप्ति सबकी समान होती है, पर भोजनमें भेद रहता है, इसी प्रकार (सर्वप्रथम) सांसारिक दुःखोंसे छूटनेकी इच्छा एवं (अन्तमें) परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति सबको समान ही होती है, पर साधनप्रणाली (ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग, ध्यानयोग, लययोग आदि)में भेद रहता है। इतना ही नहीं; एक-एक योग (साधन) में लगे हुए साधकोंमें भी परस्पर भेद रहता है; क्योंकि सभी साधकोंकी रुचि, विश्वास, योग्यता, स्वभाव आदि एक-जैसे नहीं होते। जिस महापुरुषने जिस साधनसे तत्त्वका अनुभव किया, उसी साधन-प्रणालीका उन्होंने वर्णन किया। अतः सबका आदर करते हुए साधकको अपनी (रुचि, विश्वास और योग्यताके अनुसार) स्वीकृत साधन-प्रणालीके अनुसार साधनामें तत्परतापूर्वक लगे रहना चाहिये।

जड़ और चेतनके तादात्म्य ('मैं') एवं आकर्षणको एक दृष्टान्तसे सुगमतापूर्वक समझा जा सकता है। चार कोनोंवाले लोहेको आगमें तपानेसे लोहा गरम होकर लाल हो जाता है अर्थात् लोहे और अग्निमें तादात्म्य हो जाता है। अब लोहा अग्निके संयोगसे जलानेवाला हो जाता है एवं अग्नि लोहेके संयोगसे लोहेके आकारकी (चार कोनोंवाली) हो जाती है। अग्निसे तादात्म्य होनेपर भी सजातीयताके कारण लोहा ही चुम्बककी ओर आकर्षित होता है, अग्नि नहीं। अग्नि सर्वव्यापी निराकार अग्नि-तत्त्वकी ओर आकर्षित होकर स्वतः शान्त हो जाती है। लोहेके साथ अग्निका सम्बन्ध आगन्तुक है, किंतु जबतक सम्बन्ध है तबतक अग्निके गुण लोहेमें एवं लोहेका स्वरूप अग्निमें रहता है। तादात्म्यके

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS MoE-Gran

कारण लोहा और अग्नि एक ही दीखते हैं। इसी प्रकार प्रकृति-पुरुषके तादात्म्यसे 'मैं'की मान्यतामें दोनों एक ही दीखते हैं; परंतु वास्तवमें वे एक हो सकते ही नहीं। विनाशी जड़का अविनाशी चेतनके साथ संयोग होना वैसे ही असम्भव है, जैसे सूर्य और अन्धकारका अथवा नदी और तटका संयोग।

'मैं'में जड़ और चेतन दोनों रहनेपर भी सजातीयताके कारण चेतन-अंश चेतन परमात्माकी ओर आकर्षित होता है एवं जड़-अंश जड़ संसारकी ओर आकर्षित होता है। इसलिये चेतन-अंश नित्य-निरन्तर रहना चाहता है, मरना नहीं चाहता है; सुख चाहता है, दुःख नहीं चाहता; ज्ञान चाहता है, अज्ञान नहीं चाहता; स्वाधीनता चाहता है, पराधीनता नहीं चाहता। इसी प्रकार जड़-अंश सांसारिक भोग और संग्रह चाहता है। जड़-अंशकी (भोग और संग्रहकी) इच्छा कितनी ही तीव्र हो जाय, चेतन-अंशकी इच्छा कभी मिटती नहीं और चेतन-अंशकी इच्छा तीव्र हो जाय तो जड़-अंशकी इच्छा टिकती नहीं।

वस्तुतः कर्तृत्व-भोक्तृत्वसे रहित होनेपर भी प्रकृति (शरीरादि) में लिप्तताके कारण प्रकृतिस्थ पुरुष ('मैं') भोक्ता बनकर सुखी-दुखी होता रहता है। वास्तवमें प्रारब्ध-कर्म केवल सुखदायी और दुःखदायी परिस्थिति उपस्थित करते हैं, किंतु अज्ञानसे उन परिस्थितियोंसे मिलकर वह सुखी-दुखी होता है। वह अपनी ओर देखता ही नहीं कि 'सुखके समयमें भी मैं वही हूँ, जो दुःखके समयमें था और दुःखके समयमें भी मैं वही हूँ;

aGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

जो सुखके समयमें था। सुख-दुःखकी परिस्थितियाँ अलग-अलग हैं एवं आती-जाती रहती हैं; किंतु मैं उनमें एक ही रहता हूँ। यदि मैं वही एक न होता, तो इन दोनों परिस्थितियोंका अलग-अलग रूपसे अनुभव कौन करता !' अपनेको भूलसे भोक्ता माननेपर भी वस्तुतः वह सुख-दुःखमें ही सम रहता है; क्योंकि वह सुख और दुःख दोनोंको प्रकाशित करता है।

यही भलीभाँति समझनेका विषय है कि कर्तापनमें तो प्रकृतिकी ही प्रधानता है। जैसे, दिल्लीसे वायुयानके द्वारा कलकत्ता जानेमें (पैदल या रेलगाड़ी आदिसे जानेवालोंकी अपेक्षा) बहुत कम समय लगता है। इसमें कम समय लगनेकी विशेषता वायुयानरूप यन्त्रकी ही है। किंतु मनुष्यकी सहायताके बिना उस यन्त्रकी शक्ति सिद्ध नहीं होती; क्योंकि उसका संचालकत्व मनुष्यके द्वारा ही होता है। यन्त्रके बिना मनुष्यमें शक्ति नहीं होती। इसी प्रकार देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदिके शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिसे होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंमें प्रकृतिकी ही प्रधानता है, किंतु शरीर आदिके साथ अपना सम्बन्ध माननेकी योग्यता पुरुषमें होनेसे वह स्वयं अपनेको कर्ता मान लेता है। अर्थात् प्रकृतिमें होनेवाली क्रियाओंको वह अपनेमें मान लेता है—अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥ (३ । २७) यदि वह प्रकृतिके साथ तादात्म्यको छोड़ दे, तो उसे अपने वास्तविक (कर्तृत्व-भोक्तृत्व-रहित) स्वरूपका बोध हो जाता है, जो कि पहलेसे ही है।

प्रकृतिस्थ पुरुषके चेतन-अंशमें (एकता स्वीकार कर लेनेपर भी) जड़ पदार्थोंका भोक्तृत्व नहीं है। जड़ पदार्थोंको स्वीकार कर

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalg

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

लेनेपर भी स्थूलरूपसे भोक्तृत्व जड़-अंशमें ही [होता है। जड़से तादात्म्य करने, उसे अपना माननेके कारण चेतन भोक्तृत्वमें हेतु कहा जाता है; क्योंकि परिणाममें सुखी-दुःखी चेतन ही होता है। प्रकृतिसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर वह न कर्ता है और न भोक्ता ही है। भोगोंमें आकर्षण, रुचि, रस, प्रवृत्ति सजातीयताके कारण जड़-अंशका ही है, किंतु तादात्म्य होनेसे (चेतन साथ रहनेसे) चेतन-अंशमें ही दिखायी देता है। अतएव कर्ता और भोक्ताके समयमें भी वह कर्ता-भोक्ता नहीं है।

भगवान्‌ने **'उच्यते'** पदका प्रयोग कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनोंमें किया है। जैसे इसी अध्यायके बारहवें श्लोकमें **'न सत् न असत् उच्यते'** कहा गया है, जिसका तात्पर्य है कि ज्ञेय-तत्त्व न सत् कहा जाता है, न असत् कहा जाता है अर्थात् ज्यों-का-त्यों रहता है। ऐसे ही यहाँ भी **'उच्यते'** पदका तात्पर्य प्रकृति और पुरुषकी वास्तविकतासे है अर्थात् प्रकृति प्रतिक्षण क्रियाशील है और पुरुष सदैव अक्रिय है

प्रत्येक साधक जो अपना कल्याण चाहता है, इस माने हुए मैं-पनको मिटानेमें स्वतन्त्र, सबल और योग्य है। कोई भी परतन्त्र, निर्बल और अयोग्य नहीं है। इस सम्बन्धरूप 'मैं' का सर्वथा अभाव होनेपर वास्तविकताका बोध हो जाता है।

'मैं'-पनको मिटानेका सर्वोत्तम उपाय

पुरुष (चेतन) का शरीरादि प्राकृतिक वस्तुओंसे संयोग हुआ कभी नहीं, है नहीं, होगा नहीं और हो सकता ही नहीं।

CC-0. Jangamwadi Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

कारण यह है कि प्रकृति एक क्षण भी स्थिर नहीं रहती, उसमें निरन्तर परिवर्तन होता है, जबकि पुरुष सदैव अपरिवर्तनशील रहता है। यह सबका अनुभव है कि अनेक अवस्थाओंमें हम एक रहते हैं अर्थात् अवस्थाओंमें परिवर्तन होनेपर भी हम निरन्तर अपरिवर्तनशील रहते हैं। यदि हम स्वरूपतः अपरिवर्तनशील न होते तो अवस्थाओंके परिवर्तनको कौन देखता; क्योंकि परिवर्तनको वही देख सकता है, जो स्वयं परिवर्तनरहित है। स्वरूपतः अपरिवर्तनशील रहनेपर भी हम भूलसे परिवर्तनशील प्रकृतिके साथ संयोग करके एकता मान लेते हैं, जो वास्तवमें नहीं है।

प्रवृत्ति (करना) और निवृत्ति (न करना)—दोनों प्राकृतिक अवस्थाएँ हैं अर्थात् दोनोंमें ही प्रकृतिका सम्बन्ध रहता है। प्रवृत्तिके समान ही निवृत्तिमें भी क्रिया होती है। जैसे चलना क्रिया है, वैसे बैठना भी क्रिया है। ऐसे ही, जैसे व्यवहार करना क्रिया है, वैसे समाधिमें भी क्रिया है। प्रवृत्तिमें कार्यरूपसे 'मैं'पन (अहंकार) रहता है और निवृत्तिमें कारणरूपसे 'मैं'पन रहता है। पुरुष (चेतन) भूलसे प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप प्रकृतिसे संयोग मान लेता है जिससे 'मैं'पनकी उत्पत्ति और स्थिति होती है। यदि वह इस माने हुए संयोगसे वर्तमानमें ही पूर्ण वियोगका अनुभव कर ले (जो कि वास्तवमें है) तो 'मैं'पनका विनाश होकर तत्काल (प्रवृत्ति-निवृत्तिसे रहित) तत्त्वका अनुभव हो जाता है—

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्। (गीता ६। २३)

अतएव 'मैं'पनको मिटानेके लिये प्रकृतिसे माने हुए संयोगकालमें ही पूर्ण वियोगका अनुभव करना आवश्यक है।

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalg

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

संयोगकालमें पूर्ण वियोगका अनुभव करनेकी तीन अवस्थाएँ हैं—पहली अवस्थामें साधक ऐसा अनुभव करे कि जिससे संयोग माना है, वह सब प्रतिक्षण मिट रहा है । दूसरी अवस्थामें साधक ऐसा अनुभव करे कि वास्तवमें उनसे हमारा सम्बन्ध (संयोग) है ही नहीं । तीसरी अवस्थामें साधक ऐसा अनुभव करे कि जिनसे वियोग हो रहा है, उन पदार्थोंकी सत्ता ही नहीं है ।

जड़के वियोगका अनुभव होनेपर तत्त्वज्ञान (बोध) हो जाता है और जड़की सत्ताका अभाव अनुभव होनेपर वह तत्त्वज्ञान दृढ़ हो जाता है ।

श्लोक—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ २१ ॥

भावार्थ—

क्योंकि पुरुष कर्तृत्व-भोक्तृत्वसे रहित होते हुए भी प्रकृतिमें स्थित होनेसे अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों शरीरोंमेंसे किसी भी शरीरके साथ अपना सम्बन्ध माननेसे प्रकृतिजन्य गुणोंका अर्थात् प्रकृतिसे उत्पन्न त्रिगुणात्मक पदार्थमात्रका भोक्ता बन जाता है । गुणोंकी अर्थात् क्रियाओं और पदार्थोंकी आसक्ति प्रकृतिस्थ पुरुषके ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म लेनेमें कारण है । वास्तवमें तो वह शुद्ध सच्चिदानन्दघनस्वरूप है ।

अन्वय—

हि, प्रकृतिस्थः, पुरुषः, प्रकृतिजान्, गुणान्, भुङ्क्ते, गुणसङ्गः, (एव), अस्य, सत्-असत्-योनिजन्मसु, कारणम् ॥ २१ ॥

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

पद-व्याख्या—

प्रकृतिस्थः पुरुषः प्रकृतिजान् गुणान् भुङ्क्ते—प्रकृतिमें स्थित हुआ पुरुष प्रकृतिसे उत्पन्न हुए त्रिगुणात्मक पदार्थोंका भोक्ता बनता है।

'प्रकृतिस्थ' कहनेका उद्देश्य पुरुषको 'प्रकृतिमें स्थित' बतानेमें नहीं है। वस्तुतः वह प्रकृतिमें स्थित न होते हुए भी प्रकृतिके अंश (कार्य) शरीरके साथ अपना सम्बन्ध माननेके कारण ही 'प्रकृतिस्थ' कहा जाता है।

त्रिगुणात्मक पदार्थोंका भोक्ता बननेमें क्या हेतु है? इसी तथ्यका विवेचन इन पदोंमें हुआ है। जबतक पुरुषका स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों शरीरोंमेंसे किसी भी शरीरके साथ किंचित् भी सम्बन्ध रहता है, तबतक उसे 'प्रकृतिस्थ' कहा जाता है; क्योंकि ये तीनों ही शरीर प्रकृतिके कार्य हैं।

प्रकृतिस्थ पुरुष तीनों शरीरोंके साथ माने हुए सम्बन्धसे ही सुख-दुःख भोगता है। 'क्षेत्रज्ञ' स्थूल-शरीरके सम्बन्धसे संसारके पदार्थों और क्रियाओंसे, सूक्ष्म-शरीरके सम्बन्धसे जाग्रत्में तो अनुकूलता-प्रतिकूलताके चिन्तनसे और स्वप्नमें स्वप्नके पदार्थों और क्रियाओंसे सुख-दुःख भोगता है। कारण-शरीरके सम्बन्धसे (सुषुप्तिसे जाग्रदवस्थामें आनेपर) 'मुझे गहरी नींद आयी' अथवा 'अच्छी नींद नहीं आयी'—इस प्रकार सुषुप्ति-अवस्थामें जिसका अनुभव किया, उस सुख-दुःखकी स्मृति जागनेके बाद आती है।

समाधिमें भी चित्तकी वृत्तियाँ एकाग्र होनेसे जो सुख-शान्ति मिलती है अथवा अखण्ड समाधि न लगनेसे जो अशान्ति होती

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalg

0. In Public Domain. Digitized by eGangotri Sarayu Trust. Funding by MoE-Gran

है, उसमें भी उसे सुख-दुःखकी अनुभूति होती है। यह समाधिका सुख-भोग अथवा पूर्ण समाधि न लगनेसे विक्षेप होना भी कारण-शरीर सम्बन्धसे ही है। समाधि और सुषुप्तिके सुख-दुःखमें भी अधिकता और न्यूनताका अनुभव होता रहता है; क्योंकि जबतक वास्तविक स्वरूपका ज्ञान नहीं हो जाता, तबतक जीवको परमानन्दकी उपलब्धि नहीं होती। स्थूल-शरीरके सुखकी अपेक्षा सूक्ष्म-शरीरका सुख विशेष है और उसकी अपेक्षा कारण-शरीरका सुख श्रेष्ठ है; किंतु जबतक तीनों शरीरसे सम्बन्ध रहता है, तबतक वह (जीव) दुःखसे सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता अर्थात् उसे दुःखरहित एकरस सुखकी प्राप्ति नहीं होती।

जाग्रत्-अवस्थामें भी जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति—तीनों अवस्थाएँ होती हैं। जो कर्तव्य-कर्म सामने आ जाय, उसे ठीक-ठीक करना जाग्रत्में जाग्रत्-अवस्था है। बाहरसे तो कार्य हो रहा हो, पर उस कार्यकी स्मृति न रहे तथा अन्य चिन्तन होता रहे, तो यह जाग्रत्में स्वप्न-अवस्था है। बाहरसे तो कार्य हो रहा हो, पर न तो उस कार्यकी स्मृति हो और न कोई चिन्तन ही हो अर्थात् निर्विकल्पता हो, तो यह जाग्रत्में सुषुप्ति-अवस्था है। समाधि भी जाग्रत्में सुषुप्ति-अवस्था है।

जाग्रत्में स्थूल प्रवृत्ति और स्वप्नमें सूक्ष्म प्रवृत्ति होती है तथा सुषुप्तिमें इनसे निवृत्ति होती है। प्रवृत्ति (करना) और निवृत्ति (न करना)—दोनों सापेक्ष अवस्थाएँ हैं और इनसे अतीत निरपेक्ष तत्त्व—वास्तविक (सहज) निवृत्ति है। जबतक

a Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

प्रवृत्ति और निवृत्तिसे सम्बन्ध है, तभीतक प्रकृतिके साथ सम्बन्ध अर्थात् अहंकार (मैं-पन) है। जबतक अहंकारके साथ सम्बन्ध है, तबतक वास्तविक निवृत्ति (वास्तविक बोध) नहीं है।

प्रवृत्तिमें 'कार्य'-रूपसे और निवृत्तिमें 'कारण'-रूपसे अहंकार रहता है। प्रवृत्ति और निवृत्ति—दोनोंसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर अहंकारका नाश हो जाता है और वास्तविक बोध हो जाता है।

वास्तवमें प्रवृत्ति और निवृत्ति—दोनोंसे सम्बन्ध पहलेसे ही नहीं है। यदि पहलेसे ही उनसे सम्बन्ध होता तो उनका सम्बन्ध छूटता ही नहीं।

मनुष्यकी स्वाभाविक स्थिति ही वास्तविक निवृत्ति, जीवन्मुक्ति, वास्तविक बोध, (परमात्माके साथ) नित्ययोग, ब्राह्मीस्थिति आदि कहलाती है। इस स्वाभाविक स्थितिका अनुभव प्रवृत्ति (करने) और निवृत्ति (न करने) दोनोंसे रहित होनेपर ही होता है।

शरीरको 'मैं', 'मेरा' और 'मेरे लिये' माननेवाला प्रकृतिस्थ पुरुष ही 'भोक्ता' बनता है। अज्ञानके कारण प्रकृतिजन्य पदार्थोंसे मिलनेवाले सुख-भोगकी इच्छासे ही वह शरीरको 'मैं', 'मेरा' और 'मेरे लिये' मानता है। जबतक शरीरमें किञ्चिन्मात्र भी सुख-भोगकी इच्छा रहती है, तबतक उसकी प्राप्तिके लिये शरीरसे होनेवाली क्रियाओंका कर्ता बननेके कारण उसे उनका फल भोगना ही पड़ता है। यद्यपि क्रियाओंके होनेमें प्रकृतिकी प्रधानता है, तथापि उनके सुख-दुःखरूप फलोंको भोगनेमें पुरुषका प्राधान्य है।

जैसे मोटर-दुर्घटनासे किसीकी मृत्यु होनेकी क्रियामें कार और कार-चालक दोनोंका सहयोग होता है, पर क्रियाके होनेमें केवल

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

कारकी ही प्रधानता है । दुर्घटनाका फल (दुःख) केवल उस कार-चालकको भोगना पड़ता है, जो दुर्घटनाकालमें अपना सम्बन्ध कार चलानेसे मानता है अर्थात् उसका कर्ता बनता है, अन्यको नहीं । वैसे ही पुरुषसे सत्ता-स्फूर्ति पाकर प्रकृतिसे ही समस्त क्रियाएँ होती हैं, परंतु उनमें जिन-जिन क्रियाओंके साथ मनुष्य अपना सम्बन्ध मान लेता है, उन-उन क्रियाओंके सुख-दुःखरूप फलोंका वह भोक्ता बन जाता है । यदि उसे प्रकृतिसे निर्लिप्तताका यथार्थ अनुभव हो जाय और वह सम्पूर्ण क्रियाओंको प्रकृतिद्वारा होती हुई माने [जो वास्तवमें प्रकृतिद्वारा ही होती है (१३ । २९)] एवं उनसे अपने सुख-भोगकी किंचिन्मात्र भी इच्छा न करे तो वह उन क्रियाओंसे सर्वथा असम्बद्ध और निर्लिप्त ही रहेगा, जो कि स्वरूपसे है ही । उसका प्रकृतिसे माना हुआ सम्बन्ध नहीं रहेगा, इसलिये वह उन क्रियाओंके फलका भोक्ता भी नहीं बनेगा । पुरुष यदि भोक्तापनमें कारण नहीं बनता है तो वह स्वतः गुणातीत है ही ।

गुणसङ्गः (एव) अस्य सत्-असत्-योनिजन्मसु कारणम्—गुणोंका सङ्ग ही प्रकृतिस्थ पुरुषके ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म लेनेमें हेतु है ।

सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण प्रकृतिसे उत्पन्न होते हैं । इन तीनों गुणोंसे ही सम्पूर्ण पदार्थों और क्रियाओंकी उत्पत्ति होती है । प्रकृतिस्थ पुरुष जब इन गुणोंके साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है, तब ये उसके ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म लेनेमें कारण हो जाते हैं ।

a Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

सात्त्विक वस्तु स्वतः ऊपर रहती है—यह नियम है। जैसे, दूधमें (पानी, दूध और घी—तीन वस्तुएँ होनेपर भी) सात्त्विक भाग 'घी' सबसे ऊपर रहता है, उससे स्थूल भाग 'दूध' मध्यमें रहता है और सबसे स्थूल भाग 'पानी' सबसे नीचे रहता है। ऐसे ही समाजमें भी सात्त्विक पुरुषका सबसे अधिक आदर होता है, राजस पुरुषका सामान्य आदर होता है और तामस पुरुषका आदर नहीं होता। ऐसे ही सत्त्वगुणके साथ अपना सम्बन्ध माननेसे वह ऊर्ध्व-लोकोंमें अर्थात् स्वर्गादि उच्च लोकोंमें देवादि शरीरोंको धारण करता है। इसी प्रकार रजोगुण और तमोगुणके साथ अपना सम्बन्ध माननेसे क्रमशः मनुष्य और पशु-पक्षी आदि नीच योनियों तथा नरकयन्त्रणा भोगनेवाले शरीरमें जन्म लेता है—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥
(१४।१८)

गुणोंके कार्य—देश, काल और वस्तुसे सम्बन्ध मानकर मनुष्य जबतक अपनेको एकदेशीय मानता है, तबतक उसका गुणोंके साथ सङ्ग है ही। जिस मनुष्यकी जिस गुणमें या उसके कार्यरूप पदार्थमें आसक्ति रहती है, उसकी वैसी ही वासना बनती है। वासनाके अनुसार उसका पुनर्जन्म होता है। पदार्थों एवं व्यक्तियों-द्वारा (आसक्तिपूर्वक) सुख लेनेसे उनके संस्कार अन्तःकरणमें पड़ जाते हैं। बारंबार सुख-भोगके अनुसार चिन्तन होता है, उसे संकल्प-विकल्प अथवा मनोराज्य कहते हैं। उसीसे पुनर्जन्म होता है। इस प्रकार यह गुणोंका सङ्ग ही ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म लेनेमें कारण कहा गया है।

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalpa

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri Sarayu Trust. Funding IKS MoE-Gran

सम्बन्ध—

इसी अध्यायके पहले श्लोकसे अठारहवें श्लोकतक भक्तिसहित ज्ञानका वर्णन होनेसे भगवान्‌ने उसमें पुरुष और परमात्माका अलग-अलग वर्णन किया । परंतु उन्नीसवें श्लोकसे चौंतीसवें श्लोकतक ज्ञानसहित प्रकृति-पुरुषका प्रकरण होनेसे भगवान्‌ने इसमें पुरुषका पृथक्‌रूपसे वर्णन न करके परमात्माके साथ ही वर्णन किया है ।

इक्कीसवें श्लोकमें पुरुषके प्रकृतिस्थ स्वरूपका वर्णन करनेके पश्चात् अब अगले श्लोकमें भगवान् उसके वास्तविक स्वरूपका लक्ष्य कराते हैं कि यह पुरुष ही अनेक प्रकारकी उपाधियोंके सम्बन्धसे अनेक नामोंवाला होता हुआ भी प्रकृतिसे सर्वथा अतीत है—

श्लोक—

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ॥ २२ ॥

भावार्थ—

जैसे प्रकृतिमें स्थित होकर गुणोंके साथ सम्बन्ध रखनेसे यह (पुरुष) भोक्ता बनता है और ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म लेता है, वैसे ही (उपाधियोंके कारण) क्षेत्रको निकटसे देखनेवाला होनेसे 'उपद्रष्टा,' यथार्थ अनुमति देनेवाला होनेसे 'अनुमन्ता,' संसारका भरण-पोषण करनेवाला होनेसे 'भर्ता,' अनेक देव-रूपोंमें समस्त यज्ञोंकी हविको भोगनेवाला होनेसे 'भोक्ता,' अनन्त ब्रह्माण्डोंका शासक—नियन्ता होनेसे 'महेश्वरः,' प्रकृति और प्रकृतिके कार्यसे सर्वथा अतीत होनेसे 'परमात्मा' आदि नामोंसे कहा गया है । वास्तवमें (तो यह)

aiGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

पुरुष इस देहमें रहता हुआ भी स्वतः देहसे सर्वथा असम्बद्ध और निर्लिप्त है। 'पुरुषः परः' पदोंसे इसी बातकी ओर संकेत किया गया है।

जैसे ज्ञेय-तत्त्वके वर्णनमें इसी अध्यायके पंद्रहवें श्लोकमें 'परमात्मा'के स्वरूपका लक्ष्य कराया गया है, वैसे ही प्रकृति-पुरुषके प्रकरणमें यहाँ 'पुरुष'के स्वरूपका (परमात्माकी उपाधियोंसे) लक्ष्य कराया गया है।

अन्वय—

उपद्रष्टा, च, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता, महेश्वरः, च, परमात्मा, इति, उक्तः, पुरुषः, अस्मिन्, देहे, (स्थितः,) अपि, परः (एव) ॥२३॥

पद-व्याख्या—

उपद्रष्टा—निकटसे देखनेवाला होनेसे यह उपद्रष्टा कहा गया है।

क्षेत्रज्ञ सबसे स्थूलरूपमें अपने-आपको 'कर्ता' देखता है, जिसमें स्थूल-शरीर और कर्मेन्द्रियोंके साथ अपना मुख्य सम्बन्ध मानता है। फिर उससे सूक्ष्म उसका दूसरा रूप 'भोक्ता'का होता है, जिसमें वह ज्ञानेन्द्रियों और अन्तःकरणके साथ अपना मुख्य सम्बन्ध मानता है*। फिर उसका तीसरा सूक्ष्म रूप 'ज्ञाता'का होता है, जिसमें वह केवल बुद्धिके साथ अपना सम्बन्ध मानता है। 'मैं बहुत समझदार हूँ'—'ऐसा मानकर अपनेको बुद्धिका स्वामी मानता है, पर वास्तवमें यह बुद्धिकी दासता है। अपने वास्तविक

* गीता कर्तृत्वमें केवल प्रकृतिको और भोक्तापनमें पुरुषको हेतु मानती है। इस दृष्टिकोणसे भोक्ता कर्तासे अन्तरङ्ग तो हो गया, किंतु उसकी जाति कर्ताकी ही है; क्योंकि कर्ता ही भोक्ता बनता है।

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

स्वरूपको जाननेमें तो समझ कामकी (उपयोगी) है, परंतु इसकी दासता किसी कामकी नहीं । (दासता किसीकी भी नहीं होनी चाहिये ।) फिर उसका चौथा और सबसे सूक्ष्म रूप 'साक्षी'का होता है, जिसमें बुद्धिसे साक्षीमात्र होनेका सम्बन्ध है, किंतु वह स्वयं बुद्धिसे सर्वथा निर्लिप्त है । जबतक बुद्धिमें लिप्तता है, तबतक वह प्रकृतिस्थ ही है ।

बुद्धिकी लिप्तता पहचाननेकी कसौटी यह है कि यदि बुद्धिमें किसी भी प्राणी-पदार्थके प्रति किंचिन्मात्र भी राग-द्वेषका भाव है तो वह उससे लिप्त है, यदि कहीं भी ऐसा राग-द्वेषका भाव नहीं है तो बुद्धिसे निर्लिप्त है । बुद्धिसे साक्षीमात्रका सम्बन्ध है अर्थात् उसे यहाँ बुद्धिका भी देखनेवाला 'उपद्रष्टा' नामसे कहा गया है ।

बुद्धिके साथ सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर क्षेत्रज्ञको अपना वास्तविक अर्थात् निर्लिप्त स्वरूप अनुभवमें आने लगता है । ज्ञानी महात्माकी अर्थात् गुणातीत पुरुषकी यह स्वाभाविक स्थिति है, जिसका वर्णन भगवान्‌ने उन्हें 'सम-दुःख-सुख' और 'स्वस्थ' (अपने वास्तविक स्वरूपमें स्थित) कहकर किया है (१४ । २४) ।

उपर्युक्त विवेचनसे यह सिद्ध हो जाता है कि कर्ता, भोक्ता, ज्ञाता और साक्षी वस्तुतः एक क्षेत्रज्ञ ही है, जो क्षेत्रके साथ अपना मनःकल्पित सम्बन्ध न मानकर परमात्मामें अभिन्नभावसे अपने वास्तविक स्वरूपका अनुभव कर लेता है । फिर उसे 'सर्वत्र परमात्मा ही है' (७ । १९), ऐसा प्रत्यक्षवत् अनुभव होता है ।

देखनेवाला जिस भावसे देखता है, उसे संसार वैसा ही दीखता है तथा वह जब जिस सृष्टिको देखना चाहता है, तब

aiGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

उसीको देख सकता है उदाहरणार्थ—जब हम हरिद्वारको देखते हैं, तब हमें उज्जैन नहीं दिखायी देता, वैसे ही पुरुष (क्षेत्रज्ञ) के अन्तःकरणमें यदि संसार (क्षेत्र) के प्रति राग होगा और वह संसारको देखेगा तो उसे संसारके रूपमें (पृथक् सत्तावाला) संसार ही दिखायी देगा; परंतु जब वह संसारसे विमुख होकर परमात्म-तत्त्वके साथ अपनी अभिन्नताका बोध करता है, तब उसे संसार रूपमें संसार नहीं दिखायी देता, अपितु वह भी सच्चिदानन्दघन रूपमें ही प्रतीत होता है; क्योंकि उसकी दृष्टि केवल सच्चिदानन्दघन स्वरूपमें ही स्थित होती है ।

जैसे सूर्यके प्रकाशसे प्रकाशित पदार्थरूप, प्रकाश एवं सूर्य—तीनों सूर्य अथवा सूर्यके रूपान्तर ही हैं; क्योंकि पदार्थमात्र और प्रकाश सूर्यसे ही उत्पन्न होते हैं; वैसे ही संसारमात्रको परमात्मासे ही उत्पन्न और प्रकाशित जानने एवं अपनी वास्तविकताका बोध होनेसे साधकको संसार भी परमात्मस्वरूप ही दिखायी देता है । वास्तवमें संसारकी स्वतन्त्रता है ही नहीं । केवल परमात्मा ही स्वतन्त्र और सर्वत्र हैं । इसी बातको भगवान् इस प्रकार कहते हैं कि तत्त्वज्ञ महापुरुषको 'सब कुछ वासुदेव ही है'—ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव होता है ।

च—और

अनुमन्ता भर्ता भोक्ता महेश्वरः च परमात्मा इति उक्तः—यथार्थ सम्मति देनेवाला होनेसे अनुमन्ता,* संसारका

* साधक जब अहंता, ममता, कामना, इच्छा आदिका त्याग कर

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalg

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

भरण-पोषण करनेवाला होनेसे भर्ता, देवताओंके रूपमें तप-यज्ञादिका भोक्ता (९ । २४), अनन्त ब्रह्माण्डका शासक होनेसे महेश्वर और प्रकृति एवं प्रकृतिके कार्योंसे सर्वथा असम्बद्ध और अतीत होनेसे उसे परमात्मा कहा गया है ।

वह एक ही तत्त्व भिन्न-भिन्न उपाधियोंके सम्बन्धसे 'अनुमन्ता' आदि पदोंसे सम्बोधित किया गया है, इसलिये इन पृथक्-पृथक् नामोंसे पुरुषके ही स्वरूपका वर्णन मानना चाहिये । वास्तवमें उसमें किसी प्रकारका भेद नहीं है । वह क्षेत्रसे सर्वथा अतीत है । जैसे एक ही पुरुष देश, काल, वेश और सम्बन्ध आदिके अनुसार भिन्न-भिन्न (पिता, चाचा, ताऊ, मामा, नाना, भाई आदि) नामोंसे पुकारा जाता है, वैसे ही सर्वत्र परिपूर्ण परमतत्त्व अलग-अलग उपाधियोंके (सम्बन्धके) कारण भिन्न-भिन्न नामोंसे अभिहित होनेपर भी वास्तवमें एक ही है ।

इसी अध्यायके पहले श्लोकमें क्षेत्रका ज्ञाता होनेसे पुरुषके स्वरूपको 'क्षेत्रज्ञ' कहा गया है । क्षेत्रसे सम्बन्ध न रहनेपर वास्तवमें 'क्षेत्रज्ञ'-संज्ञाका अस्तित्व ही नहीं है ।

पुरुषः अस्मिन् देहे (स्थितः) अपि परः (एव)—पुरुष इस देहमें रहता हुआ भी इससे पर (अतीत) ही है ।

इसी अध्यायके इकतीसवें और बत्तीसवें श्लोकोंमें पुरुष (क्षेत्रज्ञ)के प्रभावका वर्णन करते हुए भगवान् कहते हैं कि

निराश्रित हो भगवान्‌की शरणमें आकर जिज्ञासा करता है कि मुझे अब क्या करना चाहिये; तब उसके अन्तःकरणमें ही प्रभुकी ओरसे यथार्थ अनुमति (सम्मति) का स्फुरण होता है ।

aGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

वह क्षेत्रज्ञ सर्वत्र स्थित होनेसे इस देहमें भी स्थित है, किंतु देहसे लिप्त नहीं है अर्थात् देहसे सर्वथा असम्बद्ध और निर्लिप्त है। भगवान्‌ने इन पदोंसे पुरुषकी निर्लिप्तताका ही कथन किया है।

दूसरे श्लोकमें 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' पदोंद्वारा भगवान्‌ने क्षेत्रज्ञसे अपनी अभिन्नता बतलायी है। उसी बातको यहाँ इस रूपमें कह रहे हैं कि जो क्षेत्रज्ञ भिन्न-भिन्न उपाधियोंसे 'उपद्रष्टा' आदि कहा गया है, वह वास्तवमें क्षेत्र अर्थात् दृश्यसे अत्यन्त परे शुद्धस्वरूप परमात्मा ही है।

इस पदसे यह भाव भी लिया जा सकता है कि पुरुष (क्षेत्रज्ञ)का सम्बन्ध जितना इस शरीरके साथ है, उतना ही सब शरीरोंके साथ है। यदि उसका सम्बन्ध अन्य शरीरोंके साथ नहीं है तो इस शरीरके साथ भी नहीं है; क्योंकि सभी शरीर एक ही जातिके हैं अर्थात् सब शरीरोंमें जातीय एकता है। इसी प्रकार स्वरूप और परमात्मामें भी तात्त्विक एकता है।

सम्बन्ध—

उन्नीसवें श्लोकसे बाईसवें श्लोकतक भगवान्‌ने प्रकृति और पुरुषकी परस्पर विभिन्नताका वर्णन किया। अब वे उस प्रकरणका उपसंहार करते हुए इस श्लोकमें उन दोनोंको तत्त्वसे जाननेका फल बतला रहे हैं—

श्लोक—

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते॥ २३॥

भावार्थ—

बाईसवें श्लोकमें क्षेत्रज्ञके स्वरूपका वर्णन करते हुए उसे

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

वस्तुतः प्रकृतिसे सर्वथा अतीत, असम्बद्ध और निर्लिप्त कहा गया। यहाँ 'एवम्' पद देकर भगवान् कहते हैं कि पुरुषको उक्त प्रकार जानना ही उसे तत्त्वसे जानना है। इस प्रकार गुणोंके सहित प्रकृतिको पुरुषसे सर्वथा पृथक् ही जानना चाहिये। जो मनुष्य प्रकृति और पुरुषका (जो स्वरूपतः पृथक् ही हैं) वास्तविकतासे अनुभव कर लेता है, वही उनका यथार्थ ज्ञाता है अर्थात् उसे प्रकृतिसे सर्वथा असङ्गताका अनुभव हो जाता है। वह सम्पूर्ण पदार्थोंके बीच रहता हुआ और समस्त क्रियाओंको करता हुआ भी उनसे सर्वथा निर्लिप्त रहता है। लोगोंकी दृष्टिमें यद्यपि वह शरीरमें स्थित है और सब प्रकारके (शास्त्र-विहित) कार्य भी करता है, किंतु उनसे निर्लिप्त होनेके कारण उसका पुनर्जन्म नहीं होता; क्योंकि जन्मका कारण तो प्रकृतिजन्य गुणोंका सङ्ग ही है।

अन्वय—

एवम्, पुरुषम्, च, गुणैः, सह, प्रकृतिम्, यः, वेत्ति, सः, सर्वथा, वर्तमानः, अपि, भूयः, न, अभिजायते ॥ २३ ॥

पद-व्याख्या—

एवम् पुरुषम् च गुणैः सह प्रकृतिम् यः वेत्ति—इस प्रकार पुरुषको और गुणोंके सहित प्रकृतिके स्वरूपको जो (मनुष्य) अलग-अलग जानता है (वह उनको तत्त्वसे जानता है)।

पुरुष सर्वथा परिवर्तनरहित एवं निष्क्रिय है। प्रकृति सदैव परिवर्तन और क्रियाशील है, अतः उसमें विकार होते रहते हैं; इससे सिद्ध हुआ कि पुरुष और प्रकृति एक-दूसरेसे सदैव सर्वथा

CC-0. Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

भिन्न हैं। इस प्रकार जो पुरुष और प्रकृतिके भेदको जान लेता है वही उनको यथार्थरूपसे जानता है। पुरुष और प्रकृतिको इस रूपमें जाननेका जो निर्देश किया गया है, उसका अभिप्राय यह है कि साधक अपने-आपको प्रकृतिसे सर्वथा निर्लिप्त अनुभव करे।

यहाँ शङ्का हो सकती है कि सर्गकालमें प्रकृति क्रियाशील रहती है, परंतु प्रलयकालमें तो वह निष्क्रिय हो जाती है, फिर उस दशामें उसे सदैव क्रियाशील कैसे कहा जाय ?

समाधान—महाप्रलयकालमें प्रकृतिमें निष्क्रियता सर्गकालके परिवर्तनकी दृष्टिसे होती है, किंतु सूक्ष्म-दृष्टिसे विचार करनेपर स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्रकृति कभी भी सर्वथा निष्क्रिय नहीं रहती। जैसे मध्याह्नमें सूर्यका प्रकाश प्रचण्ड होता है, तत्पश्चात् धीरे-धीरे वह मन्द होता चला जाता है तथा सूर्यास्त होनेपर हम मानते हैं कि प्रकाश लुप्त हो गया; पर वास्तवमें प्रकाश अर्द्धरात्रितक धीरे-धीरे ही लुप्त होता जाता है। अर्द्धरात्रिके बाद वह धीरे-धीरे पुनः बढ़ने लगता है और सूर्योदय होनेपर वह प्रत्यक्ष प्रतीत होने लगता है। तात्पर्य यह है कि मध्याह्नसे मध्यरात्रितक अन्धकार बढ़ता है और मध्यरात्रिसे मध्याह्नतक प्रकाश बढ़ता है। वैसे ही सृष्टिका आधा सर्ग बीत जानेपर अर्थात् ब्रह्माजीके पचास वर्ष पूरे होनेपर इक्यावनवें वर्षसे सृष्टि महाप्रलयकी ओर चलती है। ब्रह्माजीके सौ वर्ष पूरे होनेके पश्चात् भी और पचास वर्षोंतक अर्थात् मध्य प्रलयकालतक उस ओर ही अग्रसर होती है। मध्य प्रलयकालके बाद वह महासर्गकी ओर चलती है और ब्रह्माजीकी उत्पत्तिके पश्चात् भी और पचास वर्षोंतक उसी ओर चलती है।

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jaipur

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

जैसे स्थूल दृष्टिसे सूर्योदयके समय प्रकाशका और सूर्यास्तके समय अन्धकारका होना कहा जाता है, वैसे ही सर्गके आदिमें ब्रह्माजीकी उत्पत्तिके बाद प्रकृतिको क्रियाशील और महाप्रलयकालमें प्रकृतिसहित ब्रह्माजीके लीन होनेपर प्रकृतिको निष्क्रिय कहते हैं; परंतु विचार करनेपर यह तथ्य प्रकाशमें आता है कि जैसे दिन-रातके होनेमें प्रकाशकी क्रिया निरन्तर रहती है, उसी प्रकार प्रकृतिमें भी सदैव क्रिया होती रहती है।*

यह तो हम सभीका अनुभव है कि हम दिनमें काम करते हैं और रात्रिमें शयन। निद्राकालमें हम निष्क्रिय-से दीखते हैं, पर यहाँ भी निष्क्रियताका कथन स्थूल रीतिसे ही है। सूक्ष्म-दृष्टिसे विचार करें तो पता लगता है कि यदि कोई छः घंटे सोता है तो उसमें प्रथम तीन घंटोंमें तो नींद आनेकी ओर तथा अगले तीन घंटोंमें निद्रा-भङ्ग होनेकी दिशामें क्रिया होती है। नींदमें कोई विघ्न आ जानेसे जागनेपर भी यही कहा जाता है कि 'कच्ची नींदमें जगा दिया।' इसका तात्पर्य यह है कि सोते समय भी शरीरमें नींदके पकनेकी क्रिया होती है अर्थात् नींदमें निश्चेष्ट दीखनेवाला शरीर वस्तुतः सर्वथा निष्क्रिय नहीं होता। जैसे प्रत्येक व्यक्तिका शरीर, चाहे दिन हो या रात, सदैव क्रियाशील है, वैसे

---

* महासर्गमें समयका ज्ञापक (मापक) सूर्य होता है, किंतु महाप्रलयमें सूर्य भी लीन हो जाता है; अतः महासर्गके समयसे ही महाप्रलयके कालकी गणना आरम्भ हो जाती है। महाप्रलयके कालकी गणनाका एकमात्र साधन नित्य, चेतन, अविनाशी परमात्मा ही हैं, उसका कोई और माप नहीं।

a. Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

ही प्रकृति भी सर्ग-प्रलय और महासर्ग-महाप्रलयमें सदैव क्रियाशील ही है, उसमें निष्क्रियता है ही नहीं।

भोजन करते ही शरीरमें पाचन-क्रिया आरम्भ हो जाती है। इसकी पहचान यह है कि भोजनके कुछ समय पश्चात् प्यास लगती है। पानी पीनेपर पाचन-क्रिया चलती रहती है और अन्तमें भोजनके अलग-अलग अंश बनते हैं। रक्त, मांस, मज्जा, मल-मूत्र आदिके रूपमें भोजन ही सूक्ष्म या स्थूल रूपसे शरीरके अन्य अवयवोंमें चला जाता है। शौच जानेपर आँतोंमें जमा मल बाहर हो जाता है। भोजनके कुछ समय बाद प्राणीको पुनः भूख लगती है और मनुष्य पुनः भोजन करता है— यह एक क्रम है। ऐसा नहीं होता कि भोजनके समयमें ही पाचन-क्रिया चलती रहे, अन्य समयमें नहीं। पाचन-क्रिया तो शरीरमें सदैव स्वतः चलती ही रहती है। जैसे शरीरमें पाचन-क्रिया प्रकृतिवश स्वतः होती है, वैसे ही (शरीरसे) सुनने, देखने, स्पर्श करने, चखने और सूँघनेकी क्रियाएँ भी प्रकृतिद्वारा स्वतः संचालित हैं। भगवान् यहाँ गुणोंसहित प्रकृतिको तत्त्वसे जाननेकी बात कहकर साधकका ध्यान इस तथ्यकी ओर आकृष्ट कर रहे हैं कि सम्पूर्ण क्रियाएँ निरन्तर प्रकृतिद्वारा ही हो रही हैं—

'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।'
(३ । २७)

'सम्पूर्ण कर्म सब प्रकारसे प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये जाते हैं।'

'प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।'
(१३ । २९)

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

'सम्पूर्ण कर्म सब प्रकारसे केवल प्रकृतिके द्वारा ही किये जाते हैं ।'

—आदि श्लोकोंमें कही बातको भगवान् 'एव' पदद्वारा विशेषरूपसे स्पष्ट व्यक्त करते हैं । क्रियाएँ स्वरूपमें नहीं हैं, यह एक निश्चित सत्य है ।

प्रकृतिद्वारा निरन्तर सम्पन्न होती हुई क्रियाओंमें जो मन-बुद्धिके संकेतसे सम्पन्न होती हैं, उन्हें मनुष्य अज्ञानवश अपनी और अपने लिये मान लेता है फिर प्रकृतिजन्य गुणोंसे बँध जाता है, इसीलिये उसका जन्म-मरण होता है । वह अपने स्वरूप-गुण अकर्तृत्वको भूल जाता है । झूठी मान्यता (अहंभाव) के कारण ही वह कर्ता-भोक्ता बनता है, जिसके परिणामस्वरूप उसका पुनर्जन्म होता है । भगवान् यहाँ साधकको अपना वास्तविक स्वरूप जाननेके लिये सावधान करते हैं, जिससे वह अच्छी प्रकार जान ले कि स्वरूपमें वस्तुतः कोई क्रिया सम्भव नहीं है, इसलिये वह किसी भी क्रियाका कर्ता नहीं है और कर्ता न होनेके कारण वह भोक्ता भी नहीं होता । साधक जब अपने-आपको स्वरूपतः अकर्ता जान लेता है, तब उसका कर्तापन-भोक्तापनका अभिमान स्वतः नष्ट हो जाता है और उसमें क्रियाकी फलासक्ति भी नहीं रहती । फिर भी प्रारब्धवश अथवा शरीर-निर्वाह-हेतु उसके द्वारा शास्त्र-सम्मत क्रियाएँ स्वतः होती रहती हैं । कामना-रहित होनेके कारण उसकी निषिद्ध कर्मोंमें प्रवृत्ति होती ही नहीं । गुणातीत होनेके कारण वह पुनर्जन्मको प्राप्त नहीं होता ।

a Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

तात्पर्य पुरुष और प्रकृति—दोनोंको सर्वथा पृथक्-पृथक् अनुभव कर लेनेमें है अर्थात् पुरुष सदैव निष्क्रिय है और प्रकृति सदैव क्रियाशीला है तथा सम्पूर्ण क्रियाएँ पुरुषकी अध्यक्षतामें प्रकृतिद्वारा ही सम्पन्न होती हैं (९ । १०) इस प्रकार पुरुष एवं प्रकृति—दोनोंको पृथक्-पृथक् रूपमें जान लेनेपर यह अनुभव हो जाता है कि प्रकृतिके साथ पुरुषका सम्बन्ध केवल अज्ञानके कारण माना हुआ है । ऐसे सम्बन्धको न माननेसे स्वतः ही माने हुए एकत्वकी कड़ी टूट जाती है । फिर उस महात्माकी दृष्टिमें केवल परमात्मतत्त्व ही रह जाता है; क्योंकि परमात्मासे पृथक् प्रकृतिकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है ।

सः सर्वथा वर्तमानः अपि भूयः न अभिजायते—वह सब प्रकारसे सम्पूर्ण कार्य करते हुए भी फिर जन्म नहीं लेता है ।

'सर्वथा वर्तमानः अपि' पदोंसे भगवान्‌का एकान्त-सेवन अथवा क्रियाविशेषका (कोई) आग्रह नहीं जान पड़ता । आशय यह कि सम्पूर्ण क्रियाएँ वर्ण, आश्रम और परिस्थितिके अनुसार स्वभावतः विवेकपूर्ण ढंगसे होती रहें अर्थात् जो जिस परिस्थितिमें है तथा जो समय, समझ, शक्ति, सामर्थ्य और अधिकार उसके पास है और कर्तव्यरूपसे जो कार्य सामने आ जाय उसीको वह स्वाभाविक करता रहे । इस प्रकार जब उन क्रियाओंमें मनुष्यके राग-द्वेष, अहंकार आदिका सर्वथा अभाव हो जाता है, तब उसके द्वारा निषिद्ध कर्मके होनेकी सम्भावना ही नहीं रहती; क्योंकि निषिद्ध कर्मके होनेमें राग-द्वेष ही हेतु हैं—**'काम एष क्रोध एषः**

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

(३ । ३७) । अतः उसके द्वारा केवल शास्त्र-प्रमाणित स्वाभाविक कर्म ही होते हैं, जो अन्योंके लिये अनुकरणीय हैं (३ । २१) ।

'सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ।'

(६ । ३१)

अर्थात् वह योगी ध्यान अथवा व्यवहारमें यथायोग्य सम्पूर्ण कार्य करते हुए भी मुझमें ही बरतता है ।

इन पदोंसे भगवान्‌का ऐसा आशय प्रतीत होता है कि इस स्थितिको प्राप्त करनेके लिये साधक ध्यानकाल अथवा व्यवहार-कालमें परमात्मामें अभिन्न भाव रखते हुए भी क्रियाओंका अनुष्ठान कर सकता है, चाहे वह एकान्त-सेवन करे या समूहमें रहे । अर्थात् एकान्त-सेवन साधनामें सहायक तो है, पर सभी साधकोंके लिये आवश्यक नहीं । अतः साधकोंको प्रकृति, स्वभाव, सामर्थ्य और परिस्थितिके अनुसार कर्तव्यरूपसे जो भी कर्म प्राप्त हो जाय, उसे सदैव विवेकपूर्वक उचितरूपसे करते रहना चाहिये ।

विशेष बात

शास्त्रमें 'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्' 'अपने किये हुए कर्मोंका फल अवश्य भोगना ही पड़ता है'—ऐसा कहा गया है । किंतु यदि मनुष्य सांसारिक संग्रह और भोगोंमें सुखकी इच्छाका सर्वथा त्याग कर दे तो अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति आनेपर उसे सुख अथवा दुःख नहीं होगा अर्थात् वह फलका भागी नहीं बनेगा । सुखी-दुःखी होने या न होनेमें मनुष्य स्वतन्त्र है । वह केवल अपने अज्ञानसे ही सुखी-दुखी होता है;

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalg

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-C

क्योंकि कर्मफल तो अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति मात्र पैदा करते हैं न कि सुख-दुःख ।

मनुष्य चाहे तो अनुकूल और प्रतिकूल—दोनों प्रकारकी परिस्थितियोंको परमात्माकी प्राप्तिका साधन बना सकता है । अनुकूल परिस्थितियोंमें तो उसे दूसरोंकी सेवा तथा प्रतिकूल परिस्थितियोंमें सुखकी इच्छाका और अशुभ कर्मोंका त्याग करना चाहिये । भूत-कालमें किये गये अशुभ कर्मोंके फलस्वरूप ही प्रतिकूल परिस्थितियाँ आती हैं, इसलिये उनका त्याग तो हो ही नहीं सकता; किंतु आगे अशुभ कर्म न हों, ऐसी सावधानी अवश्य रखी जा सकती है । शुभ (पुण्य) कर्मोंके फलरूप भोग्य-पदार्थोंका त्याग अर्थात् उसमें आसक्तिका त्याग कर देना चाहिये ।* यदि मनुष्य निषिद्ध (पाप) कर्म करता रहेगा तो वह उन कर्मोंके कर्तापन और उनके दुःखरूप कर्मफलसे छूट ही नहीं सकता अर्थात् उसे भोक्ता बनना ही पड़ेगा, अतः कर्ता और भोक्ता न बननेके लिये निषिद्ध कर्मोंका स्वरूपसे त्याग कर देना चाहिये ।

मार्मिक बात—प्रायः साधक यह अभिलाषा करते हैं कि उन्हें अच्छी परिस्थिति, अच्छा देश और अच्छा समय मिल जाय तो भगवत्प्राप्तिका साधन करें अर्थात् अनुकूल सुविधाएँ होनेपर ही वे साधनामें लगना चाहते हैं । अनुकूल सुविधाएँ या परिस्थितियाँ तो प्रकृतिसे ही प्राप्त होंगी और भगवत्प्राप्तिका अर्थ है—जड़ प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद करना । जड-प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेदका लक्ष्य सिद्ध करनेके अभिप्रायसे साधनकालमें प्रकृतिके ही द्वारा सुविधाएँ पानेकी

* शुभ-कर्मोंमें सकामभाव ही त्याज्य है । शुभ-कर्म नहीं ।

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalg

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

चेष्टा करना वस्तुतः एक असंगत प्रयास होगा। प्रकृतिका आश्रय लेकर उससे ही छुटकारा पाना कैसे सम्भव हो सकेगा! वास्तवमें चिन्मयताकी प्राप्ति जड़ताकी सहायतासे नहीं, अपितु जड़ताके त्यागसे होती है। इसलिये प्राकृतिक सुविधाओं एवं असुविधाओं—दोनोंसे असङ्ग होकर साधन करे।

'भूयः न अभिजायते' का अर्थ है, उसका पुनर्जन्म नहीं होता अर्थात् वह मुक्त हो जाता है।*

सम्बन्ध—

उन्नीसवें श्लोकके पूर्वार्द्धमें प्रकृति-पुरुषको अनादि बताया गया और उसके उत्तरार्द्धमें क्षेत्रके विषयमें कौन तत्त्व किससे उत्पन्न हुआ—इसका प्रतिपादन किया गया। बीसवें श्लोकके पूर्वार्द्धमें इन्द्रियोंद्वारा होनेवाली क्रियाओंमें प्रकृतिको और भोक्तृत्वमें पुरुषको हेतु बताया गया, उसके उत्तरार्द्धमें और इक्कीसवें श्लोकमें प्रकृतिस्थ पुरुषके स्वरूपका वर्णन करते हुए जन्म-मरणरूप बन्धनके हेतुका उल्लेख किया गया। बाईसवें श्लोकमें नाना उपाधियोंके कारण परमतत्त्वकी अनेकरूपताका विवेचन करते हुए भी उसे वास्तवमें प्रकृति (शरीर)से असङ्ग बताकर तेईसवें

---

* इस पदके अन्तर्गत गीतामें अन्य स्थलोंपर आये हुए उन सभी पदोंके भावोंको भी ग्रहण कर लेना चाहिये, जिनमें परमधामकी प्राप्ति (८। २१; १५। ६), अमरताकी प्राप्ति (१४। २०), अव्यय-पदकी प्राप्ति (१५। ५), परमगतिकी प्राप्ति (८। २१; १६। २२), जन्म-मरणसे रहित होना (२। ५१) और अपने स्वरूपसे अभिन्नताका अनुभव करना (१३। २) आदिके विषयमें कहा गया है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

श्लोकमें उसी तत्त्वको जाननेका माहात्म्य बताया गया है। अगले दो श्लोकोंमें भगवान् उसी ज्ञेय तत्त्वकी प्राप्तिके निमि अधिकारिभेदके अनुसार चार विभिन्न साधनोंका वर्णन करते हैं—

श्लोक—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥ २४

भावार्थ—

कई पुरुष ध्यानद्वारा अपने-आप (स्वरूप)का अपने अनुभव करते हैं तथा अन्य कई पुरुष सांख्य (ज्ञान)-योगके द्वा अर्थात् विवेकद्वारा और अन्य कई पुरुष कर्मयोगके द्वारा अर्ज आपका अपनेमें अनुभव करते हैं।

अन्वय—

केचित्, ध्यानेन, आत्मना, आत्मनि, आत्मानम्, पश्यन्ति अन्ये, सांख्येन, योगेन, च, अपरे, कर्मयोगेन (पश्यन्ति)॥ २४

पद-व्याख्या—

केचित् ध्यानेन आत्मना आत्मनि आत्मानम् पश्यन्ति— कई पुरुष ध्यानद्वारा आत्मासे आत्मामें आत्माका अनुभव करते हैं

ध्येयाकार वृत्तिका नाम ध्यान है। परमात्मस्वरूप ध्येय प्रतिदिन प्रातः और सायं तीन-तीन घंटेतक वृत्तिको स्थिर करने लगभग छः मासमें ध्येयाकार वृत्ति हो सकती है। जैसे तिजोरीमें रखे हुए धनको स्वेच्छानुसार खोलकर देखा जा सकता है, वैसे ही ध्येयाकार वृत्ति हो जानेपर स्वेच्छानुसार ध्येयका ध्यान किया जा सकता है।

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

जो साधक श्रद्धा, विश्वास, योग्यता और ध्यानाभ्यासद्वारा ज्ञेय तत्त्वको प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हींके लिये भगवान्‌ने इन पदोंसे ध्यानरूप साधनका वर्णन किया है । परमात्माके विषयमें साधकने जैसा संत-महात्माओंसे सुना और शास्त्रोंमें पढ़ा हो अथवा स्वयं विचारपूर्वक निश्चय किया हो, उसीके अनुसार ही निर्गुण, सगुण-निराकार और सगुण-साकार आदि परमात्मस्वरूपोंमेंसे किसी भी एक स्वरूपका उपर्युक्त प्रकारसे ध्यान करना चाहिये । शास्त्रोंका आशय ऐसा ज्ञात होता है कि ये सभी स्वरूप एक ही परमात्माके हैं अर्थात् विभिन्न स्वरूपोंसे वे एक परमात्मा ही निर्दिष्ट होते हैं । अतः उन परमात्माके किसी भी एक स्वरूपका ध्यान करनेसे साधकको परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति हो सकती है ।

साधकको परमात्माके वास्तविक स्वरूपका ज्ञान तो पहलेसे तो है नहीं, अतः उसे अपनी बुद्धिसे निश्चित किये हुए स्वरूपका ही प्रतिदिन ध्यान करना चाहिये । इस प्रकार ध्यान करनेसे कुछ ही समयमें ध्यानके दृढ़ होनेसे उसकी वृत्ति सूक्ष्म होकर ध्येयाकार हो जायगी और फिर वह जब चाहेगा, तभी अपने इष्ट (ध्येय)के मानसिक (अभ्यस्त) स्वरूपका अनुभव कर सकेगा, किंतु ध्यान रहे वह साधककी पूर्णावस्था नहीं होगी; क्योंकि ऊँचे-से-ऊँचे ध्यानमें भी मनोवृत्ति (जड)के साथ सम्बन्ध रहनेके कारण साधकको वास्तविकताका बोध नहीं होता । ध्यानमें ध्येयाकार होनेसे स्वयं जब ध्येयमें तल्लीन हो जाता है, तब वृत्ति छूट जाती है अर्थात् जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है । सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर उसे तत्काल ही वास्तविकताका बोध होता है, जो कि वस्तुतः पहलेसे

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

ही है । अतः वास्तविकताका अनुभव करनेके लिये उसे जड़
चित्तसे भी सर्वथा उपराम होना पड़ेगा । जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद
करनेके प्रकार अलग-अलग हैं; क्योंकि साधकोंकी रुचि, विश्वास,
योग्यता आदिमें तथा साधनोंमें भिन्नता होती है । परंतु जड़ताके
साथ सम्बन्ध-विच्छेद सभी साधकोंको करना ही पड़ेगा । जबतक
जड़ताके साथ किसी प्रकारका किञ्चिन्मात्र भी सम्बन्ध रहता है
तबतक वास्तविकताका बोध नहीं हो सकता । अतः साधकको
चाहिये कि वह पहलेसे ही जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद करनेका दृढ़
निश्चय कर ले ।

चित्तसे उपराम होनेका अत्यन्त सहज और सरल उपाय 'चुप
होना' (संकल्पोंका अभाव) है । क्रियाएँ स्थूल-शरीरसे होती हैं,
चिन्तन सूक्ष्म-शरीरसे होता है और समाधि कारण-शरीरसे होती
है । क्रिया और चिन्तनमें तो जडताका सम्बन्ध है ही, समाधिमें
भी जडतासे सम्बन्ध रहता है । उस जडताके सम्बन्धको दूर
करनेका सुगम उपाय तत्त्वको समझकर 'चुप' हो जाना है
(६ । २५) । 'चुप'का अर्थ है—किसीसे कोई प्रयोजन न
रखना । इस प्रकार 'चुप' (चिन्तनरहित) हो जानेसे साधकको
बहुत शीघ्र ही सहजावस्थाका अनुभव हो जाता है अर्थात्
ध्यानावस्थामें ध्यान करनेवाला, ध्यानकी वृत्ति तथा ध्येयरूपा त्रिपुटी
सहजावस्थामें नहीं रहती, अपितु एक परमात्मतत्त्व ही रह जाता है
जो सदासे था, है और रहेगा ।

'चुप' (निःसंकल्पताको स्वीकार करने)के अतिरिक्त किसी भी
अन्य उपायमें जडताकी सहायता लेनी ही पड़ती है । 'चुप' हो

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

एकमात्र ऐसा उपाय है, जिसमें जड़तासे स्वतः सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है एवं जिसके माध्यमसे बुद्धि अपने सहित अपने सामने आनेवाले सभी नश्वर पदार्थों—मन-इन्द्रियाँ, शरीर आदिका अभाव कर देती है । फलस्वरूप तत्त्व ज्यों-का-त्यों रह जाता है अर्थात् वास्तविकताका बोध हो जाता है । अतः साधकोंको प्रतिदिन दस, बीस, पचास, सौ या अधिक बार 'चुप' (निःसंकल्प) होनेका प्रयत्न करते हुए अन्तमें 'परमात्मा तो नित्य हैं ही'—ऐसा दृढ़ विचार करके जडताके साथ सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद कर लेना चाहिये । वास्तविक स्थितिका अनुभव होनेपर बुद्धिमें नाशवान् पदार्थोंके जो संस्कार हैं, वे स्वतः समाप्त हो जायँगे । बर्फको जलमें रखनेपर जैसे वह जल ही हो जाता है; क्योंकि वह पहलेसे ही जल था, वैसे ही संसारके नाशवान् पदार्थोंमें पहलेसे ही सत्तारूपसे विद्यमान परमात्मतत्त्वकी वास्तविकताका बोध होनेपर साधककी दृष्टिमें केवल परमात्मतत्त्व ही शेष रह जाता है ।

'वासुदेवः सर्वमिति' (७ । १९)

नेत्र दृश्यको देखते हैं और उसे देखनेमें वे सूर्यके प्रकाशकी सहायता लेते हैं । प्रकाशके बिना नेत्र दृश्यको देख ही नहीं सकते । जैसे नेत्र-दृष्टि सूर्यादिके प्रकाशमें ही रूपको देखती है, वैसे ही बुद्धि भी किसी प्रकाशकी सहायतासे ही काम करती है । बुद्धिसे ध्यान करनेपर 'मैं ध्यान करनेवाला', 'मेरी ध्येयाकार वृत्तियाँ' और 'ध्येय परमात्मा'—ऐसी त्रिपुटी बनी रहती है । यह त्रिपुटी जिस प्रकाशके अन्तर्गत दिखायी देती है, वही आत्मा या परमात्माका स्वरूप है, वहाँ त्रिपुटी नहीं है । वह परमात्मस्वरूप एक अद्वितीय विलक्षण

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

तत्त्व है। साधक जबतक त्रिपुटीके साथ अपना सम्बन्ध मानता है तबतक उसमें अज्ञान रहता है। त्रिपुटीसे सम्बन्ध-विच्छेद होते ही वह अपने ज्ञान-स्वरूपकी अनुभूति कर लेता है। उस त्रिपुटीके नाश करनेके लिये भक्तियोगके रूपमें पुनः एक सरल उपाय कहा जाता है—

भक्तियोगके अनुसार केवल 'मैं'को बदलनेसे साधकमें त्रिपुटीका अभाव हो जाता है। साधकको यह मानना चाहिये कि 'मैं परमात्माका हूँ', इसलिये मेरे कहलानेवाले पदार्थ—शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि तथा इनके सम्बन्धसे होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाएँ परमात्माकी हैं और ध्यान भी परमात्माका ही है, अर्थात् सब कुछ परमात्माका है। अतः 'मैं'की मान्यता बदल देनेमात्रसे नाशवान् जड पदार्थोंकी ममता स्वयमेव मिट जाती है। ममता मिटनेपर अहंता भी शिथिल होती हुई अन्तमें परमात्मामें ही विलीन हो जाती है और साधकको वास्तविकताका बोध हो जाता है। **'करी गोपालकी सब होय'** तो फिर कर्तृत्वाभिमान कैसा? अतः सब कुछ परमात्माका मान लेनेपर भक्त सुगमतापूर्वक अहंकाररहित हो जाता है।

भक्त सब कुछ भगवान्‌का ही मानता हो, केवल इतना ही नहीं है; अपितु भक्तियोगके साधनमें एक और विलक्षणता यह है कि भक्त अपने स्वाभाविक कर्मोंसे भगवान्‌का पूजन करता हुआ परम सिद्धिकी अनुभूति अर्थात् भगवत्प्राप्ति कर लेता है—**'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः'** (१८ । ४६)। भगवान्‌का पूजन करते हुए भक्त कहता है—'हे नाथ! मेरा कुछ नहीं, आपका

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding: MoE-IKS

ही वस्तु आपके समर्पित है'—त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये ।' इस प्रकार अपने स्वाभाविक कर्मोंसे भगवान्‌का पूजन करता हुआ भक्त सर्वथा अहंकाररहित हो जाता है अर्थात् त्रिपुटीका नाश होकर एक परमात्मतत्त्व ही रह जाता है ।

यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि 'मैं भगवान्‌का हूँ'—ऐसी मान्यता भी तो अहंकार ही है, फिर साधक सर्वथा अहंकाररहित कैसे हुआ ?

इसका समाधान यह है कि यदि भक्त केवल अपनेको ही भगवान्‌का माने, अन्योंको नहीं, तो निश्चय ही यह अहंकार है, किंतु भक्त अपने सहित समस्त प्राणियों और पदार्थोंको भी भगवान्‌का मानता है, केवल मानता ही नहीं; अपितु ऐसा जानता भी है । वह शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धिसे होनेवाली क्रियाओंको भी भगवान्‌की शक्तिसे भगवान्‌के लिये ही सम्पन्न हुआ मानता है । अतः 'मैं भगवान्‌का हूँ', उसकी यह उक्ति अहंकार नहीं है । वह परमात्मासे पृथक् एक स्वतन्त्र सत्ताके रूपमें नहीं रहता अर्थात् पूजक, पूजन-सामग्री और पूजनकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रह जाती, केवल पूज्य ही रह जाता है, यही पूजनकी पूर्णता है ।

भक्तका अपनत्व भगवान्‌के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं रहता । भगवान् अपने श्रीमुखसे **'ममैवांशः'** (१५ । ७) कहकर इसे 'अपना' स्वीकार करते ही हैं, इसलिये भक्तकी यह मान्यता कि 'मैं भगवान्‌का हूँ' और ध्येय—दोनों सत्य होनेसे वह अहंकाररहित हो जाता है । यह सिद्धान्त है कि सत्यता कभी व्यक्तिगत

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

. In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding IKS MoE-Gi

नहीं होती, वह सदैव व्यापक होती है; अतः उस सत्य वस्तुमें अटल स्थिति होनेपर सत्य-तत्त्वके साथ एकता हो जाती है और परिणामस्वरूप भक्त अहंकाररहित हो जाता है । असत् अर्थात् शरीरादिको अपना माननेसे ही अहंकार उत्पन्न होकर बन्धनका कारण होता है । यदि असत्‌को न पकड़े तो साधक वास्तवमें मुक्त है ही ।

अन्ये सांख्येन योगेन—अन्य कई पुरुष (गीता २ । ११-३० में वर्णित) सांख्ययोगके द्वारा अर्थात् विवेकद्वारा आत्माके आत्मामें आत्माका अनुभव करते हैं ।

कई पुरुष विवेकद्वारा संसारका सर्वथा 'बाध' कर बुद्धिसे भी अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लेनेके पश्चात् शेष रहनेवाले परमात्माका अनुभव करते हैं । यह अनुभव साधन-चतुष्टय (विवेक, वैराग्य, षट्-सम्पत्ति* और मुमुक्षुत्व)-सम्पन्न अधिकारीद्वारा सुगमतासे किया जा सकता है ।

अद्वैत-सिद्धान्तके अनुसार सबसे पहले साधक अद्वैत-भाव ('एक परमात्मा ही है') पर विश्वास करता है, उसका श्रवण करता है, श्रवणके अनन्तर एकान्तमें बैठकर मनन और निदिध्यासन करता है । सम्पूर्ण दृश्य-पदार्थ प्रतिक्षण परिवर्तित होते हुए नाशकी ओर जा रहे हैं, अतः दिखायी देनेपर भी इनकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है', इस प्रकारके विचारद्वारा वह सबका 'बाध' करता जाता है । फिर

* शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान—ये साधन षट्-सम्पत्ति कहलाते हैं ।

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalg

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंद्वारा ईश्वर-जीवकी एकतारूप वाच्यार्थका भी त्याग करके लक्ष्यार्थके साथ ही एकता करता है अर्थात् जिसकी सत्तासे सम्पूर्ण नाशवान् पदार्थ भी 'हैं'के सदृश दिखायी देते हैं, वह 'है'के रूपमें रहनेवाली परमात्मसत्ता (सबका बाध करनेपर) उसके अनुभवमें आ जाती है। तात्पर्य यह कि वास्तविक विवेकके उदय होते ही जड़-चेतनकी ग्रन्थिका भेदन हो जाता है; फलतः वस्तुस्थितिका बोध हो जाता है।

इस प्रकार विवेकयुक्त बुद्धिद्वारा सबका अनुभव करते हुए जो शेषमें स्थित वास्तविक सत्ताका अनुभव करता है, वही सांख्ययोगद्वारा आत्मासे आत्मामें आत्माका अनुभव करता है।

च—और।

अपरे कर्मयोगेन (पश्यन्ति)—अन्य कई मनुष्य कर्मयोगद्वारा अर्थात् जड (सांसारिक) पदार्थोंको दूसरोंके हितमें लगाकर आत्मासे आत्मामें आत्माका अनुभव करते हैं।

कर्मयोगद्वारा अपने-आपको जाननेके लिये 'कर्म क्या है ? योग क्या है ? कर्मयोग क्या है ? कर्मयोगके द्वारा अपने आपका अनुभव कैसे होता है ?' आदि प्रश्नोंको भलीभाँति समझनेकी आवश्यकता है।

शास्त्रविहित नित्य (संध्या-वन्दन आदि), नैमित्तिक (देश, काल, अवसरके सम्बन्धको लेकर श्राद्ध आदि) और वर्णधर्मानुसार आवश्यक कर्तव्य-कर्मोंको 'कर्म' कहा जाता है; जीविकासम्बन्धी कर्म निष्काम भी किये जा सकते हैं।

'योग' समताका नाम है—'समत्वं योग उच्यते' (२ । ४८)। समतापूर्वक कार्य करनेसे प्राणीका परमात्माके साथ स्वतः

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

योग हो जाता है; क्योंकि कर्मोंमें आसक्ति, कर्तापन और फलेच्छासे ही विषमता उत्पन्न होती है तथा परमात्मासे पृथक्ताका भान होता है, अतः इनके त्यागसे नित्य-प्राप्त परमात्माके साथ एकताका अनुभव होता है, जिसके परिणामस्वरूप सर्वदुःखोंका अभाव हो जाता है। गीतामें 'तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्' (६। २३)—दुःखोंके संयोगसे वियोगको 'योग'के नामसे जाननेके लिये कहा गया है।

'योगः कर्मसु कौशलम्' (२। ५०)—कर्मोंमें समत्वबुद्धिरूप योग ही कुशलता है अर्थात् कर्मोंमें योग एक ऐसी विलक्षण विद्या है, जिसे काममें लानेसे बन्धनमें डालनेवाले कर्म मुक्तिप्रदाता बन जाते हैं; अतएव योगपूर्वक कर्मोंके अनुष्ठानसे कर्मयोग सिद्ध होता है। तात्पर्य यह कि कर्मोंको अपने लिये करनेसे बन्धन होता है और अपने लिये न करनेसे उन्हीं कर्मोंको करते हुए मुक्ति हो जाती है अर्थात् कर्मयोग सिद्ध हो जाता है। कर्मयोगसे तत्त्व-ज्ञानकी प्राप्ति स्वतः हो जाती है (४। ३८)।

साधकोंकी रुचि, श्रद्धा और विश्वास-भेदके अनुसार भी कई अन्य उपाय हैं, किंतु इस युगमें यह 'कर्मयोग'रूप उपाय ही भगवत्प्राप्तिके अन्य साधनों—ध्यानयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग आदिकी अपेक्षा सहज और सरल प्रतीत होता है। प्रायः अधिकांश मनुष्योंके अन्तःकरणमें क्रियाओंको सम्पन्न करनेका 'वेग' रहता है और जबतक वह बना रहता है, तबतक वे कर्मोंको स्वरूपसे त्यागकर अन्य पारमार्थिक साधनोंमें पूर्णरूपसे नहीं लग पाते। केवल इतना ही नहीं,

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalg

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

प्रमादवश उनके पतनकी भी सम्भावना बनी रहती है। कर्मयोग इस (क्रियाओंको सम्पन्न करनेके) वेगको शान्त करनेका एक अचूक उपाय है।

उपर्युक्त वेगका कारण है—कर्म-फलमें आसक्ति। फलासक्तिसे कर्मों और उनके उपकरणोंमें मनुष्यकी आसक्ति हो जाती है। आसक्तिसे कर्म और कर्मसे आसक्ति—इस प्रकार ये एक-दूसरेको बढ़ाते रहते हैं। जबतक यह आसक्ति रहती है, तबतक क्रिया सम्पन्न करनेकी तीव्रता शान्त नहीं होती। परमात्माको प्राप्त करनेकी अभिलाषा होनेपर यह आसक्ति कम होने लगती है। तब मनुष्य सोचता है कि इससे छुटकारा कैसे मिले? आसक्तिका त्याग करनेके लिये जब वह इसके कारणकी खोज करता है, तब उसे पता लगता है कि संसारके प्राणी-पदार्थोंसे मैंने पहले (भूतकालमें) सुख लिया है, वर्तमानमें ले रहा हूँ और भविष्यमें उसकी आशा रखता हूँ—इसीसे यह आसक्ति बनी हुई है।' अतः इस सुखासक्तिका त्याग करनेके लिये वह समतारूप योगको काममें लाता है।

कर्मयोगी परमात्माकी प्राप्तिके उद्देश्यसे पदार्थ, शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहंतकको अपनेसे विजातीय एवं जगत्‌से प्राप्त होनेके कारण अपना या अपने लिये नहीं मानता, अपितु जगत्‌का और जगत्‌के लिये ही मानता है। फिर वह संसारसे प्राप्त पदार्थोंसे जगत्‌की सेवा और हित तो करता ही है, साथ ही पदार्थों और क्रियाओंको भी उन्हींकी मानता है, जिनकी वह सेवा करता है, अतः वर्तमानमें वह सिद्धि-असिद्धिमें सम रहता है एवं जगत्‌की

aj Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-C

वस्तुओंको उसीकी सेवामें लगाकर भविष्यमें भी उन क्रियाओंके फलसे अपना कोई प्रयोजन नहीं रखता अर्थात् किसी भी प्रकारका फल अपने लिये नहीं चाहता; क्योंकि जब संसारकी वस्तु संसारको ही अर्पण कर दी, तब उसके फलकी इच्छा अपने लिये कैसे हो सकती है ? इस रीतिसे स्वाभाविक कर्मोंका अनुष्ठान करते हुए भी आसक्ति, कामना, ममता, फलेच्छा तथा कर्तृत्वाभिमानका त्याग सुगमतापूर्वक हो जाता है। इस प्रकार साधकका कर्मोंसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। फलस्वरूप उसका अपने-आपमें परमात्माका बोध स्वतः हो जाता है जो पहलेसे ही है। भगवान् इन पदोंसे इसी परमात्म-बोधको आत्मासे आत्मामें आत्माका अनुभव होना कह रहे हैं।

शङ्का—कर्मोंको करते हुए सर्वथा अहंकाररहित कैसे हुआ जा सकता है ?

समाधान—साधकमें अहंकार प्रायः दो प्रकारका रहता है—(१) स्थूलरूप—पदार्थ एवं क्रियाओंके सम्बन्ध (अपनत्व) के कारण। (२) सूक्ष्मरूप—अपनी पृथक् सत्ता अर्थात् 'मैं हूँ', यह अनुभव। अब इनके निराकरणपर विचार करें—

कर्मयोगका साधक पदार्थोंको जगत्से प्राप्त हुआ मानता है। प्राप्त हुई वस्तु अपनी नहीं होती, प्रत्युत किसीके द्वारा प्रदत्त होती है। साथ ही कर्मयोगके साधककी एक विशेषता और होती है कि वह जिन शरीरादिसे जगत्की सेवा करता है, उन्हें भी जगत्का ही मानता है। फलस्वरूप पदार्थों और क्रियाओंसे उसका

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalg

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

किंचिन्मात्र भी स्वार्थपूर्ण सम्बन्ध नहीं रह जाता; फिर उनसे होनेवाला अभिमान तो उसे हो ही कैसे सकता है ?

वास्तवमें 'मैं' से 'मेरा' होता है। अर्थात् 'अहं'के पश्चात् 'ममत्व'का प्रादुर्भाव होता है और जबतक 'मेरा'पन रहता है, तबतक 'मैं'पन मिटता नहीं; वह अपेक्षाकृत और भी दृढ़ हो जाता है। अपने लिये कुछ-न-कुछ चाहने एवं करनेके कारण ही 'मैं'पन नहीं मिटता, किंतु यदि अपने लिये किंचिन्मात्र भी चाह न रखी जाय और अपने लिये कुछ भी न किया जाय तो वह 'मैं'पन सेवामें विलीन हो जाता है, क्योंकि सांसारिक पदार्थ शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहं (मैं-पन) आदि सब-के-सब संसारकी सेवामें लग जानेसे इनका प्रवाह संसारकी ओर हो जाता है।

साधकको यह दृढ़ निश्चय कर लेना चाहिये कि उसे अपने लिये किसी भी परिस्थितिमें कभी, कुछ भी नहीं करना है। ऐसा दृढ़ भाव होना ही कर्मयोगका वास्तविक स्वरूप है। जो अपने लिये कुछ भी नहीं करता, उसके द्वारा होनेवाली प्रत्येक (लौकिक और पारमार्थिक) क्रिया संसारमात्रके हितके लिये ही होती है।

छोटे-से-छोटे साधनको भी भलीभाँति उपयोगमें लानेसे साधकको अपने सूक्ष्म दोष स्पष्टरूपसे दृष्टिगोचर होने लगते हैं एवं उसे उन्हें दूर करनेका सामर्थ्य प्राप्त हो जाता है।

कर्मयोगके साधककी दृष्टि आरम्भसे ही त्यागकी ओर होती है। वह पदार्थों और शरीरादि (उपकरणों) को जगत्‌की सेवामें लगाता है। फिर उसे 'मैं हूँ'—ऐसा सूक्ष्म अहं दोष स्पष्टरूपसे

aj Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-C

दृष्टिगोचर होने लगता है; तब (त्यागकी ओर आरम्भसे ही झुकाव होनेके कारण) वह इस सूक्ष्म अहंकाररूप दोषका भी सेवा-वृत्तिद्वारा सुगमतापूर्वक त्याग कर देता है। दृश्य पदार्थोंको संसारकी सेवामें लगानेसे उसका संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और शुद्धान्तःकरणमें स्वतः तत्त्वज्ञान अर्थात् वास्तविकताका बोध हो जाता है। इस प्रकार कर्मयोगी सम्पूर्ण कर्मोंको करते हुए भी सुगमतासे सर्वथा अहंकाररहित हो जाता है। यही कारण है कि भगवान्‌ने 'कर्मोंके त्यागनेमात्रसे सिद्धि नहीं मिलती'—'ऐसा कहकर स्वरूपसे कर्मोंके त्यागका निषेध किया है एवं योगसे सिद्धि चाहनेवाले मननशील पुरुषके लिये निष्कामभावसे कर्म करना आवश्यक बतलाया है (६ । ३)।

साधक अन्य साधनोंकी अपेक्षा कर्मयोगरूप साधनद्वारा परमात्मतत्त्वको सुगमतासे प्राप्त कर सकता है। ज्ञानयोगके पथपर चलनेके लिये उसे पहले विवेक-वैराग्यसे सम्पन्न होकर 'अधिकारी' बनना पड़ता है; किंतु कर्मयोगमें जो परमात्मतत्त्वका अभिलाषी है वही अधिकारी है। वह जो शास्त्रविहित कार्य नित्यप्रति करता है उन्हें ही निष्कामभावसे करते हुए परमात्मतत्त्वको प्राप्त हो जाता है, उसका उद्देश्य परमात्माकी प्राप्ति है।

सकाम-कर्म करनेवाले साधकका (फलासक्तिके कारण) कर्म करनेका वेग शान्त नहीं होता; क्योंकि वह वर्तमानमें कर्मोंको अपना मानकर एवं भविष्यमें फलकी इच्छा रखकर कर्मोंके साथ अपना सम्बन्ध बनाये रखता है, अतः उसके

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalg

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

लिये परमात्माकी प्राप्ति सम्भव नहीं हो पाती। इसलिये जो साधक शीघ्र भगवत्प्राप्ति चाहता है, उसे चाहिये कि वह निषिद्ध कार्य तो करे ही नहीं, साथ ही शुभ-कर्मोंका फल भी न चाहे। वह शरीरादि (प्रकृतिसे उत्पन्न) पदार्थोंको अपना न मानकर जगत्का माने और उन्हें जगत्की सेवामें ही लगाये। इस प्रकार निष्काम-भावपूर्वक कर्म करनेसे उसका—कर्मोंके अनुष्ठानका वेग शान्त हो जाता है; फलस्वरूप उसे एक विशेष शान्ति प्राप्त होती है। इस अलौकिक शान्तिका उपभोग न करके जब वह उसका भी त्याग कर देता है, तब तत्काल ही उसे तत्त्वका अनुभव हो जाता है अर्थात् वह आत्मासे आत्मामें आत्माका अनुभव कर लेता है।

आजकल ऐसी मान्यता भी है कि कर्मयोग तो प्रारम्भिक साधन है, तत्पश्चात् भक्तियोगका स्थान है और उसके पश्चात् ज्ञानयोगके सम्पादनकी योग्यता आती है तथा ज्ञान ही मुक्तिमें हेतु होता है। कई ऐसा भी कहते हैं कि कर्मयोगसे मुक्ति होती ही नहीं, वह तो केवल ज्ञानयोगसे ही सम्भव है; परंतु गीताको पूर्ण मनोयोगपूर्वक देखनेसे ज्ञात होता है कि भगवान्का आशय ऐसा नहीं है। कर्मयोगरूप साधनकी अन्य साधनोंमें भी आवश्यकता रहती है; क्योंकि मनुष्योंमें क्रियाओंको करनेकी आतुरता प्रायः रहती है और वह क्रियाओंके निष्काम अनुष्ठान करनेपर ही मिटती है। क्रियाओंका वेग शान्त होनेपर कोई-सा भी योग सिद्ध हो सकता है। इसके अतिरिक्त अकेला कर्मयोग भी तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति करा देता है—'तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति'।

a Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

(४ । ३८) पदोंसे भगवान् कर्मयोगसे ही तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिका निर्देश करते हैं* । अतः कर्मयोगके साधकको अन्य योगोंका आश्रय लेनेकी आवश्यकता नहीं है । हाँ, रुचि, श्रद्धा, विश्वास और योग्यता आदिके अनुसार यदि कोई साधक किसी अन्य योगसे परमतत्त्व प्राप्त करना चाहे तो वह ऐसा करनेमें स्वतन्त्र है ।

'कर्मयोगसे मुक्ति होती ही नहीं'—यह कथन गीतासम्मत नहीं है; क्योंकि भगवान् स्वयं अपने श्रीमुखसे सांख्ययोग और कर्मयोगका सिद्धान्त प्रतिपादित करते हुए कहते हैं कि 'संन्यास और कर्मयोगमेंसे किसी एकमें भी सम्यक् प्रकारसे स्थित पुरुष दोनोंके फलरूप परमात्माको प्राप्त कर लेता है (५ । ४-५) ।' भगवान्‌का मन्तव्य ही यथार्थ है । वस्तुतः निषिद्ध कर्मोंका और शुभ कर्मोंके फलोंकी आसक्तिका त्यागकर, शरीरादि पदार्थोंको जगत्‌का मानकर अपने-अपने वर्ण और आश्रमके अनुसार उन्हें जगत्‌की सेवामें लगाते हुए वास्तविकताका बोध कर लेना ही मानव-जीवनका चरम उद्देश्य है ।

---

* व्याकरणकी दृष्टिसे 'कालेन' पद तृतीयामें प्रयुक्त हुआ है, जिसका अर्थ है—तत्काल फलप्राप्ति अवश्यम्भावी होना । यदि विलम्बसे प्राप्ति होती तो तृतीयाकी जगह यह पद द्वितीया 'कालम्'में प्रयुक्त होता, जिसका अर्थ होता कि समय लगनेपर भी प्राप्ति नहीं होगी । उदाहरणार्थ, 'मासम् अधीते' द्वितीयामें प्रयुक्त हुआ, तो इसका अर्थ होता है कि एक मासमें भी पूरा न पढ़ सका । परंतु वही पद जब तृतीया 'मासेन अधीते'में प्रयुक्त होता है, तब उसका अर्थ होता है कि एक मासमें पढ़ लिया । इसी प्रकार यहाँ भगवान्‌ने 'कालेन' पद तृतीयामें प्रयुक्त करके यह बतलाया है कि कर्मयोगसे तत्काल अवश्यम्भावी परमात्मप्राप्तिका अनुभव हो जाता है ।

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

यह ध्यान देनेकी बात है कि कर्मयोगी (कामना न होनेसे) निषिद्ध कर्म तो कर सकता ही नहीं, साथ ही विहित कर्मोंका आग्रह भी नहीं रखता। कर्तव्यरूपसे जो कर्म उसके सामने आते हैं, उन्हें वह कामनारहित हो सम्पन्न कर लेता है। उसके पास अपना करके कुछ नहीं होता। वह अपने लिये कभी कुछ नहीं करता। इस प्रकार निष्कामभावपूर्वक केवल कर्तव्य-बुद्धिसे जगत्‌की सेवा करता हुआ वह कर्म-बन्धनसे मुक्त हो जाता है।

श्लोक—

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥ २५॥

भावार्थ—

परंतु इनसे भिन्न कई साधक ऐसे भी हैं, जो ध्यानयोग, सांख्ययोग और कर्मयोगके साधनोंको ठीक-ठीक न जाननेके कारण उनका अनुष्ठान करनेमें अपनेको असमर्थ मानते हैं। वे अनुभवी संत-महात्माओंसे सुनकर ही उपासना करते हैं अर्थात् परमात्म-प्राप्तिका उद्देश्य रखकर महापुरुषोंके वचनोंके अनुसार तत्परतापूर्वक निष्कामभावपूर्वक आचरण करते हैं। इसलिये वे सुननेके परायण हुए साधक भी निःसंदेह मृत्युको पार कर जाते हैं।

अन्वय—

तु, अन्ये, एवम्, अजानन्तः, अन्येभ्यः, श्रुत्वा, उपासते, च, ते, श्रुतिपरायणाः, अपि, मृत्युम्, अतितरन्ति, एव॥

पद-व्याख्या—

तु अन्ये एवम् अजानन्तः अन्येभ्यः श्रुत्वा उपासते—परंतु इनसे भिन्न कुछ मन्द बुद्धिवाले पुरुष ऐसे भी हैं, जो स्वयं

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalg

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

इस प्रकार ध्यानयोग, (निर्विकल्पता), सांख्ययोग (असंगता) और कर्मयोग (समता) के साधनोंका ज्ञान न रखनेके कारण दूसरोंसे अर्थात् अनुभवी महापुरुषोंसे सुनकर ही उपासनामें प्रवृत्त होते हैं ।

अनुभवी महापुरुषद्वारा कहे हुए वचनोंके अनुसार आचरण करनेवाला साधक केवल महापुरुषकी आज्ञाका पालन कर रहा हो, इतना ही नहीं है; अपितु वह ऋषि, वेद और भगवान्‌की आज्ञाका भी पालन करता है; क्योंकि महापुरुषोंके वचन शास्त्र-सम्मत होते हैं । वेद, शास्त्र और भगवान्‌की आज्ञा है कि महापुरुषोंके आज्ञानुसार चलो—'महाजनो येन गतः स पन्थाः' (महाभारत ३ । ३१ । ६०)। इसलिये ऐसा साधक भी भगवत्कृपासे निःसंदेह शीघ्र ही मृत्युसे तर जाता है ।

यदि साधकको तत्त्व-प्राप्तिकी प्रबल इच्छा हो और वह किसी अनुभवी महापुरुषके पास जाकर केवल श्रद्धापूर्वक उनके आज्ञा-पालनमें ही लग जाय तो इतनेमात्रसे भी उसे परमात्म-तत्त्वका बोध हो सकता है । उनके आज्ञा-पालनसे वह जान जाता है कि मेरे लिये अन्य कुछ कर्तव्य नहीं है, कुछ पाना नहीं है और कुछ जानना नहीं है । मुझे तो परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिके लिये केवल उनके आज्ञानुसार ही चलना है ।

ऐसी साधना करनेवाले साधकोंकी भी तीन श्रेणियाँ होती हैं—(१) यदि साधकमें सांसारिक सुख-भोगकी इच्छा शेष नहीं है, केवल तत्त्वप्राप्तिकी ही तीव्र अभिलाषा है एवं वह जिनकी

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-G

आज्ञाका पालन करता है, वे महापुरुष हैं तो साधक शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति कर लेता है। (२) महापुरुषकी आज्ञाका पालन करनेवाले साधकमें यदि सुख-भोगकी इच्छा शेष है तो केवल आज्ञा-पालनसे ही उसकी उस इच्छाका नाश हो जायगा और उसे परमात्माकी प्राप्ति हो जायगी। और (३) साधक जिनकी आज्ञाका पालन करता है, वे यदि अनुभवी महापुरुष नहीं हैं, पर साधकमें किंचिन्मात्र भी सांसारिक इच्छा नहीं है और उसका उद्देश्य केवल परमात्माकी प्राप्ति है तो उसे भी भगवत्कृपासे अपना लक्ष्य प्राप्त हो जायगा। साथ ही उन 'गुरुजी'की अपूर्णता भी पूर्णतामें बदल जायगी।

यदि किसी कारणवश साधकको महापुरुषके प्रति अश्रद्धा हो जाय तो उस अश्रद्धालु साधकको उनसे विशेष लाभ नहीं होगा, फिर भी उन महापुरुषके सङ्गका कुछ-न-कुछ पारमार्थिक लाभ तो होगा ही। ऐसी दशामें साधकके लिये उचित है कि वह स्वयं उनसे अलग रहने लगे और भविष्यमें (अन्यत्र कहीं भी) उसके द्वारा उनकी निन्दा न हो—ऐसी सावधानी सदैव रखे। यदि वह महापुरुषकी निन्दा करता रहेगा तो उसकी उन्नति कहीं भी नहीं होगी। उसे चाहिये कि जिन महापुरुषमें उसकी श्रद्धा हो, उन्हींकी आज्ञाका पालन करते हुए तत्त्व-प्राप्तिके लिये प्रयास करे।

साधकका कर्तव्य केवल इतना ही है कि उसका उद्देश्य परमात्माकी प्राप्तिका हो एवं उसकी दृष्टिमें जो महापुरुष* दिखायी

* महापुरुषके विषयमें विस्तृत व्याख्या 'आचार्योपासनम्' (१३। ७) पदके अन्तर्गत देखनी चाहिये।

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalg

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

दें तथा जिनपर उसकी श्रद्धा हो, उनके कथनानुसार वह अपना जीवन बनानेका प्रयत्न करे। इस प्रकार (निष्कामभावपूर्वक प्रयत्न करते हुए) वह भगवत्कृपासे बहुत शीघ्र ही परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

च—और।

ते—वे।

श्रुतिपरायणाः अपि—सुननेके परायण हुए भी।

यहाँ केवल कानोंसे सुनना ही 'सुनना' नहीं है, प्रत्युत सुनकर, उस सुने हुएके अनुसार विचारपूर्वक (अपना भाव, कामना एवं अहंकार न रखकर) आचरण करना ही सुननेके परायण होना है।

मृत्युम् अतितरन्ति एव—निःसंदेह मृत्युसे तर जाते हैं।

'प्रकृति' और 'पुरुष'के व्याख्या-प्रसङ्गमें **'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि'** (१३ । २), **मद्भावायोपपद्यते'** (१३ । १८), **'न स भूयोऽभिजायते'** (१३ । २३), **'आत्मनि आत्मानं पश्यति'** (१३ । २४) आदि पदोंसे जिस तत्त्वकी ओर लक्ष्य कराया गया है उसीको जाननेके लिये यहाँ पुनः संकेत किया गया है। तात्पर्य यह कि उस तत्त्वको जाननेसे वास्तविकताका बोध हो जाता है।

सम्बन्ध—

तीसरे श्लोकमें भगवान्‌ने क्षेत्रके विषयमें 'तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च' पदोंसे क्षेत्रका स्वभाव बतलानेकी प्रतिज्ञा की थी। अब यहाँ उसीका वर्णन करते हैं। 'इदं शरीरम्' पदसे जैसे क्षेत्रज्ञसे शरीरकी पृथक्ता दिखलायी गयी तथा तेईसवें श्लोकमें

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

'य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह' पदोंसे पुरुष और प्रकृतिको अलग-अलग अनुभव करनेकी बात कही गयी, अब प्रकारान्तरसे आगामी पाँच श्लोकोंमें उसी पृथक्ताके निरूपण-हेतु क्षेत्रोंको उत्पत्ति-विनाशशील बताकर वे नया प्रकरण प्रारम्भ करते हैं—

श्लोक—

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥ २६ ॥

भावार्थ—

हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन ! यावन्मात्र स्थिर रहनेवाले एवं चलने-फिरनेवाले प्राणी जो उत्पन्न होते हैं, उन्हें तुम क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके संयोगसे ही उत्पन्न हुआ समझो। तात्पर्य यह है कि अज्ञानके कारण अनादिकालसे क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका संयोग कल्पित है एवं उसीसे सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति होती रहती है। वास्तवमें क्षेत्रज्ञका क्षेत्रके साथ संयोग है ही नहीं, हुआ नहीं और हो सकता ही नहीं (केवल संयोगकी मान्यता भूलसे कर रखी है)।

अन्वय—

भरतर्षभ, यावत्, किंचित्, स्थावरजङ्गमम्, सत्त्वम्, संजायते, तत्, क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्, विद्धि ॥ २६ ॥

पद-व्याख्या—

भरतर्षभ—भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ।

इस अध्यायके दूसरे श्लोकमें भगवान्ने अर्जुनको 'भारत' कहकर सम्बोधित किया है और अब चौबीस श्लोकोंके पश्चात् अर्जुनके लिये पुनः 'भरतर्षभ' सम्बोधन प्रयुक्त हुआ है। क्षेत्र-

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalg

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

क्षेत्रज्ञके वास्तविक स्वरूपको बतलाने तथा प्रकृति-पुरुषका विवेक करानेके लिये भगवान् नवीन प्रकरण प्रारम्भ कर रहे हैं। अर्जुन उसे सावधानीपूर्वक सुने, इसीलिये इन्हें यहाँ विशेषरूपसे सम्बोधित किया गया है।

यावत् किंचित् स्थावरजङ्गमम् सत्त्वम् संजायते, तत् क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात् विद्धि—यावन्मात्र स्थावर-जङ्गम प्राणी, जो उत्पन्न होते हैं, उन्हें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके संयोगसे ही उत्पन्न हुआ समझो।

स्थावर अर्थात् स्थिर रहनेवाले, जैसे—वृक्ष, लता, दूब और पहाड़ आदि एवं जङ्गम अर्थात् चलने-फिरनेवाले जैसे—मछली, कछुआ, पशु, पक्षी, कीट, पतंग और मनुष्य आदि प्राणी क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके (अविवेकजनित) संयोगसे ही उत्पन्न होते हैं। तात्पर्य यह कि जलचर, थलचर और नभचर—सम्पूर्ण प्राणिवर्ग क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके संयोगसे ही उत्पन्न हैं।

उत्पत्ति-विनाशवाले पदार्थ 'क्षेत्र' हैं और जो इस क्षेत्रको जाननेवाला, उत्पत्ति-विनाशरहित एवं सदा एकरस रहनेवाला है, वही 'क्षेत्रज्ञ' है। उस क्षेत्रज्ञ अर्थात् प्रकृतिस्थ पुरुषका जो तीनों (स्थूल, सूक्ष्म और कारण) शरीरोंके साथ सम्बन्ध माना गया है, उसे ही क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका संयोग कहा गया है। इस माने हुए संयोगके कारण (भिन्न-भिन्न आकृतियोंके) प्राणियोंका जो प्रकट होना है, यही उनका स्थूल-शरीरसे उत्पन्न होना है।

एक-दूसरेसे सर्वथा पृथक् होनेके कारण वास्तवमें क्षेत्रज्ञका क्षेत्रके साथ संयोग कभी हुआ नहीं, है नहीं और हो भी नहीं

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgr

In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

सकता। क्षेत्रके साथ क्षेत्रज्ञका संयोग केवल मान्यता है। माना हुआ संयोग सदा नहीं टिकता, परंतु जबतक माना जाता है, तबतक मिटता भी नहीं। जैसे रात और दिन—दोनोंके पृथक्-पृथक् होनेसे उनका कभी संयोग नहीं हो सकता, वैसे ही क्षेत्र-क्षेत्रज्ञकी एकता भी कभी सम्भव नहीं; क्योंकि क्षेत्र जाननेमें आता है और क्षेत्रज्ञ उस क्षेत्रको जाननेवाला है, जाननेवाला जाननेमें आनेवालेसे भिन्न होता ही है।

अज्ञानसे अर्थात् अविवेकसे जब क्षेत्रज्ञ क्षेत्रके साथ अपना संयोग मान लेता है, तब वह माना हुआ संयोग भी एक वास्तविकताके रूपमें दिखायी देने लगता है। यही कारण है कि प्रत्येक प्राणीको शरीरके साथ अपनी एकता प्रतीत होती है। इस 'संयोग'से ही उसकी भिन्न-भिन्न शरीरोंमें उत्पत्ति होती रहती है। सृष्टिके आदिमें भी उसकी उत्पत्ति इस माने हुए संयोग अर्थात् प्रकृति-पुरुषके संयोगसे ही समझनी चाहिये (१४ । ३-४)। भगवान् उपर्युक्त पदोंद्वारा इस माने हुए संयोगका भ्रम अर्थात् शरीरके साथ मानी हुई एकताको मिटानेके अभिप्रायसे अर्जुनको यह समझा रहे हैं कि यावन्मात्र शरीरोंकी उत्पत्तिमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका अज्ञानोद्भूत संयोग ही हेतु है, अतः विवेकद्वारा इस कल्पित संयोगको वियोगमें बदलना अर्थात् दोनोंको पृथक्-पृथक् वास्तविक रूपमें जानना ही अभीष्ट है।

जैसे इसी अध्यायके पहले श्लोकमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञकी पृथक्ताका और सातवें अध्यायके छठे श्लोकमें 'एतद्योनीनि भूतानि' पदोंसे अपरा और परा प्रकृतिसे ही सम्पूर्ण भूतोंकी उत्पत्ति कहकर दोनों

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalg

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

प्रकारकी प्रकृतियोंकी पृथक्ताका दिग्दर्शन कराया गया है, वैसे ही यहाँ इस श्लोकमें भगवान् 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्' पदोंसे क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके संयोगसे यावन्मात्र शरीरोंकी उत्पत्तिका इसी अभिप्रायसे कथन कर रहे हैं कि उनकी परस्पर पृथक्ताका अनुभव हो जाय। तात्पर्य यह कि प्रतिक्षण परिवर्तनशील क्षेत्रके साथ क्षेत्रज्ञका संयोग केवल भूलके कारण माना हुआ है, वास्तवमें तो उससे वियोग ही हो रहा है। वस्तुतः क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ सर्वथा पृथक्-पृथक् हैं।

क्षेत्रज्ञ जबतक प्रकृतिका सङ्ग करता है, तबतक वह बन्धनमें रहता है; किंतु जब वह क्षेत्रसे अलग होकर परमात्माके साथ अपनी अभिन्नताका अनुभव करता है, तब स्वतः मुक्त है ही। भगवान् यहाँ 'विद्धि' पदसे यावन्मात्र शरीरोंकी उत्पत्तिमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके संयोगको जाननेका ही निर्देश कर रहे हैं, जिसका तात्पर्य यह है कि इस वास्तविकता (परिवर्तनशील क्षेत्रके साथ संयोग मानते हुए भी उससे प्रतिक्षण वियोग ही हो रहा है) को जान लेनेपर इनका परस्पर संयोग नहीं रहता, फलस्वरूप क्षेत्रज्ञको परमात्माके साथ अपनी अभिन्नताका अनुभव हो जाता है अर्थात् निज-स्वरूपका बोध हो जाता है।

सम्बन्ध—

सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके संयोगसे ही होती है। उसमें वास्तविकताका अनुभव करनेके लिये साधककी दृष्टि कहाँ रहनी चाहिये, इसका वर्णन अगले (२७वें) श्लोकमें कर रहे हैं—

श्लोक—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥२७॥

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalg

In Public Domain. Digitized by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

भावार्थ—

जो पुरुष नष्ट होते हुए सम्पूर्ण प्राणियोंमें अविनाशी परमेश्वरको समरूपसे परिपूर्ण (स्थित) देखता है, वही यथार्थ देखता है। तात्पर्य यह कि क्षेत्र प्रतिक्षण क्रियाशील है, अतः नष्ट हो रहा है। परमात्मा क्रियारहित एवं नित्य ही निर्विकार हैं। इस प्रकार परमात्माको सम और निर्विकाररूपमें सर्वत्र परिपूर्ण देखना ही यथार्थ देखना है।

अन्वय

यः विनश्यत्सु, सर्वेषु, भूतेषु, अविनश्यन्तम्, परमेश्वरम्, समम्, तिष्ठन्तम्, पश्यति, सः, पश्यति ॥ २७ ॥

पद-व्याख्या

यः विनश्यत्सु सर्वेषु भूतेषु अविनश्यन्तम् परमेश्वरम् समम् तिष्ठन्तम् पश्यति सः पश्यति—जो पुरुष नष्ट होते हुए सम्पूर्ण प्राणियोंमें अविनाशी परमात्माको समरूपसे स्थित देखता है, वही यथार्थ देखता है।

भगवान् इन पदोंके माध्यमसे साधकोंको वास्तविकताका ज्ञान करानेकी दृष्टिसे यह अत्यन्त मार्मिक बात कहते हैं कि सम्पूर्ण विनाशी क्षेत्रोंमें एक अविनाशी परमात्मा ही समरूपसे परिपूर्ण हैं। तात्पर्य यह कि वे ही अनेकोंमें एक हैं, विषम पदार्थोंमें सम हैं, 'पञ्चस्तु' (क्रियाशील, क्षणभङ्गुर, स्थिर न रहनेवालों)में 'तिष्ठन्तम्' (स्थिर रहनेवाले) हैं और 'विनश्यत्सु' (नश्वर पदार्थों) में 'अविनश्यन्तम्' (अविनाशी) हैं। उन्हींसे सम्पूर्ण भूतोंको स्फूर्ति और सत्ता मिलती है; पर वे सबसे असङ्ग और निर्लिप्त हैं। वे ही

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalg

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

सबके शासक अर्थात् शासन करनेवाले हैं एवं वे ही जगत्‌को धारण करते हैं ।

इस वास्तविकताको न जाननेके कारण ही प्रायः सभी मनुष्य क्षेत्र (शरीर) के साथ क्षेत्रज्ञकी एकता मानकर अपनेको एकदेशीय देखते हैं और क्षेत्रमें होनेवाली क्रियाओं एवं अन्तःकरणमें होनेवाले विकारोंमें ममत्व कर मोहग्रस्त होकर उन विकारोंको अपना मान लेते हैं । क्षेत्र विकारी और विनाशी है । वह सदैव क्रियाशील है, अतः उसके साथ एकता मानकर कोई स्थिर कैसे रह सकता है ? भगवान् इन पदोंसे सावधान कर रहे हैं कि विनाशी शरीरको स्थायीरूपमें देखना उचित नहीं है । नश्वर शरीरके साथ एकरूपता मानकर अपना विनाश मान बैठना तो सर्वथा अनुचित है । अतः सम्पूर्ण क्षेत्रोंको प्रतिक्षण नाशवान् (क्षर)-रूपमें देखना और स्वयंको अविनाशी तथा सम्पूर्ण क्षेत्रोंमें समरूपसे परिपूर्ण देखना ही यथार्थ देखना है ।

शरीर, प्राण, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिको अपना कहनेवाले 'अहं' तकको सदैव परिवर्तनशील देखनेसे अपरिवर्तनशील स्थितिका ज्ञान होता है; क्योंकि स्थिर रहनेवाला ही परिवर्तनशीलको देख सकता है, न कि अस्थिर हो, वह स्थिरको देखे । अतः नित्यताका अनुभव करनेपर ही यथार्थ देखनेवाले साधककी नित्यमें स्थिति होती है और फिर उसे सर्वत्र परिपूर्ण अपरिवर्तनशील परमात्माके साथ अभिन्नताका बोध हो जाता है (१३ । १-२), यही वास्तविकता है । इसी वास्तविकताको स्पष्ट करनेके लिये भगवान् यहाँ दूसरे

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgi

In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

प्रकारसे समझा रहे हैं कि सम्पूर्ण परिवर्तनशील क्षेत्रोंमें अपरिवर्तनशील परमात्मतत्त्वकी ओर ही लक्ष्य रखनेसे सर्वत्र परिपूर्ण परमात्माके साथ अभिन्नताका बोध हो जाता है ।

'परमेश्वरम्' पद यहाँ क्षेत्रज्ञके वास्तविक स्वरूपका द्योतक है। कहनेका भाव यह है कि क्षेत्रज्ञका वास्तविक स्वरूप और परमेश्वर—दोनों एक ही हैं, अभिन्न हैं ।

जैसे पाँचवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें 'यः पश्यति स पश्यति' पदोंमें कहा गया है कि विवेकशील पुरुष ज्ञानयोग और कर्मयोगरूप साधनोंको परिणाममें एक देखते हैं एवं पंद्रहवें अध्यायके दसवें श्लोकमें 'पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः' पदोंमें कहा गया है कि विवेकशील पुरुष ही अपने ज्ञानरूपी नेत्रोंसे क्षेत्रज्ञको क्षेत्रसे पृथक् देखते हैं, विमूढ़ पुरुष नहीं; वैसे ही यहाँ 'स पश्यति' पदोंसे भी भगवान्का संकेत विवेकशील पुरुषद्वारा यथार्थ स्थिति (साध्य-तत्त्व)-को देखनेकी ओर ही है; क्योंकि जब वह एक ही परमेश्वरको सर्वत्र समभावसे स्थित देखता है, तब फिर न तो वह अपनेको उन परमेश्वरसे भिन्न समझता है और न इन शरीरादिसे अपना कोई सम्बन्ध ही मानता है । वह सर्वत्र परिपूर्ण अविनाशी परमात्मामें अवस्थित हो जाता है, अतः उसका देखना ही यथार्थ देखना है ।

सम्बन्ध—

उपर्युक्त श्लोकमें वास्तविकताको जाननेके लिये सर्वत्र समरूपसे एक ही परमेश्वरको देखने अर्थात् समदर्शनकी भावना दृढ़ करनेकी

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalg

. In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

आवश्यकतापर बल दिया गया है। समदर्शनका क्या फल होता है? इसका वर्णन अगले (२८ वें) श्लोकमें किया गया है—

श्लोक—

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानं ततो याति परां गतिम् ॥ २८ ॥

भावार्थ—

क्योंकि जो पुरुष सर्वत्र समरूपसे परिपूर्ण परमात्मतत्त्वको समानभावसे देखनेवाला है, वह ज्यों-का-त्यों (परमात्मतत्त्वमें स्थित) रहता है; अतः उसके मरनेका कभी प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार वह अपने-आप अपनी हत्या नहीं करता, इसलिये परमगतिको प्राप्त होता है।

अन्वय—

हि, सर्वत्र, समवस्थितम्, ईश्वरम्, समम्, पश्यन्, आत्मना, आत्मानम्, न, हिनस्ति, ततः, पराम्, गतिम्, याति ॥ २८ ॥

पद-व्याख्या—

हि—क्योंकि।

"हि" पद हेतु-वाचक है।

सर्वत्र समवस्थितम् ईश्वरम् समम् पश्यन्—सर्वत्र समरूपसे परिपूर्ण परमात्मतत्त्वको समान देखता हुआ।

भगवान् इन पदोंसे ऐसा निर्देश कर रहे हैं कि परमात्मतत्त्व पहलेसे ही सर्वत्र समरूपसे व्यापक है, इसलिये साधक उसे सर्वत्र व्याप्त देखता है। उसका इस प्रकार देखना ही यथार्थ देखना है।

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

अन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते ।
किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा ॥

'नित्य-निरन्तर रहनेवाले आत्मस्वरूपको जो शरीरके साथ ही विनाशी मानता है, उस आत्मघाती चोरने कौन-सा पाप नहीं किया ? अर्थात् उससे कोई पाप, संताप, नरक आदि शेष नहीं बचा ।' क्योंकि शरीरके साथ मानी हुई एकताके कारण ही वह शरीरके नाशसे अपना नाश मानता है और शरीरके साथ एकता माननेसे ही कामनाका जन्म होता है । संसारके सम्पूर्ण पाप, संताप, दुःख, चौरासी लाख योनियाँ, नरक आदि (जड़-शरीरादिके साथ एकता मानकर) कामनाके कारण ही होते हैं ।

आत्मना आत्मानम् न हिनस्ति—(वह) अपने ही द्वारा अपने-आपका नाश नहीं करता ।

शरीरादि अनात्मस्वरूप अर्थात् प्रकृतिजन्य हैं । क्षेत्रज्ञके साथ उनकी एकता माननेवाला ही उनके विनाशसे अपना नाश मानता है अर्थात् अपने द्वारा अपनी हत्या (महान् पतन) करता है; किंतु जो सर्वत्र समभावसे परिपूर्ण एक परमात्माके साथ अपनी अभिन्नताका अनुभव करता है, वह अपने द्वारा अपने-आपकी हत्या कैसे कर सकता है; वह तो अविनाशी परमात्मतत्त्वके साथ एक हो जाता है ।

'हिनस्ति' पदका तात्पर्य अपना महान् पतन करना ही है; क्योंकि अपना अभाव तो कोई कर ही नहीं सकता और अपना अभाव कभी हो भी नहीं सकता एवं अपना अभाव करनेमें किसीकी प्रवृत्ति भी नहीं होती । बार-बार मरना ही अपने द्वारा अपनी हत्या

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalg

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

करना है। इस 'हत्या'से निवृत्ति पानेका अवसर केवल मनुष्ययोनिमें ही है। अतः मनुष्य-शरीरको पाकर भी जो आत्महत्यारूप इस पापसे निवृत्तिका उपाय नहीं कर लेता, हर समय सांसारिक कार्य-व्यवहारमें ही लिप्त रहकर जीवन व्यतीत कर देता है, उसका महान् पतन होता है अर्थात् वह चौरासी लाख योनियोंमें एवं नरकोंमें बार-बार जनमता-मरता रहता है। भगवान् इन पदोंसे महापाप—आत्महत्यासे निवृत्ति पानेके लिये ही सचेत कर रहे हैं। सभी मनुष्यों (भाई-बहनों)को चाहिये कि वे इस विवेकके प्रकाशमें सम्पूर्ण विनाशी क्षेत्रोंमें सर्वत्र समरूपसे परिपूर्ण एक परमात्माको ही देखें, जिससे उन्हें परमात्माके साथ अभिन्नताका बोध हो जाय।

ततः परां गतिम् याति—इस कारण वह परमगतिको प्राप्त होता है।

वास्तवमें प्रत्येक प्राणी परमगतिको स्वतः प्राप्त है, किंतु शरीरके साथ तादात्म्य करके विपरीत मान्यताके कारण ही वह परमगतिसे वञ्चित रह जाता है और नित्य-प्राप्त परमात्मतत्त्व उसे अप्राप्त (दूर) प्रतीत होता है अर्थात् अनुभवमें नहीं आता। भगवान् इन पदोंसे साधकोंका ध्यान इस ओर आकृष्ट करते हैं कि सदैव सर्वत्र समरूपसे स्थित तत्त्वकी ओर दृष्टि रखनेसे ही परिच्छिन्नताका नाश होकर नित्य-प्राप्त परमतत्त्व—परमगतिका अनुभव हो सकता है।

छठे अध्यायके पैंतालीसवें एवं सोलहवें अध्यायके बाईसवें श्लोकोंके पद भी इसी नित्य-प्राप्त परमगतिका बोध कराते हैं।

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

विशेष बात—परमात्मा नित्य-प्राप्त हैं और वर्तमानमें भी उनका अनुभव हो सकता है—इस सत्यको भूलकर मनुष्यका (सदैव अप्राप्त) सांसारिक सुखोंको प्राप्त करनेकी आशासे रात-दिन उद्योग करना अपने अमूल्य समयको नष्ट करना ही है।

यह भी आवश्यक नहीं कि सांसारिक भोग्य पदार्थ प्राप्त हो ही जायँगे, यदि प्राप्त हुए भी तो उनसे वियोग अवश्यम्भावी है। भोग्य पदार्थ या तो नष्ट हो जायँगे या उनके रहते-रहते शरीर नष्ट हो जायगा अथवा भोग्य पदार्थ एवं शरीर—दोनों नष्ट हो जायँगे। कितना ही प्रयास क्यों न किया जाय, किसी भी दशामें शरीर एवं सांसारिक पदार्थोंका नित्य-संयोग सम्भव ही नहीं है। साधकको उपर्युक्त सत्यपर गम्भीर विचार कर दृढ़तासे स्थित रहना चाहिये। एवं प्रत्येक प्राणीकी सदैव यह अभिलाषा रहती है कि 'मैं सदा बना रहूँ' अर्थात् कभी न मरूँ, ऐसी अभिलाषा न तो केवल क्षेत्र (मरनेवाले)में हो सकती है एवं न केवल क्षेत्रज्ञ (रहनेवाले)-में ही हो सकती है; क्योंकि मरनेवालेमें बने रहनेकी इच्छा एवं रहनेवालेमें मरनेका भय हो ही कैसे सकता है ! नित्य-निरन्तर रहनेवाला क्षेत्रज्ञ जब अनित्य क्षेत्रसे सम्बन्ध मानकर अपनी एक स्वतन्त्र सत्ता मान लेता है, तब उसी स्वतन्त्रसत्ता (प्राणी)में मरनेका भय एवं जीनेकी इच्छा उत्पन्न होती है। क्षेत्र (जड़)को लेकर 'मैं मर न जाऊँ' ऐसा भय लगता है एवं क्षेत्रज्ञ (चेतन) को लेकर 'मैं बना रहूँ' ऐसी जीनेकी इच्छा होती है। ऐसा इसलिये होता है कि क्षेत्रज्ञ नाशवान् क्षेत्र (शरीर) को साथ रखना चाहता है, जब कि नाशवान् क्षेत्र उसके साथ कभी रह सकता ही नहीं।

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalg

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

अतः प्राणी अपने विवेकके द्वारा क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका अलग-अलग अनुभव कर ले कि क्षेत्र तो मरनेवाला है और क्षेत्रज्ञ रहनेवाला है। फिर उसे न तो मरनेका भय होगा और न जीनेकी इच्छा ही होगी। अतः साधकको उचित है कि वह नित्य-प्राप्त परमात्माका इसी जन्ममें अनुभव कर अमृतत्व प्राप्त कर ले।

सम्बन्ध—

देखना-सुनना, सोना-जागना, खाना-पीना, समझना-समझाना आदि क्रियाएँ भिन्न-भिन्न दृष्टिगोचर होती हैं। उन क्रियाओंकी परस्पर भिन्नतासे उनके कर्ता भी भिन्न-भिन्न जान पड़ते हैं। उन सबमें एक ही आत्माको समरूपसे स्थित कैसे देखा जा सकता है, यही अगले (२९ वें) श्लोकका प्रतिपाद्य विषय है—

श्लोक—

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथाऽऽत्मानमकर्तारं स पश्यति ॥ २९ ॥

भावार्थ—

सम्पूर्ण (समष्टि एवं व्यष्टिकी) क्रियाएँ प्रकृतिके द्वारा हो रही हैं अर्थात् क्रियामात्र प्रकृति और प्रकृतिके कार्योंमें ही होती हैं—इस प्रकार जो देखता है, वह क्षेत्रज्ञ अपनेको अकर्तारूपसे देखता है, ऐसा देखना ही वास्तविक देखना है।

अन्वय—

सर्वशः, कर्माणि, प्रकृत्या, एव, च, क्रियमाणानि, यः, (पश्यति), तथा, आत्मानम्, अकर्तारम्, पश्यति, सः, पश्यति ॥ २९ ॥

पद-व्याख्या—

सर्वशः कर्माणि प्रकृत्या एव च क्रियमाणानि—सम्पूर्ण

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

क्रियाएँ प्रकृतिके द्वारा प्रकृति और प्रकृतिके कार्योंमें ही होती रहती हैं।

भगवान् इन पदोंसे प्रकृतिकी क्रियाशीलताका वर्णन कर यह सिद्ध करते हैं कि सम्पूर्ण (समष्टि एवं व्यष्टिकी) क्रियाएँ प्रकृतिके द्वारा प्रकृति और प्रकृतिके कार्योंमें ही होती हैं। आत्मस्वरूपमें कोई क्रिया न हुई है, न होती है और न हो ही सकती है। अतः नित्य-निर्विकार स्वरूपको कर्तापनसे रहित देखनेपर सम्पूर्ण क्रियाओंके साथ सर्वथा सम्बन्धविच्छेद हो जाता है अथवा यों कहें कि कर्तृत्वाभिमान नष्ट हो जाता है।

वास्तवमें ज्ञानी एवं अज्ञानी—दोनोंकी ही सम्पूर्ण क्रियाएँ प्रकृतिद्वारा होती हैं। अविवेकके कारण अज्ञानी उनसे अपना सम्बन्ध मानकर उनका कर्ता बन जाता है (३। २७); अतः उसे उनका फल भोगना पड़ता है; जब कि ज्ञानी उन्हें केवल प्रकृतिमें प्रकृतिके द्वारा ही होते हुए देखकर अर्थात् स्वरूपके अकर्तृत्वको पहचानकर अमरताका अनुभव करता है।

गीतामें अन्य स्थलोंपर भी जहाँ प्रकृति अथवा प्रकृतिके कार्योंसे क्रियाओंका वर्णन* हुआ है, वहाँ भी उनका तात्पर्य स्वरूपको कर्तापनसे रहित अर्थात् निर्विकार बतलानेमें ही है। स्वयं निष्क्रिय होते हुए भी क्षेत्रज्ञको भूलवश क्रियाओंका जो फल प्रत्यक्ष अथवा परोक्षमें दृष्टिगोचर होता है, उसका कारण यह है कि वह शरीरसे

* प्रकृति और प्रकृतिके कार्योंसे क्रियाओंके होनेका विस्तृत वर्णन इसी अध्यायके बीसवें श्लोककी व्याख्यामें द्रष्टव्य है।

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalg

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

तादात्म्य करके उसमें होनेवाली क्रियाओंके साथ मिलकर अपनेको उन क्रियाओंका कर्ता मान बैठता है; क्योंकि वह उनमें यथाशक्य परिवर्तन भी कर सकता है एवं उन्हें यथाशक्य (प्राणायाम, त्राटक आदि करके) रोक भी सकता है । वह पाचनक्रिया, पलकोंके गिरने-उठने तथा शरीरमें (बालकसे युवा, युवासे वृद्ध) होनेवाली अवस्था-परिवर्तनरूप क्रियाओंको प्रकृतिजन्य (स्वभावतः होनेवाली) मानता है अर्थात् अपनेको उनका कर्ता नहीं मानता; किंतु शरीरसे सम्बन्ध मानकर सूँघना, देखना, स्पर्श करना, सुनना और दूसरी अनेक शुभ-अशुभ* क्रियाओंको, जो स्वभावतः होती हैं, अपने द्वारा हुई मानकर उनमें कर्तापनका अभिमान करता है। जैसे वृक्षोंको उनके पोषक-तत्त्व तथा जल प्रकृतिद्वारा स्वतः प्राप्त होते हैं अर्थात् पोषक-तत्त्व तथा जल खींचनेकी क्रिया उनमें स्वाभाविक ही होती है, वैसे ही सम्पूर्ण संसारकी सभी क्रियाएँ प्रकृतिद्वारा स्वतः स्वाभाविक रूपसे सम्पन्न होती रहती हैं। मनुष्यकी सम्पूर्ण क्रियाएँ भी उन समष्टि प्राकृतिक क्रियाओंमें ही सम्मिलित हैं; किंतु प्राणी (क्षेत्रज्ञ) मूढ़तावश केवल अपनी कुछ क्रियाओंका कर्ता अपनेको मानता है (३ । २७) । वास्तवमें वह उन क्रियाओंका कर्ता नहीं है, कर्तृत्वाभिमानके न रहनेसे क्रियाओंके फलस्वरूप पाप-पुण्य उसे स्पर्श नहीं कर सकते; किंतु मूढ़तावश क्षेत्रज्ञ जबतक अपनेको कर्ता मानता है, तबतक उसका

---

* शरीरसे तादात्म्य करनेपर कामना-ममता पैदा हो जाती है, फिर उसके वशीभूत होकर न करनेयोग्य (अशुभ) क्रियाएँ करने लग जाता है ।

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalg

In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

कर्तृत्वाभिमान मिटता नहीं। उस माने हुए कर्तापनको छुड़ानेके लिये भगवान् इन पदोंद्वारा स्पष्ट करते हैं कि सम्पूर्ण क्रियाएँ प्रकृतिद्वारा प्रकृति एवं प्रकृतिके कार्योंमें ही होती रहती हैं अर्थात् वह (क्षेत्रज्ञ) स्वयं कर्तापनसे सर्वथा रहित है।

यः (पश्यति)—इस प्रकार जो (देखता है)।

तथा—तथा।

आत्मानम् अकर्तारम् पश्यति सः पश्यति—निज-स्वरूपको अकर्तारूपसे देखता है, वही यथार्थ देखता है।

स्वयं (क्षेत्रज्ञ)का वास्तविक स्वरूप सम, उत्पत्ति-विनाश-रहित, अपरिवर्तनशील और सर्वत्र व्यापक है। प्रकृतिसे वस्तुतः क्षेत्रज्ञका किञ्चिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं है। तात्पर्य यह कि वह स्वयं प्रकृतिसे सर्वथा अतीत, असम्बद्ध, असङ्ग और निर्लिप्त है। अतएव यथार्थमें, वह न तो किसी भी कर्मका कर्ता है और न कर्मोंके फलका भोक्ता ही है। इस प्रकार जो स्वयंको अकर्तारूपसे देखता है, वही यथार्थ देखता है।

अपने-आपको प्राकृत शरीरकी क्रियाओंसे असङ्ग अर्थात् कर्तृत्वरहित अनुभव करना वास्तविकताका बोध करनेका एक सुगम उपाय है। भगवान्‌का आशय इन पदोंसे उसी वास्तविकताका बोध करनेका है।

सम्बन्ध—

छब्बीसवें श्लोकसे निज-स्वरूपको अकर्ता जाननेके लिये जिस प्रकरणका आरम्भ किया गया था और जिसकी प्राप्तिके उपायभूत

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

विवेकका भिन्न-भिन्न प्रकारसे वर्णन किया गया, उसी प्रकरणका उपसंहार करते हुए श्रीभगवान् अब यहाँ कर्तृत्वाभिमान मिटनेके परिणामस्वरूप अनुभवमें आनेवाली स्वभाविक स्थिति अर्थात् 'ब्रह्म-प्राप्ति'का कथन कर रहे हैं—

श्लोक—

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ ३० ॥

भावार्थ—

पुरुष जिस कालमें सम्पूर्ण भूतोंके पृथक्त्वको एक प्रकृतिमें ही देखता है एवं केवल प्रकृतिसे ही उनका विस्तार मानता है अर्थात् यावन्मात्र शरीरोंको प्रकृतिसे ही उत्पन्न, प्रकृतिमें ही पृथक्-पृथक् रूपसे स्थित और प्रकृतिमें ही लीन देखता है, उस कालमें उसका प्रकृति (क्षेत्र) के साथ माना हुआ सम्बन्ध टूट जाता है, फलतः उसे ब्रह्मकी प्राप्ति (अनुभूति) हो जाती है; क्योंकि प्रकृतिके साथ माने हुए सम्बन्धके कारण ही उसे नित्य-प्राप्त ब्रह्मका अनुभव नहीं हो रहा था, उसके मिटते ही उसे वास्तविकताका बोध हो जाता है ।

अन्वय—

यदा, भूतपृथग्भावम्, एकस्थम्, अनुपश्यति, च, ततः, एव, विस्तारम्, (पश्यति), तदा, ब्रह्म, सम्पद्यते ॥ ३० ॥

पद-व्याख्या—

यदा भूतपृथग्भावम् एकस्थम् अनुपश्यति च ततः एव विस्तारम् (पश्यति)—जिस कालमें भूतोंके अलग-अलग

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

भावोंको एक प्रकृतिमें ही स्थित देखता है तथा उसीसे उनका विस्तार देखता है ।

जैसे बादल आकाशसे [आकाशसे वायु, वायुसे तेज (सूर्य) और उसकी किरणोंसे जल भाप बनकर बादल] उत्पन्न होते हैं, आकाशमें ही पृथक्तासे स्थित रहते हैं और आकाशमें ही लीन होते हैं, वैसे ही सम्पूर्ण भूतों (शरीरों) की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश परमात्माके सकाशसे प्रकृतिमें ही होते हैं एवं उनकी पृथक्-पृथक् चेष्टाएँ भी प्रकृतिसे ही होती हैं । तात्पर्य यह कि वे प्रकृतिस्वरूप हैं एवं उनको जाननेवाला क्षेत्रज्ञ उनसे सर्वथा भिन्न एवं अद्वितीय है । क्षेत्रज्ञ कभी उत्पन्न और नष्ट नहीं होता, वह सदैव परिवर्तनरहित, एकरस और निर्विकार है ।

द्रष्टा जिस कालमें दृश्य (संसार और शरीर)को परिवर्तनशील, नष्ट होता हुआ और अनित्य देखता है, उस कालमें उसकी अपनी स्थिति अपरिवर्तनशील, अविनाशी, नित्य और अद्वितीय परमात्मामें स्वाभाविक ही होती है । उस स्वाभाविक स्वरूपका अनुभव कराना ही उपर्युक्त पदोंका उद्देश्य है ।

तात्पर्य यह कि शरीर और संसार प्रकृतिके कार्य हैं; अतः शरीरके सम्पूर्ण कर्म भी प्राकृतिक गुणोंद्वारा प्रकृतिके अन्तर्गत ही होते हैं । ऐसी वास्तविकताका अनुभव होनेपर साधक निज-स्वरूपको नित्य-अविनाशी, अपरिवर्तनशील और परमात्मामें स्वाभाविक रूपसे स्थित एवं दृश्य संसार तथा मन, बुद्धि, इन्द्रियोंसहित शरीरको अनित्य, परिवर्तनशील और नाशवान् प्रकृतिके रूपमें देखता है ।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

यह नियम है कि प्रकृतिके साथ अपना सम्बन्ध माननेके कारण स्वार्थ-बुद्धि, भोग-बुद्धि, सुख-बुद्धि आदिसे प्राणियोंको पृथक्-पृथक् भावसे अथवा भिन्न-भिन्न रूपमें देखनेपर उसमें राग-द्वेषादि दोषोंका प्रादुर्भाव होता है। राग होनेपर उनमें गुण और द्वेष होनेपर दोष दीखते हैं। इस प्रकार दृष्टिके आगे राग-द्वेषरूप आवरणके आ जानेसे वास्तविकताका अनुभव नहीं होता; किंतु जब वह (पुरुष) एक प्रकृतिमें ही अपने कहलानेवाले स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरसहित सम्पूर्ण प्राणियोंके शरीरोंकी उत्पत्ति, स्थिति और विनाश, प्रकृतिसे ही उनका विस्तार तथा अपनेमें उनका अभाव देखता है अर्थात् प्रकृतिके कार्योंसे अपनेको अतीत देखता है, तब उसकी दृष्टिपरसे रागद्वेषरूप आवरण हट जाता है और वह ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है।

'यदा'का अर्थ जब और 'तदा'का अर्थ तब होता है। भगवान् इन पदोंका प्रयोग कर 'यदा' पदके साथ एक स्थितिका होना और वैसी स्थितिके प्राप्त होनेपर 'तदा' पदद्वारा तत्काल ही भगवत्प्राप्तिका होना बतलाते हैं।

तदा ब्रह्म सम्पद्यते—उस कालमें सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त होता है।

उपर्युक्त पदोंका तात्पर्य 'परमात्माको प्राप्त होता है' या 'परमात्मा बन जाता है'—ऐसा नहीं; प्रत्युत यह समझना चाहिये कि उसे अपने नित्य, सत्य और निर्विकार स्वरूपका अनुभव हो जाता है। परमात्माको प्राप्त होनेपर किसी नयी स्थितिका निर्माण

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalg

In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

नहीं होता; प्रत्युत जो स्थिति वस्तुतः स्वतः सिद्ध है, उसीका अनुभव होता है । फिर भी यहाँ 'परमात्माको प्राप्त होता है'—ऐसा कहनेका आशय यही समझा जा सकता है कि प्रकृतिके साथ अपना सम्बन्ध माननेसे साधकको पहले वास्तविकताका अनुभव नहीं हो रहा था, अब प्रकृतिसे ही सम्पूर्ण भूतोंकी उत्पत्ति आदि एवं प्रकृतिद्वारा ही सम्पूर्ण क्रियाओंको होता हुआ देखनेसे उसका प्रकृतिके साथ माना हुआ सम्बन्ध मिट जाता है, अतः उसे वास्तविक स्थितिका अनुभव हो जाता है ।

विशेष बात—प्रत्येक साधारण मनुष्यको संसारकी सत्ता ही प्रत्यक्षरूपसे दिखायी देती है । **'यस्यां जाग्रति भूतानि'** (२ । ६९) पदोंसे भगवान् साधारण मनुष्योंके लिये ही कहते हैं कि जिस संसारमें सम्पूर्ण प्राणी जागते हैं अर्थात् संसारको ही सत्यरूपसे अनुभव करते हैं (काल-विशेषमें उसकी उत्पत्ति और नाश देखते हैं, इसमें प्रतिक्षण हो रहे परिवर्तनकी ओर उनकी दृष्टि नहीं होती); अतः उन्हें उसकी सत्ता वर्तमानमें दीर्घकालिक प्रतीत होती है, ठीक उसी प्रकार, जैसे बालककी उत्पत्ति और मृत्यु अल्पकालिक तथा उसका रहना स्थायी दिखायी देता है । सत्सङ्ग और शास्त्रोंके अध्ययनसे जब मनुष्यका विवेक जाग्रत् होता है अर्थात् संसारकी अनित्यताका ज्ञान होता है, तब उसे संसारकी उत्पत्ति और नाश ही दीखते हैं, स्थिति नहीं दीखती; क्योंकि वह विचार करता है कि वास्तवमें जिस वस्तुमें प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है, उसकी स्थिति कैसी ? वस्तुतः उत्पत्ति-विनाशकी तीव्र

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

परम्परा ही स्थितिरूपसे प्रतीत होती है। उदाहरणार्थ, बीज ज्यों-ज्यों नष्ट होता है, त्यों-त्यों अङ्कुर उत्पन्न होता है, वैसे ही अङ्कुर नष्ट होकर वृक्ष उत्पन्न होता है। तात्पर्य यह कि पहली अवस्थाका नाश (लय) और दूसरी अवस्थाका जन्म ही स्थितिरूपसे दीखता है। तत्पश्चात् केवल परिवर्तन-ही-परिवर्तन हो रहा है, उत्पत्ति है ही नहीं, ऐसा दीखता है। वस्तुका आकार बदलना ही उत्पत्ति कहलाता है, वास्तवमें तो वस्तुके पहले रूपका केवल रूपान्तर ही हुआ है। संसार प्रतिक्षण प्रलय (नाश)की ओर ही जा रहा है, फिर ऐसा अनुभव होने लगता है।

संसारी (संसारमें रचे-पचे) मनुष्यको प्रथम तो शरीर और उसके सम्बन्धी सत्य दीखते हैं; पारमार्थिक (भगवत्सम्बन्धी अथवा स्वरूपसम्बन्धी) चर्चा काल्पनिक या व्यर्थ दीखती है; परंतु जब वह कुछ विचार करता है, सच्छास्त्र सुनता है, अपने प्रियका वियोग या कोई अन्य आपत्ति, कष्ट आदि उसे घेर लेते हैं, सांसारिक वस्तुओंको मनमानी रख या बना नहीं सकता, विवशतः दुःख पाता है, तब उसकी सांसारिक आस्था ढीली पड़ने लगती है और परमात्मतत्त्व-जैसी कोई वस्तु है, उसे ऐसी सम्भावना प्रतीत होती है। बस, यहींसे विवेक आरम्भ होता है। फिर जप, ध्यान, सत्सङ्ग करनेसे परमात्मतत्त्वमें उसकी आस्था दृढ़ होने लगती है और संसारका विनाशित्व उसकी समझमें आता है। तब वह देखता है कि अनादिकालसे परमात्मा वे ही हैं, जब कि संसार प्रतिक्षण परिवर्तित हो रहा है; 'भूतग्रामः स एवायम्' आदि भावद्योतक वचनों-पर विचार कर वह यह सोचता है कि मैं वही हूँ और शरीर-

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

संसार बदल गये; उसे अपनी नित्यता दीखने लगती है। इस प्रकार ज्यों-ज्यों अपने स्वरूपमें अपनी स्थितिका अनुभव दृढ़ होता जाता है, त्यों-त्यों उसे उस संसारका अभाव दीखने लगता है, जो आदि और अन्तमें नहीं है, केवल बीचमें प्रतीतमात्र होता है।

वस्तुतः अभावका अनुभव अभावसे नहीं, भावसे होता है। अभावको देखनेवाला कोई तो होगा ही; ऐसे 'भाव'रूप एक परमात्मा ही हैं। यह समझ लेनेके बाद साधकको पहले जो पदार्थ और क्रियाएँ दीखती थीं, उनका सर्वथा अभाव हो जाता है; फिर स्वतः भावरूप सच्चिदानन्दघनसे एकता हो जाती है। जो इस प्रकार देखता है, वही यथार्थ देखता है एवं जिसके अनुभवमें यह आ गया, उसे परमात्माके साथ स्वतःसिद्ध अपनी अभिन्नताका अनुभव हो गया—ऐसा समझना चाहिये।

परमात्माके अतिरिक्त अन्य कुछ है नहीं, हुआ नहीं और हो सकता नहीं—यही वास्तविक अनुभूति है। इस वास्तविकताके प्रकाशमें सांसारिक पदार्थों, क्रियाओं तथा अपने कहे जानेवाले अन्तःकरणसहित संसारका अभाव हो जाता है, केवल परमात्माका भाव शेष रहता है। फिर चिन्तन, विचार और विवेकका आश्रय नहीं लेना पड़ता, अर्थात् उस (महापुरुष) की दृष्टिमें बिना चिन्तनके स्वतः परमात्माका भाव रहता है।

सम्बन्ध—

तीसरे श्लोकमें भगवान्‌ने 'यत्प्रभावश्च' पद क्षेत्रज्ञका प्रभाव बतलानेके लिये कहा तथा अबतक प्रकृतिजन्य पदार्थों और प्रकृतिका वर्णन करते हुए यह स्पष्ट किया गया कि सम्पूर्ण क्रियाएँ

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

प्रकृतिमें होती हैं, आत्मा नित्यतत्त्व, निर्लिप्त, और अकर्ता है। इस तथ्यको विशेषरूपसे स्पष्ट करनेके लिये ही अब वे इकतीससे चौंतीस चार श्लोकोंमें क्षेत्रज्ञ अथवा पुरुषका प्रभाव बतलाते हैं—

श्लोक—

अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥ ३१ ॥

भावार्थ—

'कुन्तीनन्दन! आदिरहित और गुणातीत होनेके कारण यह पुरुष (स्वयं सर्वव्यापी परमात्मा) शरीरमें स्थित दिखायी देता हुआ भी न तो वास्तवमें शरीरद्वारा होनेवाली क्रियाओंका कर्ता बनता है और न उन (क्रियाओं और उनके फलों) में लिप्त ही होता है।

अन्वय—

कौन्तेय, अनादित्वात्, निर्गुणत्वात्, अयम्, अव्ययः, परमात्मा, शरीरस्थः, अपि, न, करोति, न, लिप्यते ॥ ३१ ॥

पद-व्याख्या—

कौन्तेय—कुन्तीनन्दन।

अनादित्वात्—अनादि होनेसे।

जिसका कोई आदि अर्थात् कारण न हो एवं जिसका प्रारम्भ किसी कालविशेषसे न होता हो, उसे अनादि कहते हैं। पुरुषको यहाँ अनादि कहनेसे उसकी अनन्तता अर्थात् उत्पत्तिरहित नित्य कालातीत अवस्थाका ज्ञान होता है।

पुरुष भूत, भविष्य और वर्तमान—तीनों कालोंमें बाधित न होनेसे सत्य है, सदैव है। 'त्रिकालाबाधितत्वम्' अर्थात् त्रिकालमें

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

भी जिसका अभाव नहीं होता, वह नित्य-वस्तु (परमात्मा) है। उपर्युक्त शास्त्र-परिभाषाका तात्पर्य कालद्वारा परमात्माकी नित्यता सिद्ध करनेमें नहीं है; वास्तवमें इसका अभिप्राय कालकी वासनावाले मनुष्योंको यह बोध करानेमें है कि वे परमात्मा वस्तुतः कालातीत हैं। कालकी गणना परमात्मासे ही है; क्योंकि कालका आधार परमात्मतत्त्व ही है। परमात्मा सम्पूर्ण कालमें परिपूर्ण, व्यापक हैं। काल भी परमात्माके जाननेमें आता है। अतः कालको जाननेवाले परमात्मा कालातीत हैं।

निर्गुणत्वात्—गुणातीत होनेसे।

प्रकृति और प्रकृतिजन्य गुणोंसे जिसका किसी भी काल और अवस्थामें वास्तविक सम्बन्ध न हो, वह गुणोंसे सर्वथा अतीत कहा जाता है।

इसी अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें प्रकृति और पुरुष—दोनोंको 'अनादि' कहा गया है, किंतु यहाँ पुरुषके लिये 'अनादि'के साथ 'निर्गुण' विशेषण देकर प्रकृतिकी अपेक्षा पुरुषमें इस विलक्षणताका प्रतिपादन किया गया है कि पुरुष गुणोंमें व्याप्त होते हुए भी निर्गुण होनेके कारण उनसे निर्लिप्त और असम्बद्ध है।

इसी अध्यायके बाईसवें श्लोकमें **'पुरुषः परः'** एवं चौदहवें अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें **'गुणेभ्यश्च परम्'** पदोंसे पुरुषको प्रकृति एवं (प्रकृतिके कार्य) गुणोंसे सर्वथा अतीत कहा गया है।

अयम्—यह पुरुष अर्थात् स्वयम्।

अपरोक्ष भावसे 'मैं हूँ'—ऐसा अपना होनापन (अस्तित्व)

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

सबके अनुभवमें आता है । इस पदसे अपने होनेपनका भाव व्यक्त किया गया है ।

दूसरे अध्यायके चौबीसवें श्लोकमें इसी 'अयम्'को न काटे जाने योग्य, न गलाये जाने योग्य, न जलाये जाने योग्य और न सुखाये जाने योग्य तथा नित्य, सर्वगत, सर्वव्यापी, स्थाणु, अचल एवं स्थिर रहनेवाला कहा गया है ।

अव्ययः—अविनाशी ।

जिसका कभी क्षय—नाश या रूपान्तर न हो । जो वस्तु सामने दिखायी देती है, इन्द्रियोंसे देखी-सुनी जाती है या अनुभवमें आती है, वह गुणोंसे युक्त होती है । उसमें क्षय, परिवर्तन आदि होते हैं; किंतु पुरुष अनादि और निर्गुण होनेसे प्रत्यक्ष नहीं है अर्थात् नेत्रादि इन्द्रियोंका विषय नहीं है, अतः इसमें न कभी परिवर्तन हुआ है, न होना सम्भव ही है अर्थात् यह अविनाशी है ।

पुरुषको अनादि, निर्गुण और अव्यय कहनेमें भगवान्का आशय यह प्रतीत होता है कि वह कर्तृत्व-रहित, निर्लिप्त और अविनाशी है अर्थात् जन्म, मरण, वृद्धि, क्षय, अवस्थान्तर और विनाशरूप प्रकृतिजन्य शारीरिक विकारोंसे वह सर्वथा अतीत है (२ । २०) ।

परमात्मा—सबका परम आत्मा अर्थात् परमतत्त्व ।

क्षेत्रसे यत्किंचित् भी सम्बन्ध रहनेसे यह क्षेत्रज्ञ कहा जाता है । वास्तवमें यह परम शुद्ध अविनाशी परमात्मा* ही है ।

---

* उपर्युक्त प्रकरणमें इसे ही क्रमशः तेईसवें श्लोकमें 'पुरुषः', चौबीसवेंमें 'आत्मानम्', छब्बीसवेंमें 'क्षेत्रज्ञः', सत्ताईसवेंमें 'परमेश्वर',

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

शरीरस्थः अपि न करोति न लिप्यते—शरीरमें स्थित दिखायी देता हुआ भी न करता है और न लिप्त ही होता है।

'शरीरस्थः' कहनेका भाव यह है कि शरीरमें इस (पुरुष) की केवल प्रतीति होती है, वास्तवमें यह शरीरमें स्थित नहीं है। तात्पर्य यह कि गुणातीत होनेके कारण प्रकृतिके गुणों और उसके विस्तारूप मन, बुद्धि, इन्द्रियों और शरीरसे आत्माकी कोई लिप्तता नहीं है; फिर भी शरीरमें पूर्णरूपसे व्याप्त रहनेके कारण उसे 'शरीरस्थः' कहा गया है। इस विषयको स्पष्ट करनेके लिये आकाश और बादलोंका दृष्टान्त दिया जाता है—

जैसे आकाश बादलोंमें स्थित दिखता हुआ भी वास्तवमें अपने-आपमें ही स्थित है। आकाशस्थ बादलोंमें होनेवाली क्रियाएँ बादलोंमें ही होती हैं, आकाश उनसे लिप्त नहीं होता। बादल गरजता है, बरसता है और उसमें बिजली भी कौंधती है; परंतु बादलोंमें होनेवाली इन क्रियाओंसे आकाश कभी शीतल अथवा उष्ण नहीं होता। इसी प्रकार पुरुष शरीरमें सर्वत्र स्थित हुआ भी शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धिद्वारा होनेवाली क्रियाओंको न तो वास्तवमें करता है, न उन्हें करवाता है अर्थात् वह उनसे किसी प्रकार लिप्त नहीं होता (५। १३)। सर्वव्यापक होनेके कारण वह क्षेत्र (शरीर) में

अट्ठाईसवेंमें 'ईश्वरः', उन्तीसवेंमें 'आत्मानम्' और तीसवेंमें 'ब्रह्म'के नामसे निर्देशित किया है। इस प्रकार आत्मा और परमात्माकी भिन्नताका निषेध करनेके लिये भगवान्‌ने उपर्युक्त नामोंसे एक ही चेतन-तत्त्वका विवेचन किया है।

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jaipur

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

भी स्थित कहा जाता है,* वास्तवमें शरीर उसकी स्थितिका आधार नहीं है। अतः जड शरीरादिमें होनेवाले परिवर्तनों, विकारों और क्रियाओंका चेतनस्वरूप (पुरुष) पर कोई भी प्रभाव न होनेके कारण वह उनसे सर्वथा असम्बद्ध, असङ्ग और निर्लिप्त ही रहता है।

'अपि' पदसे भगवान् शरीरका अभाव नहीं बतलाते, अपितु शरीरमें लिप्तताका अभाव बतलाते हैं। 'अपि' पदका तात्पर्य यह है कि जो पुरुष प्रकृतिमें स्थित होनेपर (पुरुषः प्रकृतिस्थो हि···) सुख-दुःखका भोक्ता बन जाता है, वही पुरुष (प्रकृतिमें स्थित न होनेसे) एकदेशीय शरीरमें स्थित होनेपर भी न करता है और न लिप्त ही होता है। तात्पर्य यह है कि प्रकृति एवं प्रकृतिजन्य शरीरके साथ पुरुष जब अपनी एकता मान लेता है (उसमें लिप्त हो जाता है) तब वह भोक्ता बन जाता है, अन्यथा (एकता न माननेसे) एकदेशीय शरीरमें रहते हुए भी वह लिप्त नहीं होता।

विशेष बात—साधना करते-करते जब साधककी उपर्युक्त स्थिति होती है, तब वह अपनेको न तो शरीरादिकी क्रियाओंका कर्ता मानता है, न उनसे लिप्त ही होता है। यह बात ठीक होते हुए भी अज्ञानावस्थामें जिस समय वह अपनेको कर्ता तथा भोक्ता (लिप्त) मानता है, उस समयमें भी न तो वह कर्ता है, न लिप्त होता है। कर्तापन, लिप्त होना और बँधना केवल मान्यतासे हैं। यद्यपि परमात्मतत्त्व ज्यों-का-त्यों रहता है, तथापि विपरीत मान्यताके

---

* गीता २। २४में आत्मा (पुरुष) को 'सर्वगतः' अर्थात् सर्वव्यापी बताया गया है।

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

कारण उसे यथार्थ अनुभव नहीं होता। इसी बातको दूसरे अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें भगवान् इस प्रकार कहते हैं कि जो इसे कर्ता (मारनेवाला), लिप्त और बँधा हुआ (मरा) मानते हैं, वे दोनों ही इसे तत्त्वसे नहीं जानते। जड-चेतनको एक माननेके कारण ही ऐसी मान्यता होती है। जड-चेतनकी ग्रन्थि वास्तवमें है ही नहीं; क्योंकि जड और चेतनका सम्बन्ध सम्भव ही नहीं है, किंतु अज्ञानवश जड (शरीर) को 'मैं' माननेसे यह झूठी ग्रन्थि भी सत्य दिखायी देती है। गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज लिखते हैं—

जड़ चेतनहि ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई॥
(मानस ७। ११६। ४)

अर्थात् जड-चेतनकी ग्रन्थि यद्यपि झूठी है, तथापि इसको छेदन करनेमें कठिनाई प्रतीत होती है। वस्तुतः मान्यताको न माननेसे ही वह सुगमतापूर्वक मिट सकती है, अन्य साधनोंसे नहीं; अतः इस मान्यताको कभी स्वीकार न कर मिटा ही देना चाहिये। विपरीत मान्यता मिटनेपर जब जड-चेतनकी ग्रन्थि नहीं रह जाती, तब इसे (पुरुषको) स्वयंकी निर्लिप्तता और अकर्तापनका स्वतः अनुभव हो जाता है। निर्लिप्तताका अनुभव होनेपर काम, क्रोधादि विकार नहीं होते; क्योंकि वे स्वरूपमें कभी थे ही नहीं। अतः पुरुषको चाहिये कि वह साधनाके प्रारम्भसे ही अपनेको वस्तुतः निर्लिप्त माने; किंतु जबतक वह अपनेको लिप्त देखता रहे, तबतक भगवान्‌के वचनों 'न करोति न लिप्यते' पर दृढ़ रहते हुए भगवदाज्ञानुसार ही आचरण करे। इस प्रकार रहस्य समझकर साधना करनेसे सिद्धि सुगमतापूर्वक और शीघ्र हो जाती है।

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalg

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

सम्बन्ध—

पूर्वोक्त श्लोकके उत्तरार्द्धमें पुरुषको निर्लिप्त कहा गया, इसपर शङ्का हो सकती है कि वह शरीरमें स्थित दीखता हुआ भी निर्लिप्त कैसे है ? अगले (३२ वें) श्लोकमें भगवान् इस शङ्काका निराकरण करते हैं—

श्लोक—

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥ ३२ ॥

भावार्थ—

आकाश जैसे वायु, तेज, जल और पृथ्वीके कण-कणमें परिपूर्ण होनेपर भी सूक्ष्म होनेके कारण उनमें लिप्त नहीं होता, वैसे ही सर्वत्र परिपूर्ण आत्मा भी प्रकृति और प्रकृतिके कार्य—देहमें रहता हुआ लिप्त नहीं होता।

शङ्का—इकतीसवें श्लोकके पूर्वार्द्धमें भगवान्‌ने पुरुषको अनादि, निर्गुण और अविनाशी परमात्मा कहकर उसकी वास्तविकताका वर्णन करते हुए कहा कि वह न करता है और न लिप्त होता है। अतः यह सिद्ध है कि पहले जो कर्ता बनता है, वही लिप्त होकर भोक्ता बनता है। भगवान् भी अठारहवें अध्यायके सतरहवें श्लोकमें 'यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते' पदोंसे पहले कर्तृत्वके अभावकी और पीछे अलिप्तताकी बात कहते हैं। अतः यहाँ भी क्रमानुसार पहले अकर्तृत्व और पीछे अलिप्तताका वर्णन होना चाहिये था, किंतु भगवान् इस श्लोकमें पहले निर्लिप्तताका और फिर अगले (३३ वें) श्लोकमें अकर्तृत्वका वर्णन करते हैं। यहाँ ऐसा विपरीत क्रम रखनेका क्या भाव है ?

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

समाधान—बारहवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें भगवान्‌ने बताया था कि देहाभिमानियोंद्वारा अव्यक्तविषयक गति दुःखपूर्वक* प्राप्त की जाती है। पुरुष (आत्मा) वास्तवमें प्रकृतिसे सर्वथा निर्लिप्त अर्थात् सम्बन्धरहित है, कर्तृत्वरहित पुरुषमें कर्तापनकी मान्यता कर लेना ही लिप्तता है। इस मानी हुई लिप्तताके कारण वह कर्मके फलमें भी लिपायमान होता है। भगवान्‌का उद्देश्य लिप्तताका नाश करना है, इसलिये यहाँ पहले लिप्तताका ही वर्णन किया गया है।

चौथे अध्यायके चौदहवें श्लोकमें 'न मां कर्माणि लिम्पन्ति' पदोंसे भी भगवान् अपने कर्मोंकी दिव्यता बतलाते हुए पहले कर्मोंमें निर्लिप्तताका वर्णन ही करते हैं तथा अन्योंके लिये भी कहते हैं—'यो मामभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते'—जो मनुष्य इस प्रकार जानता है, वह भी कर्मोंसे लिप्त नहीं होता; क्योंकि कर्मोंसे निर्लिप्तता ही महत्त्वपूर्ण है।

अन्वय—

यथा, सर्वगतम्, आकाशम्, सौक्ष्म्यात्, न, उपलिप्यते, तथा, सर्वत्र, अवस्थितः, आत्मा, देहे, न, उपलिप्यते ॥ ३२ ॥

पद-व्याख्या—

यथा सर्वगतम् आकाशम् सौक्ष्म्यात् न उपलिप्यते—जैसे सम्पूर्ण भौतिक पदार्थोंमें सर्वत्र व्याप्त होनेपर भी†

---

* निर्गुणोपासनामें देहाभिमान ही मुख्य बाधा है, इस बाधाको दूर कैसे किया जाय ? इसीके समाधानरूपमें इस (तेरहवें) अध्यायमें निर्गुण-तत्त्वका विवेचन हुआ है।

† भौतिक-पदार्थोंसे सूक्ष्म मन-बुद्धि आदिमें आकाश व्याप्त नहीं

CC-0. Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

आकाश अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण किसी भौतिक वस्तुसे लिपायमान नहीं होता।

प्रकृतिका कार्य महत्तत्त्व, महत्तत्त्वका कार्य अहंकार और अहंकारका कार्य आकाश है। आकाश प्रकृतिका कार्य होनेपर भी प्रकृतिके समान सर्वव्यापी, निर्लिप्त और सूक्ष्म नहीं है; फिर प्रकृतिके नियामक पुरुषके समान तो हो ही कैसे सकता है? प्रकृति लिङ्ग-रहित (निराकर) है, इसलिये साधारण मनुष्योंको प्रत्यक्षमें आकाश ही सर्वाधिक व्यापक, निर्लिप्त और सूक्ष्म दृष्टि (ज्ञान)-गत होता है। अतएव भगवान् पुरुषको सर्वव्यापी, निर्लिप्त और सूक्ष्म बतलानेके लिये आकाशसे श्रेष्ठ उदाहरण न होनेके कारण उसका दृष्टान्त देते हैं। श्रुतिमें भी उसे **'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः'** कहा गया है। वास्तवमें केवल वह पुरुष अर्थात् परमेश्वर, ईश्वर, परमात्मा और आत्मा ही ऐसा है, जो सर्वत्र व्याप्त होते हुए भी कहीं लिप्त नहीं होता।

तथा सर्वत्र अवस्थितः आत्मा देहे न उपलिप्यते—वैसे ही सब जगह समभावसे परिपूर्ण आत्मा अर्थात् पुरुष देहमें लिप्त नहीं होता।

वास्तवमें पुरुष कर्ता-भोक्ता है ही नहीं, किंतु जब अपनेको कर्ता-भोक्ता मान लेता है, तब कर्ता-भोक्ता बन जाता है। यदि वह अपनेको कर्ता-भोक्ता न मानकर निजस्वरूपका अनुभव करे तो **'समदुःखसुखः स्वस्थः'** (१४। २४) अर्थात् सुख-दुःखमें सम

है, इसलिये आकाशकी सर्वगत व्यापकतामें सम्पूर्ण भौतिक पदार्थोंका उदाहरण दिया गया है।

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-G

हो जायगा। भगवान् इन पदोंसे कहते हैं कि सर्वत्र परिपूर्ण रहनेवाला होनेके कारण पुरुष स्वतः 'स्वस्थ' ही है; अतः जब उसे अपनी इस स्वस्थताका अनुभव हो जाता है, तब वह इस देह (शरीर) में लिप्त नहीं होता। यह देहकी लिप्तता देहके साथ अपनी मानी हुई एकतासे ही है।

मात्र पदार्थोंमें रहनेवाला आत्मा देहमें, देहके अवयवोंमें—सर्वत्र सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें स्थित है। 'नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः' (२। २४) ऐसी वास्तविकता होनेपर भी अज्ञ जीव देहके साथ एकता करके देहके गुणों और दोषोंसे लिपायमान हो जाता है। जब उसे निज-स्वरूपका ज्ञान होता है, तब वह जैसे अन्यत्र कहीं भी लिपायमान नहीं होता; वैसे ही देहमें स्थित दीखता हुआ भी देहमें लिप्त नही होता। यद्यपि लिप्त न होनेमें कारणरूप अनादि, निर्गुण और अव्यय स्वरूपका वर्णन इकतीसवें श्लोकके पूर्वार्द्धमें हो चुका, तथापि लिप्त न होनेमें आकाशका दृष्टान्त देकर भगवान् आत्माके एक अन्य गुण अति सूक्ष्मताको भी निर्लिप्तामें कारण बतलाते हैं।

इस प्रकार आकाशका दृष्टान्त देकर भगवान् इन पदोंसे आत्माके स्वरूपका वर्णन करते हैं। जैसे वायु, तेज, जल, पृथ्वी और सम्पूर्ण भौतिक पदार्थोंमें व्याप्त होते हुए भी आकाश सूक्ष्म होनेके कारण साधारण मनुष्योंकी दृष्टिमें नहीं आता और अपने कार्य वायु, तेज, जल, पृथ्वी आदिके गुण-दोषोंसे भी किंचिन्मात्र लिप्त नहीं होता, वैसे ही सर्वत्र परिपूर्ण रहनेवाला आत्मा (अत्यन्त

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalg

. In Public Domain. Digitization by eGangotri Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

सूक्ष्मरूपसे) देहमें स्थित होते हुए भी साधारण मनुष्योंकी दृष्टिमें नहीं आता तथा किसी प्रकार कहीं लिपायमान नहीं होता। भगवान् अपने विषयमें इसी निर्लिप्तताका कथन 'न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति' (९ । ९) तथा स्वरूपमें स्थित पुरुषके लिये 'न हन्ति न निबध्यते' (१८ । १७) आदि पदोंसे करते हैं।

सम्बन्ध—

इकतीसवें श्लोकके पूर्वार्द्धमें पुरुषके प्रभावका वर्णन तथा 'न करोति' पदोंसे उसके अकर्तापनकी ओर संकेत किया गया था, अब उनके अकर्तृत्वकी व्याख्या करते हुए श्रीभगवान् कहते हैं—

श्लोक—

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ ३३ ॥

भावार्थ—

हे भरतवंशोद्भव अर्जुन ! जैसे एक ही प्रकाशस्वरूप सूर्य इन सम्पूर्ण लोकोंको अर्थात् समस्त स्थावर, जंगम, जड, चेतन प्राणियों और पदार्थोंको प्रकाशित करता है; एवं प्रकाशके अन्तर्गत होनेवाली क्रियाओंको भी प्रकाशित करता है; परंतु उन क्रियाओंका कर्ता नहीं बनता, वैसे ही प्रकाशस्वरूप क्षेत्री (पुरुष) से सम्पूर्ण क्षेत्र-समुदाय एवं उसमें होनेवाली क्रियाएँ स्वतः स्वाभाविक प्रकाशित होती हैं। वास्तवमें वह उनका कर्ता नहीं है।

अन्वय—

भारत, यथा, एकः, रविः, इमम्, कृत्स्नम्, लोकम्, प्रकाशयति, तथा, क्षेत्री, कृत्स्नम्, क्षेत्रम्, प्रकाशयति ॥ ३३ ॥

पद-व्याख्या—

भारत—भरतवंशमें उत्पन्न होनेवाला।

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

In Public Domain. Digitization by eGangotri Sarayu Trust. Funding IKS MoE-G

यथा एकः रविः इमम् कृत्स्नम् लोकम् प्रकाशयति—जैसे एक ही सूर्य इन सम्पूर्ण लोकोंको प्रकाशित करता है।

यहाँ 'एकः रविः'का तात्पर्य सूर्यकी अद्वितीयतासे*, 'कृत्स्नम् लोकम्'का ब्रह्माण्डमें सूर्यद्वारा प्रकाशित होनेवाले सम्पूर्ण लोकोंसे तथा 'प्रकाशयति' का उन्हें केवल प्रकाशित करनेसे है। अभिप्राय यह कि सम्पूर्ण लोकोंमें समस्त क्रियाएँ सूर्यके प्रकाशके अन्तर्गत और उसकी सहायतासे होती हैं; किंतु सूर्य किसी भी क्रियाका कर्ता नहीं है एवं प्रकाशस्वरूप होते हुए भी प्रकाशका अभिमान करनेवाला नहीं है।

तथा—उसी प्रकार।

क्षेत्री—क्षेत्रज्ञ।

यहाँ क्षेत्रके सम्बन्धसे ही पुरुषको 'क्षेत्री' कहा गया है, वास्तवमें 'क्षेत्री' उसका नाम नहीं है। जैसे सूर्य एक है, वैसे ही क्षेत्रज्ञ भी एक ही है। क्षेत्रोंकी उपाधियोंसे क्षेत्रज्ञ भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं, पर वस्तुतः क्षेत्रज्ञ एक ही है (१३। १६)। यद्यपि यहाँ 'क्षेत्री' पदमें एकवचन है, किंतु यह केवल एक क्षेत्र (शरीर) को ही प्रकाशित करता हो, ऐसा नहीं है। वह सम्पूर्ण क्षेत्रोंको प्रकाशित करनेवाला है।

कृत्स्नम् क्षेत्रम्—सम्पूर्ण क्षेत्रको।

---

* 'रविः' पदके साथ 'एकः' विशेषण देकर भगवान् वस्तुतः 'क्षेत्रज्ञ'की अद्वितीयता सिद्ध करते हैं। तात्पर्य यह कि क्षेत्रज्ञके स्वरूपमें द्वैत-भाव या वैषम्यादि दोष नहीं हैं। वह अविनाशी तत्त्व प्रत्येक अवस्थामें सर्वदा सर्वथा शुद्ध, अकर्ता, निर्विकार, सम और अद्वितीय है।

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalg

. In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

इस अध्यायके पाँचवें और छठें श्लोकोंमें क्षेत्रके स्वरूपका कथन करते हुए प्रकृति, प्रकृति-विकृति और विकृतिके रूपमें दृश्य-मात्रको क्षेत्र कहा गया है। अतः इस पदके अन्तर्गत भी प्रकृति और प्रकृतिका कार्य—सम्पूर्ण जडवर्ग ही समझना चाहिये।

प्रकाशयति—प्रकाशित करता है।

एक ही क्षेत्री सम्पूर्ण क्षेत्रोंको प्रकाशित करता है अर्थात् समस्त प्राणियोंमें ज्ञान-शक्ति वहींसे आती है तथा सम्पूर्ण क्रियाएँ भी उस प्रकाशके अन्तर्गत उसीकी सत्ता और स्फूर्तिसे ही होती हैं; किंतु वह उनसे अपना कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखता अर्थात् वह किसी भी क्रियाका कर्ता नहीं बनता। जब वह कर्ता नहीं बनता तो फिर उनमें लिप्त तो हो ही कैसे सकता है?

भगवान् यहाँ क्षेत्रीके लिये **'प्रकाशयति'** पद देकर उसके अकर्तृत्वकी ओर संकेत कर रहे हैं, जिसका अभिप्राय उसे उसकी वास्तविकतासे अवगत करानेमें ही है।

देहाभिमानके कारण ही क्षेत्री अपनेको कर्ता-भोक्ता मानता है। वह सूर्यकी भाँति केवल प्रकाश करनेवाला है, परंतु उसे ऐसा अनुभव नहीं होता। भगवान् **'प्रकाशयति'** पदसे देहाभिमानको दूर करनेका उपाय बतला रहे हैं। अभिप्राय यह है कि क्षेत्री सम्पूर्ण क्षेत्रोंको केवल प्रकाशित करता है, उसमें कर्तृत्व नहीं है अर्थात् वह कर्मोंको करवानेवाला और करनेवाला नहीं है।

इस प्रकार पुरुष जब अपनेको अकर्ता अनुभव कर लेता है, तब देहाभिमान स्वतः ही दूर हो जाता है। देहाभिमान दूर होनेपर

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

उसे यह अनुभव होता है कि वह कभी कर्ता-भोक्ता था ही नहीं, वह तो केवल सम्पूर्ण दृश्यमात्रको प्रकाशित करनेवाला ही था और है ।

सम्बन्ध—

भगवान्‌ने तीसरे श्लोकमें क्षेत्रके विषयमें चार और क्षेत्रज्ञके विषयमें दो अर्थात् जिन छः बातोंको कहनेका संकेत किया था, उनका विवेचन करके अब वे क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ और प्रकृति-पुरुषके विषयका उपसंहार करते हुए उसे तत्त्वसे जाननेके फलस्वरूप परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिका कथन करते हैं—

श्लोक—

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ ३४ ॥

भावार्थ—

इस प्रकार जो महापुरुष परिवर्तनशील और प्रकाशित क्षेत्र एवं नित्य निर्विकार और अक्रिय रहनेवाले प्रकाशक क्षेत्रज्ञके भेदको तथा कार्य-कारणसहित प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेदको विवेक-दृष्टिपूर्वक तत्त्वसे जानते हैं, वे परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं ।

अन्वय—

ये, एवम्, क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः, अन्तरम्, च, भूतप्रकृतिमोक्षम्, ज्ञानचक्षुषा, विदुः, ते, परम्, यान्ति ॥ ३४ ॥

पद-व्याख्या—

ये एवम् क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः अन्तरम्—जो पुरुष इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके अन्तरको ।

क्षेत्र इदंतासे अर्थात् 'यह'-रूपसे जाननेमें आनेवाला, परिवर्तनशील, विनाशी, विकारी, जड और अनित्य है तथा क्षेत्रज्ञ

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalg

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

अर्थात् क्षेत्रको जाननेवाला परिवर्तनरहित, अविनाशी, निर्विकार, चेतन, नित्य, अकर्ता, असङ्ग, शुद्ध और ज्ञानस्वरूप है।

यह नियम है कि 'इदम्' (यह) को 'अहम्' (मैं) नहीं कहते और 'अहम्' (मैं) को 'इदम्' (यह) नहीं कह सकते। जाननेमें आनेके कारण स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीर 'इदम्' ही हैं, अतः स्थूल-शरीरकी जाग्रदवस्था, पदार्थ और क्रियाएँ; सूक्ष्म-शरीरकी स्वप्नावस्था, स्वप्नावस्थाके पदार्थ एवं क्रियाएँ तथा कारण-शरीरकी सुषुप्ति-अवस्था, स्थिरता, समाधि, मूर्च्छा—इन सबसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। इसके बाद एक देश, एक काल और एक वस्तुको लेकर जो एकदेशीयपनकी मान्यता अर्थात् 'मैं'पन है, उसका भी भान होता है, वह भी जाना जा सकनेके कारण 'इदम्' ही हुआ। 'इदम्' होनेसे वह भी शुद्धस्वरूप नहीं है; क्योंकि जिस प्रकाशके अन्तर्गत 'तू', 'यह' और 'वह' दिखायी देता है, उसी प्रकाशके अन्तर्गत 'मैं'रूपा यह एकदेशीय स्थिति भी दिखायी देती है, अतः यह वास्तविक स्वरूप नहीं हो सकता; किंतु जिस प्रकाशमें 'यह' अथवा 'मैं' दिखायी देता है, वह प्रकाश ही शुद्ध, वास्तविक स्वरूप है, वही परमात्मतत्त्व है एवं उसीसे सम्पूर्ण क्षेत्र प्रकाशित होते और सत्ता-स्फूर्ति पाते हैं। साधककी भूल प्रायः यहीं होती है, वह इस जाननेमें आनेवाले 'अहम्'को ही अपना स्वरूप मान लेता है।

इस प्रकार क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके अन्तरको देखकर जिसका क्षेत्रके साथ सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, उसके अपने माने जानेवाले

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

अन्तःकरणमें अपने अन्तःकरणसहित सम्पूर्ण संसार (क्षेत्र) का अभाव हो जाता है ।

जिस समष्टि संसारके अंशरूप शरीरको व्यष्टि बुद्धिसे अपना मान रखा था, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके भेदको तत्त्वसे जानते ही अर्थात् भेद जाननेवाली वृत्तिके शान्त होते ही साधकका उस शरीरसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है । भगवान् इन पदोंसे इसी सम्बन्ध-विच्छेदको बता रहे हैं ।

च भूतप्रकृतिमोक्षम्—तथा कार्यसहित प्रकृतिका सर्वथा अभाव ।

'प्रकृति' यहाँ मूल-प्रकृतिका वाचक है और आकाशादि पञ्चमहाभूत प्रकृतिके विकार हैं । प्रकृतिसे गुणोंकी तथा उन गुणोंसे सम्पूर्ण सृष्टिकी उत्पत्ति होती है । 'भूतप्रकृतिमोक्षम्' पदसे भगवान् यहाँ प्रकृति, प्रकृति-विकृति, विकृति, गुण, देह और सम्पूर्ण सृष्टिका अर्थात् कार्यसहित प्रकृतिका सर्वथा अभाव बतला रहे हैं ।

यहाँ 'भूत' शब्द प्रकृतिके कार्य दृश्यवर्ग और 'प्रकृति' शब्द उसके कारणके वाचक हैं । कार्य और कारणसे छूटना ही भूतप्रकृतिमोक्ष है ।

ज्ञान-साधनामें देहाभिमान ही प्रधान बाधा है, इसे दूर करनेके लिये इसी (तेरहवें) अध्यायके प्रारम्भमें भगवान्‌ने 'इदं शरीरम्' पदोंसे शरीर (क्षेत्र) से अपनी (क्षेत्रज्ञकी) पृथक्ता अनुभव करनेके लिये कहा एवं दूसरे श्लोकमें 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानम्' पदोंसे अपने मतमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके ज्ञानको वास्तविक ज्ञान कहा । फिर क्षेत्र-क्षेत्रज्ञकी पृथक्ताका कई तरहसे वर्णन किया । अब उसी विषयका

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

उपसंहार करते हुए भगवान् अध्यायके अन्तमें कह रहे हैं कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञको पृथक्-पृथक् भलीभाँति जान लेनेके पश्चात् क्षेत्रज्ञका प्रकृतिसे अलग होकर परमात्मस्वरूपमें अभिन्नताके साथ स्थित हो जाना ही कार्यसहित प्रकृतिसे मुक्त हो जानेको जान लेना है अर्थात् साधकको यह पता लग जाता है कि यह अज्ञानवश ही क्षेत्रको सच्ची वस्तु और अपनेसे अभिन्नरूप समझ रहा था। सच्चिदानन्दघन परमात्मामें स्थित होना इस अज्ञानसे मुक्त हो जाना है।

क्षेत्रज्ञ (पुरुष) ने ही क्षेत्रसे सम्बन्ध जोड़कर क्षेत्रके साथ एकता मानी है एवं परमात्मासे विमुख होकर परमात्मासे भिन्नता मानी है। अतएव परमात्मासे एकता एवं क्षेत्रसे सर्वथा भिन्नता-दोनों बातोंको कहना आवश्यक हो गया। इसीलिये भगवान्ने इसी अध्यायके दूसरे श्लोकमें **'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि'** पदोंसे क्षेत्रज्ञकी अपने साथ एकताका प्रतिपादन किया और अब क्षेत्रके साथ सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेदकी बात कह रहे हैं। दोनोंका तात्पर्य क्षेत्रज्ञ और परमात्माकी अभिन्नतामें ही है।

शङ्का—जब स्वयं (क्षेत्रज्ञ) अचल है तो चल (प्रकृति)में फँस कैसे गया ?

समाधान—**'प्रकृतिसम्भवाः निबध्नन्ति'** (१४। ५) और **'अवशः'** (८। १९) आदि पदोंसे भगवान् बतलाते हैं कि जो भूतसमुदाय प्रकृतिके वशमें होता है, वही प्रकृतिजन्य गुणोंद्वारा बँधता है, ब्रह्माकी रात्रिके प्रवेशकालमें वह मुझमें लीन होता है एवं दिनके प्रवेशकालमें मैं फिर उसे उत्पन्न करता हूँ। तात्पर्य यह कि

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

जैसे गङ्गाजीका जल नित्य-निरन्तर बहता रहता है, किंतु भूतल और घाट—दोनों स्थिर और अचल रहते हैं, वैसे ही प्रकृति एवं प्रकृतिका कार्य—भूतसमुदाय गङ्गाजीके जलकी तरह सदैव बहता (चला) जाता है और भूतलरूप परमात्मा एवं घाटरूप जीव स्थिर और अचल रहते हैं; किंतु अविवेकके कारण प्रकृति एवं प्रकृतिके कार्यरूप संसारके सम्बन्धमें सद्भाव कर जीव स्वयं बँधा हुआ है (१४ । ५)। 'सुखसङ्गेन,' 'ज्ञानसङ्गेन' (१४ । ६) और 'कर्मसङ्गेन' (१४ । ७) तथा 'प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति' (१४ । ८) आदि पदोंसे भगवान्‌ने इसके बँधनेकी बात बतलायी है। प्रकृति तो अचल रहती नहीं, पर यह (जीव) जबतक उसमें राग रखता है, तबतक बँधा रहता है। संसारके सम्बन्धमें सद्भाव करके जीवने ही राग किया है, इसलिये उसे हटानेकी जिम्मेवारी भी इसीपर है। रागके हटते ही यह कार्यसहित प्रकृतिसे मुक्त हो जाता है।

ज्ञानचक्षुषा विदुः—विवेक-दृष्टिसे तत्त्वतः जानते हैं।

सामान्य ज्ञान (विवेक) उसका नाम है, जिसके द्वारा हम अन्य वस्तुओंको पृथक्-पृथक् रूपसे जानते हैं। स्थूल रीतिसे आचरणके अनुसार हम सद्गुण-सदाचार और दुर्गुण-दुराचार अर्थात् दैवी और आसुरी-सम्पत्तिके विभागको जानते हैं। फिर इनसे आगे इन्द्रियों और इन्द्रियोंके भिन्न-भिन्न ज्ञानको, फिर मन-बुद्धि एवं उनके कार्योंको उनके आगे 'मैं' और 'मेरे'को भी जानते हैं, जैसे शरीरादिका स्वामी 'मैं' हूँ और 'बुद्धि' आदि मेरी वस्तुएँ हैं। एक सामान्य प्रकाशमें 'मैं', 'मेरापन' भी ज्ञान-चक्षुसे जाने जाते हैं। इस पदकी

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

सार्थकता जड-चेतनका विवेक अर्थात् वास्तविक ज्ञान करानेमें ही है।

गीतामें तीन प्रकारके चक्षुओंका वर्णन हुआ है—(१) खचक्षु (११।८), (२) दिव्यचक्षु (११।८), (३) ज्ञानचक्षु (१५।१०)। प्रकृतिके कार्य खचक्षुसे संसार पाञ्चभौतिक पदार्थोंके रूपमें स्थूलतासे दिखायी देता है। इसलिये इन (खचक्षुओं)के द्वारा प्रकृतिसे अतीत परमात्माको नहीं जाना (देखा) जा सकता। इसी कारण 'न तु मां शक्यसे···स्वचक्षुषा' (११।८) पदोंसे भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि 'मुझको तुम अपने प्राकृतिक नेत्रों अर्थात् चर्म-चक्षुओंसे देखनेमें समर्थ नहीं हो।' दिव्यचक्षुसे सगुण-साकार भगवान्‌के दर्शन होते हैं। भगवान्‌ने अपने विराट्‌रूपका दर्शन करानेके लिये अर्जुनको इन्हीं दिव्यचक्षुओंका दान किया था—'दिव्यं ददामि ते चक्षुः' (११।८)। ज्ञान-चक्षुसे सगुण-निराकार और निर्गुण ब्रह्मको तत्त्वतः जाना जाता है। पंद्रहवें अध्यायके दसवें श्लोकमें 'ज्ञानचक्षुषः' पद और इस श्लोकमें यह पद भगवान्‌के निर्गुण ब्रह्मस्वरूपको तत्त्वसे जाननेके लिये आया है।

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ, जो वास्तवमें अलग-अलग ही हैं, केवल अविवेकके कारण ही ठीक तरहसे जाननेमें नहीं आते। जाननेमें न आनेका मुख्य कारण 'राग' है। यह नियम है कि जहाँ राग होता है, वहाँ दोष नहीं दीखता और जहाँ द्वेष होता है, वहाँ गुण नहीं दीखता। यही कारण है कि प्रकृतिके कार्य क्षणभङ्गुर, नाशवान् संसारमें राग

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-GI

होनेके कारण संसारकी क्षणभङ्गुरता नहीं दीखती एवं अविनाशी नित्य-स्वरूप परमात्मासे द्वेष अर्थात् विमुखता होनेके कारण परमात्मामें गुण नहीं दिखलायी देते। साधक जब सांसारिक रागको छोड़ देता है, तभी संसारको तत्त्वसे जान सकता है।

ते परम् यान्ति—वे महापुरुष परमपद (परब्रह्म परमात्मा)को प्राप्त होते हैं।

इन पदोंमें भगवान् भूतप्रकृतिसे मुक्त होनेका फल अर्थात् कार्यसहित प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेदका फल परमपदकी प्राप्ति बतलाते हैं। क्षेत्रको तत्त्वसे जान लेनेपर फिर क्षेत्रका स्वतन्त्र सत्तारूपमें अनुभव नहीं होता। क्षेत्रकी स्वतन्त्र सत्ता न दीखनेपर देखनेवालेकी 'क्षेत्रज्ञ' संज्ञा नहीं रहती, फिर कार्यसहित प्रकृतिसे मुक्त होकर वह परमपदको प्राप्त हो जाता है।

यद्यपि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका यथार्थ ज्ञान न होनेके पूर्व भी वस्तुतः वह परमपदको ही प्राप्त था; किंतु उस समय उसे अज्ञानके कारण अपने वास्तविक स्वरूपका अनुभव नहीं होता था, इस अध्यायमें वर्णित विवेचनसे प्रकृति-पुरुषका यथार्थ ज्ञान होनेपर वह अनुभवमें आ जाता है। उसकी वास्तविक अवस्थामें कभी अन्तर आया ही नहीं, आ सकता भी नहीं, वह ज्यों-का-त्यों ही है। इसलिये संतोंने गाया है—

है सो सुन्दर है सदा, नहिं सो सुन्दर नाहिं।
नहीं सो परगट देखिये, है सो दीखे नाहिं॥

जैसे सांसारिक प्राणीको परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण होते हुए भी दिखायी नहीं देते; प्रत्युत संसार ही दिखायी देता है, वैसे ही परमात्म-

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-GI

तत्त्वका अनुभव होनेपर संसार इस रूपमें नहीं रहता, एक परमात्म-तत्त्व ही रह जाता है (७ । १९) । वहाँ दीखनेवाला, देखनेवाला और देखनेका साधन—इस त्रिपुटीका अभाव हो जाता है और अन्ततः केवल एक परमात्म-तत्त्व ही है, ऐसा अनुभव होता है। वह परमात्म-तत्त्व सर्वथा निर्विकार, शान्त और अचल है। वही योगियोंका परमात्म-तत्त्व, भक्तोंका भगवान् और ज्ञानियोंका निर्गुण ब्रह्म है—अर्थात् सबका प्राप्तव्य तत्त्व एक ही है । भगवान् इन पदोंसे उसे ही 'परमपद'की प्राप्ति कहते हैं ।*

परमात्मतत्त्वका अनुभव होनेपर प्रकृति और प्रकृतिके कार्योंकी स्वतन्त्र सत्ता एवं महत्ताका सर्वथा अभाव हो जाता है, वहाँ तो केवल वासुदेव ही रहते हैं—

'वासुदेवः सर्वमिति' । (७ । १९)

मान लें, किसी घरका द्वार बंद है । उसमें चारों ओर अँधेरा है । किसीने कह दिया कि घरमें प्रेत है तो वहाँ प्रेत दीखने लग जाता है; किंतु किसी साहसी व्यक्तिके द्वारा

---

* अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥
(गीता ८ । २१)

'जो अव्यक्त 'अक्षर' इस नामसे कहा गया है, उसी अक्षर नामक अव्यक्तभावको परमगति कहते हैं तथा जिस सनातन अव्यक्तभावको प्राप्त होकर मनुष्य वापस नहीं आते, वह मेरा परमधाम है ।'

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

घरमें जाकर प्रकाश कर देनेपर अँधेरा' और 'प्रेत'—दोनों मिट जाते हैं। केवल प्रकाश ही रह जाता है। वैसे ही परमात्मतत्त्वमें स्थिति होनेपर केवल परमात्मा ही शेष रह जाते हैं; क्योंकि परमात्मा तो वहाँ पहलेसे ही विद्यमान थे, भूल (अज्ञान)से अँधेरेकी तरह दूसरी सत्ता मान ली, अतः प्रेत दीखनेके समान भ्रम हो गया। अँधेरेमें चलते समय मनुष्य धीरे-धीरे चलता है कि कहीं ठोकर न लग जाय। उसे गिरनेका, साथ ही बिच्छू, साँप और चोर आदिका भय भी लगा रहता है; किंतु प्रकाश होते ही ये सब प्रकारके भय सर्वथा मिट जाते हैं, फिर केवल प्रकाश ही शेष रह जाता है, वैसे ही मानी हुई भिन्न सत्ताकी भूल मिटते ही केवल परमात्मा शेष रह जाते हैं। अँधेरेको मिटानेके लिये तो प्रकाश लाना पड़ता है; किंतु परमात्मा कहींसे लाने नहीं पड़ते, वे तो सदैव सर्वत्र । इसलिये उनका अनुभव विना प्रयास हो जाता है।

वह इतना सहज एवं सुगम है कि उसे स्मरण करनेकी आवश्यकता नहीं, वह निज-ज्ञान है, स्वाभाविक है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभाग-
योगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-GI

तेरहवें अध्यायके 'पद', 'अक्षर' एवं 'उवाच' निम्नाङ्कित हैं—

(१) इस अध्यायमें श्लोकोंके ४०८, पुष्पिकाके १३ और 'उवाच'के २ पद हैं । इस प्रकार पदोंका पूर्ण योग ४२३ है ।

(२) श्लोकोंमें १०८८, पुष्पिकामें ५२, उवाच आदिमें ७ एवं 'अथ त्रयोदशोऽध्यायः'में ८ अक्षर हैं । इस प्रकार सम्पूर्ण अक्षरोंका योग ११५५ है । इस अध्यायमें सभी श्लोक ३२ अक्षरोंके हैं ।

(३) इस अध्यायमें केवल एक 'उवाच' है—

'श्रीभगवानुवाच' ।

इस अध्यायके छन्दोंपर विचार—

इस अध्यायके चौंतीस श्लोकोंमेंसे उन्तीस श्लोक तो ठीक 'पथ्यावक्त्र' अनुष्टुप् छन्दके लक्षणोंसे युक्त हैं, शेष पाँचका विवरण इस प्रकार है—

पहले श्लोकके प्रथम चरणमें और अट्ठारहवें श्लोकके तृतीय चरणमें 'मगण' प्रयुक्त होनेसे 'मविपुला' तथा सत्रहवें श्लोकके तृतीत चरणमें एवं इकतीसवें श्लोकके प्रथम चरणमें 'रगण' प्रयुक्त होनेसे 'रविपुला' और तेईसवें श्लोकके प्रथम चरणमें 'नगण' प्रयुक्त होनेसे 'नविपुला' संज्ञावाले श्लोक हैं ।

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

सम्बन्ध—

ज्ञानमार्गमें देहाभिमान मुख्य बाधा है । इसे दूर करनेके लिये तेरहवें अध्यायमें क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके एवं प्रकृति और पुरुषके विवेकद्वारा अर्थात् उन्हें पृथक्-पृथक् जानकर मुक्त होनेका उपाय विस्तारपूर्वक कहा गया । उसीके परिशिष्ट विषयको प्रकारान्तरसे समझानेके उद्देश्यसे इस अध्यायमें गुणातीत होने-हेतु प्रकृतिसे उत्पन्न तीनों गुणोंका विस्तारसे विवेचन हुआ है । दूसरे शब्दोंमें यों कह सकते हैं कि तेरहवें अध्यायमें गुणोंका कारण प्रकृति और चौदहवें अध्यायमें प्रकृतिके कार्य (गुणों)से मुक्त होनेके उपायोंका उल्लेख किया गया है । इसी विषयको तेरहवें अध्यायके उन्नीसवें, इक्कीसवें और तेईसवें श्लोकमें संक्षेपसे कहा गया था ।

प्रकृतिद्वारा बन्धनका होना स्पष्टतः समझमें नहीं आता । वह अपने गुणोंद्वारा देहाभिमानीको बाँधती है और गुणोंका बन्धन गुणोंकी वृत्तियोंद्वारा होता है । गुणातीत होनेपर परमपदकी प्राप्ति हो जाती है । इस अध्यायमें तीनों गुणोंके स्वरूप, कार्य, कारण, प्रकृति, उनसे होनेवाले बन्धन और उससे मुक्त होनेका उपाय स्पष्टतः बतलाया गया है । अतः इस चौदहवें अध्यायका 'गुणत्रयविभागयोग' नाम दिया गया है ।

तेरहवें अध्यायके १८वें श्लोकमें 'एतद् विज्ञाय', २३वें श्लोकमें 'एवं वेत्ति' तथा ३४वें श्लोकमें 'ज्ञानचक्षुषा विदुः'

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

पदोंसे यह कहा गया था कि जो पुरुष कार्यसहित प्रकृतिसे मुक्त होनेको ज्ञानके द्वारा तत्त्वसे जानते हैं, वे परमात्माको प्राप्त होते हैं। अब उसी परम ज्ञानके महत्त्वको पहले यहाँ दो श्लोकोंमें बताया जा रहा है।

श्लोक—

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः॥ १॥
इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च॥ २॥

भावार्थ—

यद्यपि प्रचलित भाषामें आध्यात्मिक लाभ अथवा परमात्म-तत्त्वकी प्राप्तिको ज्ञान नामसे कहा जाता है, किंतु वस्तुतः ज्ञान जड-प्रकृतिका ही होता है; क्योंकि ज्ञानस्वरूप परमात्म-तत्त्व तो पहलेसे ही विद्यमान है। जड-प्रकृतिका यथार्थ ज्ञान होते ही वह निवृत्त हो जाती है अर्थात् शरीरादिसे माने हुए सम्बन्धका विच्छेद हो जाता है और स्वतः-सिद्ध ज्ञान, है-जैसा ही रह जाता है—जिस ज्ञानका पहले अनुभव नहीं था, उसका अनुभव हो जाता है। उसी ज्ञानकी बात भगवान् अर्जुनके प्रति कह रहे हैं कि—

संसारमें लौकिक और पारलौकिक जितने भी कल्याणकारी ज्ञान हो सकते हैं, उन सभी ज्ञानोंमें अतिश्रेष्ठ और परम पवित्र ज्ञानको मैं पुनः तुमसे कहूँगा। इस ज्ञानकी उपलब्धि होनेपर सभी मननशील पुरुष इस शरीररूप क्षेत्रसे मुक्त होकर परम सिद्धिको प्राप्त हुए हैं।

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

यह ज्ञान सच्चिदानन्दघन परमात्माकी प्राप्तिका अचूक उपाय है। इस ज्ञानके सहारे मेरी सहधर्मिता (सच्चिदानन्द-स्वरूपसे एकता एवं जीवनकालमें गीतोक्तवर्णित लक्षणोंमें समानधर्मिता)को ग्रहण करनेवाले महापुरुष महासर्गके आदिमें (सृष्टिकी उत्पत्ति होनेपर भी) पुनः जन्म नहीं लेते और महाप्रलयकालमें भी वे व्याकुल नहीं होते; क्योंकि सच्चिदानन्दघन परमात्मासे एकताका अनुभव हो जानेपर उन महापुरुषोंका प्रकृति एवं प्रकृतिके कार्य—गुणोंसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। प्रकृति और प्रकृतिका कार्य तो वास्तवमें उनसे पहले ही अलग था* और सर्ग, प्रलय, महासर्ग एवं महाप्रलय आदि क्षोभ प्रकृतिमें ही होते हैं, इसलिये महासर्ग और महाप्रलयसे उनका कोई सम्बन्ध ही नहीं रह जाता। तात्पर्य यह कि महापुरुषकी निर्विकार स्वरूप-स्थिति सर्वदा-सर्वथा ज्यों-की-त्यों बनी रहती है।

अन्वय—

ज्ञानानाम्, उत्तमम्, परम्, ज्ञानम्, भूयः, प्रवक्ष्यामि, यत्, ज्ञात्वा, सर्वे, मुनयः, इतः, पराम्, सिद्धिम्, गताः ॥१॥ इदम्, ज्ञानम्, उपाश्रित्य, मम, साधर्म्यम्, आगताः, सर्गे, न, उपजायन्ते, च, प्रलये, अपि, न, व्यथन्ति ॥ २ ॥

---

* प्रकृति एवं प्रकृतिके कार्य (शरीरादि) से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है—ऐसा दृढ़तापूर्वक मान लेनेसे साधकका मार्ग बहुत सुगम हो जाता है। वास्तवमें सम्बन्ध है नहीं केवल माना हुआ है। इसीलिये मान्यताके अनुसार वास्तविक अनुभव होनेपर जड शरीरादि अपनेसे भिन्न जाननेमें आते हैं। यदि पहलेसे ही शरीरादि अपनेसे भिन्न नहीं होते तो वह कभी भी भिन्नरूपसे जाननेमें नहीं आते।

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

पद-व्याख्या—

ज्ञानानाम्—ज्ञानोंमें ।

साधारणतः जाननेमात्रका नाम ज्ञान है; किंतु यहाँ इस पदके अन्तर्गत सभी प्रकारके कल्याणकारी लौकिक और पारलौकिक ज्ञान समझने चाहिये । लौकिक ज्ञानसे वर्ण, आश्रम, देश, काल, व्यक्ति आदिके सम्बन्धसे शुद्धि, अशुद्धि, विधि-निषेधविषयक भिन्न-भिन्न कर्तव्योंके ज्ञानका प्रयोजन है और पारलौकिक ज्ञानसे जड़-चेतन, प्रकृति-पुरुषका ज्ञान समझना चाहिये ।

उत्तमम् परम् ज्ञानम्—परमश्रेष्ठ और पवित्र ज्ञान ।

यद्यपि गीतामें अठारहवें अध्यायके २०, २१ और २२वें श्लोकोंमें सात्त्विक, राजस और तामस ज्ञानके तीन प्रकारोंका क्रमशः वर्णन हुआ है; किंतु परमात्मस्वरूपका ज्ञान न होनेके कारण उसे सर्वोत्कृष्ट ज्ञान नहीं कहा जा सकता । भगवान्‌ने १३वें अध्यायके ११वें श्लोकमें साधन-समुदायको भी 'ज्ञान'की संज्ञा दी है और यह भी बताया है कि उन्हें धारण करनेसे सर्वोत्कृष्ट ज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है, किंतु तत्त्व-ज्ञानका साधन होनेके कारण उसे भी अति उत्तम और पवित्र ज्ञान* नहीं कहा गया ।

ज्ञानयोगमें ज्ञान होनेसे, भक्तियोगमें भगवान्‌के सम्मुख होनेसे और कर्मयोगमें निःस्वार्थभावसे दूसरोंके हितके लिये कर्म करनेसे, जड-शरीरादिसे माना हुआ सम्बन्ध टूट जाता है । फिर नित्यप्राप्त परमात्मतत्त्वका अनुभव हो जाता है ।

* भक्तिमें श्रद्धाकी प्रधानता होनेसे भगवान्‌के वचनोंके पालनका ही मुख्य स्थान है । इसलिये १०वें अध्यायमें 'भूय एव महाबाहो शृणु मे

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

प्रकृतिजन्य गुणोंसे अपनेको सर्वथा असङ्ग, असम्बद्ध और निर्लिप्त जानकर यथार्थ स्वरूपका अनुभव करना ही वास्तविक ज्ञान है (१४ । १९) । भगवान्‌ने यहाँ इस वास्तविक ज्ञानके लिये ही 'उत्तमम्' (श्रेष्ठ) और 'परम्' (सर्वोत्कृष्ट)—दो विशेषण दिये हैं । अतः यह सर्वोत्कृष्ट और पवित्र ज्ञान है । इस ज्ञानको जाननेके पश्चात् कभी मोह नहीं होता है (४ । ३५), इस ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला कुछ भी नहीं है (४ । ३८), यह ज्ञान नित्य-निरन्तर एकरस रहता है । यही सर्वश्रेष्ठ 'अध्यात्म-विद्या' है, जिसे भगवान्‌ने अपनी विभूति भी कहा है (१० । ३२) । जिस प्रकार गङ्गाजलके स्पर्शमात्रसे सम्पूर्ण वस्तुएँ पवित्र हो जाती हैं, उसी प्रकार इस वास्तविक ज्ञानको प्राप्त करनेकी दिशामें जिज्ञासामात्र करनेसे मनुष्य पवित्र होता चला जाता है एवं इसे तत्त्वतः जाननेपर वह परम पवित्र हो जाता है (४ । ३८) ।

'उत्तमम्' विशेषणसे इस ज्ञानकी महान् श्रेष्ठताकी ओर तथा 'परम्' विशेषणसे भगवान्‌ने इस ज्ञानकी सर्वोत्कृष्टताकी ओर संकेत किया है ।

भूयः प्रवक्ष्यामि—पुनः भलीभाँति कहूँगा ।

कहनेका तात्पर्य यह है कि जिस ज्ञानके विषयको पहले

परमं वचः' पद दिये गये हैं । ज्ञानमें तत्त्वज्ञानकी प्रधानता है—ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् (१४ । १) पद दिये गये हैं । तात्पर्य यह है कि ज्ञान और भक्ति दोनों ही मार्ग समानरूपसे श्रेष्ठ हैं, पर ज्ञानमें जानना मुख्य है और भक्तिमें श्रद्धापूर्वक अनुष्ठान (मानना) मुख्य है ।

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

१३ वें अध्यायमें कहा गया है, उसी ज्ञानको प्रकारान्तरसे पुनः कहूँगा* ।

यह चौदहवाँ अध्याय है । भगवान्‌ने इस अध्यायके चौदहवें श्लोकों (पाँचवेंसे अठारहवें) में प्रकृतिजन्य तीनों गुणोंका विस्तृत विवेचन किया, जिसमें तीनों गुणोंकी उत्पत्ति, स्वरूप, कार्य, कारण, शक्ति और उनसे होनेवाले बन्धनको बतलाया । फिर (तेरहवें अध्यायमें वर्णित) जिस ज्ञानको पुनः कहनेकी प्रतिज्ञा की थी, उसका वर्णन 'वेत्ति' पदसे उन्नीसवें श्लोकमें करते हैं कि स्वयंको प्रकृतिजन्य गुणोंसे अतीत अनुभव करना ज्ञान है, और 'विमुक्तः' पदसे बीसवें श्लोकमें वर्णन करते हैं कि तीनों गुणोंका उल्लङ्घन करके जन्म, मृत्यु, जरा और सब प्रकारके दुःखोंसे मुक्त होकर परमानन्दको प्राप्त होना ज्ञान है, जो पहलेसे ही है ।

यत् ज्ञात्वा—जिस ज्ञानको जानकर ।

ज्ञान-मार्गमें विवेक ही मुख्य होता है, इसलिये इसके वर्णनमें 'विद्धि', 'वेत्ति' और 'ज्ञात्वा' आदि शब्दोंका प्रयोग विशेष-रूपसे किया जाता है । साधारण मनुष्योंको 'मैं शरीर हूँ,' प्रायः ऐसा ही प्रतीत होता है । शरीर (क्षेत्र) और शरीरी (क्षेत्रज्ञ)की यह एकता अविवेकसे ही बनी हुई है । इन्हें अलग-अलग जानना विवेक है । भगवान् यहाँ इन पदोंसे इसी विवेकको जाग्रत् कर रहे हैं ।

---

* तेरहवें अध्यायमें इस ज्ञानका वर्णन क्रमशः इस प्रकार हुआ है—सर्वप्रथम भगवान्‌ने क्षेत्रसे क्षेत्रज्ञको सर्वथा भिन्न समझकर अपने

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

[In Public Domain] Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

सर्वे मुनयः—सब-के-सब मननशील पुरुष ।

इन पदोंका तात्पर्य यह है कि इस ज्ञानको जो धारण करनेकी इच्छा रखते हैं, वे सभी पुरुष मननशील हैं । क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके विवेकको महत्त्व देनेसे उस विषयका मनन स्वतः ही होगा । फिर यह मनन एक स्वभाव बन जायगा । इसलिये मननशील पुरुषका अर्थ हुआ, जिनका वैसा स्वभाव पड़ गया है वे इस ज्ञानको धारण करके परमसिद्धिको प्राप्त हो जाते हैं । 'सर्वे' पदका यह भाव है कि इस ज्ञानको धारण करनेवाला एक भी मनुष्य परमसिद्धिको प्राप्त हुए बिना नहीं रहता, अर्थात् इस ज्ञानको धारण करनेसे अवश्य ही परमसिद्धि प्राप्त हो जाती है; इसमें संदेहके लिये कोई स्थान नहीं ।

इतः—इस (संसार) से मुक्त होकर ।

सर्वोत्कृष्ट ज्ञानको धारण करनेसे मानव जन्म-मरणरूप दुःखमय संसारसे सदाके लिये मुक्त हो जाता है । यह अवसर मानवशरीरमें ही प्राप्त है । 'शरीर' भी संसारका एक अङ्ग है । अतः 'इतः' पदसे यदि यहाँ शरीर लिया जाय तो भी शरीरसे मुक्त होनेका तात्पर्य संसारसे मुक्त होना ही समझना चाहिये ।

पराम् सिद्धिम् गताः—परमसिद्धिको प्राप्त हो गये हैं ।

(परमात्माके) साथ सर्वथा अभिन्न अनुभव करनेको (दूसरे श्लोकमें) 'विद्धि' पदसे अपने मतमें 'ज्ञान' कहा । यह ज्ञान सच्चिदानन्दघन परमात्माकी प्राप्तिका अचूक उपाय है । २३वें श्लोकमें 'वेत्ति' पदसे मूल प्रकृति पुरुषकी यथार्थ रूपसे जाननेको 'ज्ञान' कहा है और ३४वें श्लोकमें 'परं यान्ति' (परमात्माको प्राप्त होते हैं) पदोंसे 'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ'के भेदको विवेकद्वारा यथार्थ जानकर इसी परम पवित्र ज्ञानके प्राप्तिकी बात कही गयी है ।

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

यह परमसिद्धि ही परमब्रह्मकी प्राप्ति है । अणिमा, लघिमा तथा कार्योंकी निर्विघ्न समाप्ति, उद्देश्यकी पूर्ति इत्यादि सिद्धियाँ कही जा सकती हैं । किंतु 'परमसिद्धि' कहकर यह द्योतित किया गया है कि यह सिद्धि सर्वोत्कृष्ट है (८ । १५-१६) और इससे बढ़कर अन्य कोई सिद्धि नहीं है । इस परमसिद्धिको प्राप्त करनेपर कुछ भी करना, पाना या जानना शेष नहीं रह जाता । अतः परमसिद्धिको प्राप्त पुरुषका प्रकृति एवं प्रकृतिजन्य गुणोंसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रह जाता, अर्थात् प्रकृतिके कार्य त्रिगुणात्मक संसारसे उसके सम्बन्धका विच्छेद हो जाता है ।

इदम् ज्ञानम् उपाश्रित्य—इस ज्ञानको प्राप्त करके ।

पहले श्लोकमें वर्णित उत्तम और पवित्र ज्ञानका अनुभव करके ।

मम साधर्म्यम् आगताः—सच्चिदानन्दस्वरूपसे एकता और जीवितावस्थामें गीतोक्त वर्णित लक्षणोंसे मेरी सहधर्मिताको प्राप्त होते हैं ।

'मम साधर्म्यम् आगताः'—पदोंसे भगवान्‌का तात्पर्य यह है कि जिसने इस महान् ज्ञानका अनुभव कर लिया, वह जैसा (गुणातीत) मैं हूँ, वैसा ही हो जाता है, अर्थात् उसमें और मुझमें कोई भेद नहीं रहता **'तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्'** (नारद-भक्तिसूत्र ४१) । 'रामगीता'के उपदेशके अन्तमें भगवान् श्रीराम भी कहते हैं—

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

यः सेवते मामगुणं गुणात्परं
हृदा कदा वा यदि वा गुणात्मकम् ।
सोऽहं स्वपादाश्रितरेणुभिः स्पृशन्
पुनाति लोकत्रितयं यथा रविः ॥
(अध्यात्मरा० उत्तर० ५ । ६१)

'चाहे मेरे निर्गुण स्वरूपकी मनसे उपासना करनेवाला हो अथवा मायिक गुणोंसे अतीत मेरे सगुण रूपकी सेवा-अर्चना करनेवाला हो, वह भक्त मेरा ही स्वरूप है । वह सूर्यकी भाँति विचरण करता हुआ अपनी चरणरजसे तीनों लोकोंको पवित्र कर देता है ।'

कहनेका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार सूर्य अन्धकार, जडता (निद्रा) और भयादिको दूर कर पवित्रता प्रदान करते हैं, उसी प्रकार मेरी सहधर्मिताको* प्राप्त पुरुष भी अज्ञानरूप अन्धकार अर्थात् राग, द्वेष, भय, शोक आदि समस्त विकारोंको दूर कर देता है ।

'आगताः' का अर्थ है—प्राप्त हुए हैं । पूर्ववर्णित सर्वोत्कृष्ट ज्ञानकी महिमा इतनी विलक्षण है कि उसका अनुभव करके ज्ञानी महापुरुष भगवान्‌की सहधर्मिता (सत्-चित्-आनन्द स्वरूपसे एकता एवं जीवनकालमें गीतोक्त वर्णित लक्षणोंमें समानधर्मिता) को प्राप्त होते हैं । यद्यपि भगवान्‌का अंश होनेके कारण जीवकी, भगवान्‌की स्वाभाविक सहधर्मिता है तथापि वह भगवान्‌के समान ऐश्वर्य-सम्पन्न

---

* गीतामें भगवान् और महापुरुष (भगवद्भक्त) के लक्षणोंमें सहधर्मिताका वर्णन निम्नाङ्कित स्थलोंपर इस प्रकार हुआ है—

(१) भगवान् कहते हैं कि त्रिलोकीमें मेरे लिये कुछ भी कर्तव्य नहीं है । 'न मे पार्थास्ति कर्तव्यम्' (३ । २२) एवं किंचित् भी प्राप्त

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

होने योग्य वस्तु अप्राप्त नहीं है—'मानवाप्तमवाप्तव्यम्' (३ । २२)। इसी प्रकार महापुरुषोंके लिये भी कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता—'नास्ति कार्यं न विद्यते' (३ । १७) एवं उनका किसी भी प्राणीसे कोई भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता, अर्थात् किसी भी प्राणीसे कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रहता—'न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः' (३ । १८)।

(२) कर्तव्य और प्राप्तव्य न रहते हुए भी भगवान् लोकसंग्रहार्थ कर्म करते हैं। भगवान् कहते हैं कि यदि मैं सावधान (अतन्द्रितः ३ । २३) होकर कर्म न करूँ तो यह सब लोक भ्रष्ट हो जायँ और मैं वर्णसंकर उत्पन्न करनेवाला होऊँ तथा इस सारी प्रजाका हनन करूँ, मारनेवाला बनूँ—'उत्सीदेयुरिमे लोकाः' (३ । २४)। इसी प्रकार भगवान् महापुरुषको भी उसके अपने लिये कर्तव्य और प्राप्तव्य न रहते हुए भी लोकसंग्रहार्थ तत्परतापूर्वक कर्म करनेकी आज्ञा देते हैं—'कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्' (३ । २५); अतः वे लोकहितार्थ कार्य करते हैं।

(३) भगवान् अपने विषयमें कहते हैं कि 'मुझे सब कुछ करते हुए भी अकर्ता ही जानो, अर्थात् मैं कर्तृत्व-अभिमानसे सर्वथा रहित हूँ'—'तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्' (४ । १३) इसी प्रकार महापुरुषके लिये भी कहा है—वह अच्छी प्रकार कर्मोंको करता हुआ भी कुछ नहीं करता, अर्थात् वह कर्तृत्व-अभिमानसे रहित होता है—'कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित् करोति सः' (४ । २०)।

(४) भगवान् कहते हैं कि सम्पूर्ण कर्म करते हुए भी जिस प्रकार मुझे कर्म लिप्त नहीं करते—'न मां कर्माणि लिम्पन्ति' (४ । १४) और उनके फलोंमें मेरी स्पृहा अर्थात् इच्छा नहीं है—'न मे कर्मफले स्पृहा' (४ । १४) उसी प्रकार महापुरुषको भी कर्म लिप्त नहीं कर सकते—'न हन्ति न निबध्यते' (१८ । १७) और कर्मफलमें भी उसकी इच्छा नहीं होती—'विगतस्पृहः (२ । ५६) एवं पुमांश्च रति निःस्पृहः' (२ । ७१)।

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

नहीं है। पूर्ण ऐश्वर्य भगवान्‌में ही है।* जगत्‌की उत्पत्ति, पालन और संहारका कार्य भी भगवान्‌के द्वारा होता है† जीवके द्वारा नहीं।

सातवें अध्यायके चौथे-पाँचवें श्लोकमें भगवान् आठ प्रकारसे विभक्त जड़ प्रकृतिको 'अपरा प्रकृति'के नामसे एवं चेतनको 'परा

---

(५) भगवान् स्वभावसे ही प्राणीमात्रके सुहृद् हैं अर्थात् बिना हेतुके ही कल्याण करनेवाले हैं—'सुहृदं सर्वभूतानाम्' (५। २९) उसी प्रकार महापुरुष भी स्वभावतः सम्पूर्ण भूतोंके हितमें प्रीति रखते हैं—'सर्वभूतहिते रताः' (५। २५)।

(६) भगवान्‌ने अपने-आपको तीनों गुणोंसे अतीत कहा है—'गुणेभ्यः परमव्ययम्' (७। १३), इसी प्रकार महापुरुषको भी त्रिगुणातीत कहा गया है—'गुणातीतः स उच्यते' १४। २५)।

(७) भगवान् कर्मोंमें आसक्तिरहित, उदासीनके सदृश स्थित हैं और उन्हें कर्म नहीं बाँधते—'उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु' (९। ९)। उसी प्रकार महापुरुषका भी कर्मोंमें राग नहीं होता, अतः उन्हें भी कर्म नहीं बाँधते—'वीतरागः' (२। ५६) 'यः सर्वत्रानभिस्नेहः' (२। ५७), 'उदासीनवदासीनः' (१४। २३)।

(८) भगवान् कहते हैं कि सत्-असत् सब कुछ मैं ही हूँ—'सदसच्चाहम्' (९। १९), इसी वास्तविकताका अनुभव करके महापुरुष भी कहते हैं कि 'सब कुछ वासुदेव ही हैं'—'वासुदेवः सर्वमिति' ७। १९)।

(९) भगवान् कहते हैं कि वेदोंको जाननेवाला मैं ही हूँ 'वेदवित् अहम् एव' १५। १५), इसी प्रकार महापुरुषको भी वेदोंको जाननेवाला कहा गया है—'सः वेदवित्' (१५। १)।

* 'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य' (विष्णुपुराण ६। ५। ७४)

† 'जगद्व्यापारवर्जनम्' ब्रह्मसूत्र ४। ४। १७)

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

प्रकृति'के नामसे कहकर दोनोंको अपनी प्रकृति बतलाया। तात्पर्य यह हुआ कि ये दोनों प्रकृतियाँ भगवान्‌का स्वभाव हैं; अतः दोनों स्वभावतः भगवान्‌की ओर ही जा रही हैं। परंतु परा प्रकृति संयोगजन्य सुखकी इच्छासे अपरा प्रकृतिको पकड़ लेती है अर्थात् उससे अपना सम्बन्ध मान लेती है। यदि यह अपरा प्रकृतिको न पकड़े तो उसे अपने वास्तविक स्वरूप (परमात्मासे सहधर्मिता) का अनुभव हो जायगा। 'आगताः' पदसे भगवान् इसी वास्तविकताकी ओर संकेत करते हैं।

सर्ग न उपजायन्ते च प्रलये ऽपि न व्यथन्ति—महासर्गके आदिमें भी वे उत्पन्न नहीं होते और महाप्रलयकालमें उनको किंचिन्मात्र व्यथा नहीं होती, अर्थात् उनका जन्म-मरणरूप दुःख मिट जाता है।*

प्रकृतिमें स्थिति और प्रकृतिके कार्य—तीनों गुणोंका सङ्ग ही जीवके जन्ममें कारण है—'पुरुषः प्रकृतिस्थो हि' (१३ । २१) अर्थात् प्रकृतिमें स्थित होनेके कारण यह सुख-दुःख भोगता है और गुणोंके सङ्गसे इसे अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म लेना पड़ता है। भगवत्सहधर्मिताको प्राप्त हो जानेके कारण तत्त्वज्ञानी महापुरुषका प्रकृति और प्रकृतिजन्य गुणोंसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, इसलिये उनके पुनर्जन्मका कोई हेतु नहीं रह जाता।

---

* महासर्गमें ब्रह्माजी प्रकट होते हैं और महाप्रलयमें लीन हो जाते हैं, ऐसे अवसरोंपर उस महापुरुषकी उत्पत्ति-विनाश नहीं होता, अर्थात् वह दुःखोंसे सर्वथा छूट जाता है।

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

In Public Domain. Digitized by eGangotri/Sarayu Trust. Funding: IKS-MoE-Gr

महाप्रलयकालमें सम्पूर्ण त्रिलोकी, पञ्चमहाभूत एवं महत्तत्त्व-पर्यन्त सभी पदार्थ क्षुब्ध हो जाते हैं एवं सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड प्रकृतिमें लीन हो जाता है। पर तत्त्वज्ञ महापुरुषको भगवत्सहधर्मिताकी प्राप्ति होनेके कारण यत्किंचित् भी क्षोभ नहीं होता; क्योंकि वह भगवत्-तत्त्वको प्राप्त है। इधर सच्चिदानन्दघन परमात्मा प्रकृति और प्रकृतिके कार्य गुणोंसे सर्वथा अतीत जैसे हैं, वैसे ही रहते हैं; उनका स्वरूप निर्विकार है। उन परमात्माके साथ अभिन्न-भावकी अनुभूति करनेवाले महापुरुषको भी यत्किंचित् संताप, अशान्ति और दुःख नहीं होता। तात्पर्य यह है कि महाप्रलयकालमें भी उनका सहज स्वरूपमें अबाधरूपसे स्वाभाविक स्थिति बनी रहती है।

'मेरी सहधर्मिता प्राप्त कर लेनेपर महापुरुषको महासर्गमें भी उत्पत्तिका दुःख नहीं होता एवं महाप्रलयकालमें भी उसे व्यथा नहीं होती'—श्रीभगवान्‌ने इसी अध्यायके २०वें श्लोकतक इस सिद्धान्तका उपायसहित सविस्तर प्रतिपादन किया है। इससे पहले आपने तीसरे और चौथे श्लोकोंमें सर्गकी उत्पत्तिका वर्णन किया है। ऊपर बताया जा चुका है कि गुणोंके सम्बन्धसे ही जीवकी सर्गके आदिमें उत्पत्ति होती है; अतः गुणोंसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद करानेके अभिप्रायसे ५ वें श्लोकसे गुणोंके विषयका विवेचन किया गया है। इसी अध्यायके १४वें और १५वें श्लोकोंमें यह बताया गया है कि तात्कालिक गुणों—सत्त्व, रज और तमकी वृद्धि होनेपर जब मृत्यु होती है तो यह जीव क्रमशः स्वर्गादि दिव्य लोकों, मनुष्यलोक, पशु-पक्षी आदि मूढ़ योनियोंको प्राप्त करता है और १८वें श्लोकके अनुसार जब यह स्वाभाविक रूपसे सात्त्विक, राजस और तामस

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Saravu Trust. Funding IKS-MoE-G

गुणोंमें स्थित होता है तो मृत्यूपरान्त उच्च, मध्यम और अधम योनियोंको प्राप्त होता है। तात्पर्य यह कि जबतक गुणोंके साथ इसका सम्बन्ध है, तबतक महासर्ग और महाप्रलयके बीचमें भी जन्म-मरणका* क्रम बना रहेगा।

सम्बन्ध

दूसरे श्लोकमें भगवान्‌ने यथार्थ ज्ञानकी महिमामें कहा था कि सर्गके आदिमें सृष्टिकी उत्पत्ति होनेपर उस ज्ञानी

---

* इसी अध्यायके १९वें और २०वें श्लोकोंमें भगवान् कहते हैं कि जो मनुष्य मेरे ही भावको प्राप्त हो जाता है अथवा अमरताका अनुभव कर लेता है, उसे गुणोंसे सङ्ग न रहनेके कारण महाप्रलयकालमें किंचिन्मात्र भी व्यथा नहीं होती और महासर्गके आदिमें भी उसका पुनर्जन्म नहीं होता। यहाँ यह बात विशेष ध्यान देनेकी है कि श्रीभगवान्‌ने सातवें अध्यायके २९वें श्लोकमें कहा है—

'जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये' और इस अध्यायके २०वें श्लोकमें कहते हैं—'जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते।'

अर्थात् जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था और सब प्रकारके दुःखोंसे मुक्त हो जाता है। सातवें अध्यायके २९वें श्लोकमें 'जन्म' शब्द नहीं कहा, क्योंकि इसका जन्म तो हो ही चुका, यह अब जरा और मृत्युसे दूर रहकर मोक्षसाधन करना चाहता है अर्थात् जीवितावस्थामें जरा-मरणके दुःखसे छूटनेका प्रयत्न करता है; जब कि चौदहवें अध्यायके २०वें श्लोकके अनुसार मृत्युके पश्चात्‌की स्थितिका वर्णन है कि गुणोंसे असङ्ग हुआ ज्ञानी महापुरुष पुनर्जन्मको प्राप्त नहीं होता। तेरहवें अध्यायके ३४ और चौदहवें अध्यायके २० श्लोकोंका जो ज्ञानयोगका प्रकरण बताया गया है, उसकी समाप्तिमें पुनर्जन्मको प्राप्त न होनेकी स्थितिका वर्णन युक्तियुक्त ही है।

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

महापुरुषका जन्म नहीं होता । उस सृष्टिकी उत्पत्ति कैसे होती है और उसे कौन उत्पन्न करता है तथा जीवका शरीरके साथ सम्बन्ध किस प्रकार हुआ आदि विषयोंका अगले तीसरे और चौथे श्लोकोंमें स्पष्टीकरण हुआ है ।

श्लोक—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ ३ ॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४ ॥

भावार्थ—

हे भरतवंशी अर्जुन ! मेरी समष्टि प्रकृति सम्पूर्ण भूतोंका उत्पत्ति-स्थान है, अर्थात् वह मेरे बीज (अंश) स्थापन करनेका क्षेत्र है । मैं उसमें चेतन अंशरूप गर्भकी स्थापना करता हूँ—अर्थात् महाप्रलयकालमें प्रकृतिसहित जो जीव मेरेमें लीन हुए, उनका सर्गके आदि ('एकोऽहं बहु स्याम्'—एक ही बहुत हो जाऊँ ऐसे संकल्पसे) प्रकृतिके साथ विशेष सम्बन्ध करा देता हूँ । इस प्रकार प्रकृति और पुरुषके संयोगसे सम्पूर्ण भूतोंकी उत्पत्ति होती है ।

कुन्तीनन्दन ! स्थावर-जङ्गम यावन्मात्र योनियोंमें जितने भी शरीर उत्पन्न होते हैं, समष्टि (मूल) प्रकृति उनका जन्मस्थान (माता) है और मैं बीज प्रदान करनेवाला पिता हूँ; अर्थात् प्रत्येक प्राणीमें शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि मूल प्रकृतिका अंश है और चेतन अंश मेरा है (वस्तुतः मेरा अंश प्रकृतिसे सदा सर्वथा

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

अतीत है) इन दोनोंके संयोगसे ही सम्पूर्ण शरीरधारी प्राणी उत्पन्न होते हैं ।

अन्वय—

भारत ! मम, महत्, ब्रह्म, योनिः, अहम्, तस्मिन्, गर्भम्, दधामि, ततः, सर्वभूतानाम्, सम्भवः, भवति ॥ ३ ॥

कौन्तेय ! सर्वयोनिषु, याः, मूर्तयः सम्भवन्ति, तासाम्, महत्, ब्रह्म, योनिः, अहम्, बीजप्रदः, पिता ॥ ४ ॥

पद-व्याख्या—

भारत—हे भरतवंशी अर्जुन !

मम महत् ब्रह्म योनिः अहम् तस्मिन् गर्भम् दधामि—मेरी समष्टि प्रकृति सम्पूर्ण भूतोंकी उत्पत्तिका स्थान है और मैं उसमें चेतन अंशरूप गर्भ स्थापित करता हूँ ।

जैसे स्थूल शरीरोंकी उत्पत्तिमें माता-पिता दोनों कारण होते हैं, वैसे ही भगवान् कहते हैं कि प्रकृतिरूप योनिमें मैं अपना अंश स्थापन करता हूँ । तात्पर्य यह कि प्रकृति कारणरूपा होनेसे समस्त जगत्की माता है और परमात्मा उसमें चेतनरूप बीज स्थापन करनेवाले होनेसे पिता हैं ।

जैसे प्रकृतिके कार्योंमें समष्टि बुद्धि सबसे महान् तत्त्व होनेके कारण 'महत्तत्त्व' नामसे जानी जाती है, उसी प्रकार सम्पूर्ण जगत्का उपादान कारण और गर्भाधानका आधार तथा इससे बड़ा और कोई प्राकृतिक तत्त्व न होनेसे मूल प्रकृतिको 'महत्' विशेषणके सहित 'ब्रह्म'पदसे इङ्गित किया गया है । इस मूल प्रकृतिको गीतामें अव्यक्त (१३ । ५) और सांख्यशास्त्रमें

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

'प्रधान' कहा गया है । प्रत्येक कल्पके आदिमें भगवान् इसी प्रकृतिको अङ्गीकार कर सम्पूर्ण भूतोंको उनके कर्मोंके अनुसार रचते हैं—'प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः' (९ । ८) यह भगवान्‌की आद्याशक्ति है । इसलिये इसे 'मम महत् ब्रह्म' कहा गया है; किंतु यहाँ चेतन अंशरूप गर्भको धारण करनेका स्थान होनेसे इसे 'योनि' (उत्पत्ति-स्थान) कहा गया है ।

यहाँ समष्टि (मूल) प्रकृतिको 'महत् ब्रह्म' के नामसे कहनेके निम्न अभिप्राय माने जा सकते हैं—

(१) इसी अध्यायके दूसरे श्लोकमें आये 'सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥' पदोंमें आये सर्ग और प्रलय शब्दोंका अर्थ क्रमशः ब्रह्माका दिन और ब्रह्माकी रात माना जा सकता है । परंतु उनका अर्थ महासर्ग (ब्रह्माकी उत्पत्ति) और महाप्रलय (ब्रह्माका लीन होना) सिद्ध करनेके लिये इस (तीसरे) श्लोकमें 'महत् ब्रह्म' शब्द दिया गया है । तात्पर्य यह है कि तत्त्वज्ञ महापुरुष महासर्गके आदिमें भी उत्पन्न नहीं होते और महाप्रलयमें भी व्यथित नहीं होते ।

(२) 'महत्' (बुद्धितत्त्व) और 'ब्रह्म' (परमात्मा)के बीचमें जो है वह 'महत् ब्रह्म' है । परमात्माके सिवाय सबसे महान् होनेसे भी मूल प्रकृतिको 'महत् ब्रह्म' कहा गया है । 'महत् ब्रह्म' से बढ़कर कोई प्राकृत तत्त्व नहीं है ।

(३) महत् ब्रह्मसे भी श्रेष्ठ परब्रह्म परमात्माका अंश होते हुए भी जीव परमात्मासे विमुख होकर प्रकृतिके साथ सम्बन्ध जोड़ लेता है ।

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

इतना ही नहीं, वह प्रकृतिके कार्य तीनों गुणोंसे सम्बन्ध जोड़ लेता है और उससे भी नीचे गिरकर गुणोंके भी कार्य शरीरादिसे सम्बन्ध जोड़ लेता है और बँध जाता है । अतएव भगवान् 'मम महत् ब्रह्म' शब्दसे जीवको मानो यह कहते हैं कि वास्तवमें उसका सम्बन्ध मेरे साथ ही है, महत् ब्रह्म (मूल प्रकृति) के साथ कभी नहीं ।

(४) अपनेको मूल प्रकृति (महत् ब्रह्म)से श्रेष्ठ साक्षात् परब्रह्म परमात्मा (अवतारी) बतलानेके लिये भगवान्‌ने 'मम महत्-ब्रह्म'का प्रयोग किया है ।

गर्भम्'—पद यहाँ कर्म-संस्कारोंसहित जीवसमुदायका वाचक है । महाप्रलयमें सम्पूर्ण जीव अपने कर्म-संस्कारोंसहित प्रकृतिमें लीन होते हैं (९ । ७) । सर्गके आदिमें परमात्मा अपने संकल्पसे उन्हीं जीवोंका प्रकृतिके साथ पुनः विशेष सम्बन्ध (जो कि कारण-शरीररूपसे पहलेहीसे था) स्थापित कराते हैं । इसीसे वे सूक्ष्म और स्थूल शरीर धारण कर पुनर्जन्म प्राप्त करते हैं । यही उस चेतन समुदायरूप गर्भको प्रकृतिरूप योनिमें स्थापित करना है । आठवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें 'भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः'—पदोंमें भी इसी बातको लक्ष्य किया गया है ।

ध्यान देनेकी बात यह है कि मूल प्रकृतिके अंश कारणरूप शरीरसे तो उसका सम्बन्ध जबतक मुक्त न हो जाय, तबतक रहता है । अतः वह परमात्मामें लीन नहीं होता, यदि वह परमात्मामें लीन हो जाता तो उसका पुनर्जन्म

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

कैसे होता ? किंतु सात्त्विक, राजस और तामस—इन तीनों गुणोंके सङ्गसे अर्थात् प्रकृतिके कार्यसे सम्बन्ध होनेके कारण इसे क्रमशः दिव्य स्वर्गलोक, कर्माधिकारयुक्त मनुष्यलोक और कीट-पशु आदि मूढ योनियाँ प्राप्त होती हैं। प्रकृतिके कार्य महत्तत्त्व और अहंकार हैं और इन्हींसे गुणोंका सङ्ग होता है।

ततः सर्वभूतानाम् सम्भवः भवति—उस प्रकृति-पुरुषके संयोगसे प्राणिमात्र उत्पन्न होते हैं।

जैसे प्राणियोंमें पिताका अंश माताके माध्यमसे प्रादुर्भूत होता है, बीज डालनेपर अन्न उत्पन्न होता है, वैसे ही श्रीभगवान्द्वारा प्रकृतिरूप क्षेत्रमें चेतन अंशरूप गर्भको स्थापित करनेके फलस्वरूप ही सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है।

इस प्रकार यहाँ सर्गके आदिमें सामान्य रीतिसे सम्पूर्ण भूतसमुदायकी उत्पत्तिका कथन कर अगले श्लोकमें प्राणियोंकी भिन्न-भिन्न शरीरोंमें उत्पत्तिका वर्णन किया गया है।

कौन्तेय—हे कुन्तीनन्दन !

सर्वयोनिषु याः मूर्तयः सम्भवन्ति—नाना प्रकारकी सम्पूर्ण योनियोंमें जितने शरीरधारी प्राणी उत्पन्न होते हैं।

यहाँ **'सर्वयोनिषु'** पद स्थावर, लता, दूब और पहाड़ आदि एवं जङ्गम पशु-पक्षी, मनुष्यादि—चौरासी लाख योनियोंका वाचक है। जेरके साथ उत्पन्न होनेवाले जरायुज, जैसे—पशु-मनुष्यादि; अण्डेसे उत्पन्न होनेवाले अण्डज, जैसे—पक्षी, सर्पादि; स्वेदसे उत्पन्न होनेवाले स्वेदज, जैसे—जूँ, लीक आदि; पृथ्वीको फोड़कर

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

उत्पन्न होनेवाले उद्भिज, जैसे—वृक्ष, लता, घास आदि । इन नाना प्रकारकी चौरासी लाख* योनियों एवं इनके अतिरिक्त देव, पितर, गन्धर्व, भूत, प्रेतादि अनेक योनियोंको 'सर्वयोनिषु' पदके अन्तर्गत मानना चाहिये ।

'मूर्तयः' पद भिन्न-भिन्न वर्ण और आकृतिवाले शरीरसे युक्त समस्त प्राणियोंके लिये प्रयुक्त हुआ है एवं उन समस्त प्राणियोंका स्थूलरूपसे शरीर-धारण करना ही उनका उत्पन्न होना है ।

तासाम् महत् ब्रह्म योनिः, अहम् बीजप्रदः पिता—उन सबकी मूल प्रकृति तो गर्भ धारण करनेवाली माता है और मैं बीज-स्थापन करनेवाला पिता हूँ ।

प्राणिमात्रकी उत्पत्ति प्रकृति-पुरुषके संयोगसे होती है । शरीर प्रकृतिका और जीव परमात्माका अंश है । पुरुष (क्षेत्रज्ञ) सबका कारण महान् बीज है । एक बीजसे ही समस्त वृक्षोंकी उत्पत्ति होती है; परंतु बीज अङ्कुर उत्पन्न कर नष्ट हो जाता है । परमात्मारूप बीज विकाररहित और नित्य है, वह उत्पन्न-नष्ट होनेवाले सामान्य बीजके समान नहीं है । गीतामें भगवान्‌ने अपनेको (पुरुषको) 'सनातन बीज' (७ । १०), 'अव्यय बीज'

---

* चौरासी लाख योनियोंकी गणना इस प्रकार है—जलचर ९ लाख, पक्षी १० लाख, कृमि (कीड़े) ११ लाख, स्थावर २० लाख, चौपाये (पशु) ३० लाख और मनुष्य ४ लाख—कुल ८४ लाख ।

जलजा नवलक्षाणि स्थावरा लक्षविंशतिः ।
कृमयो रुद्रलक्षाणि पक्षिणो दशलक्षकाः ॥
त्रिंशल्लक्षाणि पशवश्चतुर्लक्षाणि मानवाः ।

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

(९। १८) और 'महान् कारणरूप बीज' (१०। ३९) कहा है। संक्षेपमें वही पुरुष अनादि, अनन्त और सबका कारणरूप बीज है।

प्रकृतिमें प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है, अतः उसकी शक्ति भी घटती-बढ़ती रहती है। त्रेता, द्वापर और कलि—इन तीनों युगोंकी अपेक्षा सत्ययुगमें लोग जैसी लम्बी आयु और बड़े आकारवाले होते थे, वैसे आज कलियुगमें नहीं हैं। वर्तमान युगमें भी कुछ सौ वर्षों पूर्व जैसे बड़े आकार-प्रकारवाले प्राणी होते थे, आज नहीं हैं! जैसे सांसारिक पदार्थ सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुगमें क्रमशः लघु और अल्प-आयु होते हुए महाप्रलयकी ओर बढ़ने तथा अन्ततः प्रकृतिमें लीन होनेके लिये अग्रसर हैं, वैसे ही प्रत्येक शरीर और तत्सम्बन्धित इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि आदि भी स्वभावतः उत्तरोत्तर क्षयकी ओर जा रहे हैं। इसी क्रमसे शरीर मृत्युको प्राप्त होता है। जन्म-मृत्यु होते-होते व्यष्टि-शरीर प्रलयके समय प्रकृतिमें लीन हो जाते हैं। ऐसे ही प्रलय-सर्ग होते-होते अन्तमें महाप्रलयके समय सारे जीव प्रकृतिसहित परमात्मामें लीन हो जाते हैं। पुनः भावी सर्गके आदिमें परमात्मा प्रकृति और पुरुषका विशेष संयोग करा देते हैं और इस प्रकार सत्ययुगसे सृष्टिचक्र पुनः आरम्भ हो जाता है। किंतु ऐसा चक्र चलते रहनेपर भी बीजरूप पुरुष अनादि, अनन्त और महाकारण ही रहता है, उसमें कभी परिवर्तन नहीं होता। इन पदोंसे भगवान् यही स्पष्ट कर रहे हैं कि परिवर्तनशील प्रकृति और अपरिवर्तनशील पुरुषके सम्बन्धसे ही संसारकी रचना होती है—

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

यावत् संजायते किंचित् सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥
(गीता १३ । २६)

भिन्न-भिन्न वर्ण और आकृतिवाले नाना प्रकारके शरीरोंमें भगवान् अपने चेतन अंशरूप बीजको स्थापित करते हैं । इससे यह अर्थ निकलता है कि प्रत्येक प्राणि-स्थित परमात्माका अंश शरीरोंकी भिन्नतासे ही भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है । तेरहवें अध्यायके दूसरे श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि 'सम्पूर्ण क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ-रूपसे मैं ही हूँ'—इसका भाव भी यही है कि एक परमात्मा ही सम्पूर्ण क्षेत्रोंमें विद्यमान है ।

उपर्युक्त तथ्यको यहाँ एक दृष्टान्तसे स्पष्ट किया जाता है। यद्यपि दृष्टान्त सर्वांशमें घटित नहीं होता, तथापि वह बुद्धिको दार्ष्टान्तके समीप ले जानेमें सहायक होता है । कपड़ा और पृथ्वी दोनोंमें एक ही तत्त्वकी प्रधानता है । कपड़ा यदि जलमें डाला जायगा तो वह जलके तल (निचले) भागमें जाकर बैठ जायगा । कपड़ा ताना (लम्बा धागा) और बाना (आड़ा धागा)से बुना जाता है । प्रत्येक दो तानों और दो बानोंके बीचमें एक सूक्ष्म छिद्र रहता है । कपड़ेमें ऐसे अनेक छिद्र होते हैं, जिन्हें छोटे आकारकी वस्तुओंको बड़े आकारमें दिखानेवाले शीशे (विस्तारक दर्पण—मैग्नीफाइंग ग्लास)-से देखा जा सकता है । जलमें पड़े रहनेसे कपड़ेके सम्पूर्ण तन्तुओं और अलग-अलग छिद्रोंमें जल भर जाता है । उस कपड़ेको जब जलसे बाहर निकाला जाता है, तब भी उसके तन्तुओं एवं असंख्य छिद्रोंमें एक ही जल समभावसे परिपूर्ण

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

रहता है। वैसे ही दार्ष्टान्तमें सम्पूर्ण संसारमें प्रलय तथा सर्गके समय एक ही परमात्मतत्त्व परिपूर्ण समझना चाहिये। दृष्टान्तमें जल 'परमात्मा' है, कपड़ा 'प्रकृति' है और अलग-अलग असंख्य छिद्रगत जो जल हैं, वे जीव हैं। सम्पूर्ण संसारमें एक ही परमात्मतत्त्व परिपूर्ण होते हुए भी, अन्तःकरणकी भिन्नताके कारण यद्यपि स्थूल दृष्टिसे प्रत्येक जीवमें वह अलग-अलग दिखायी देता है, तथापि सूक्ष्मतासे विचार करनेपर एक परमात्मा ही दृष्टिगोचर होगा; क्योंकि वस्तुतः तत्त्वरूपसे एक ही परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण हैं।

महाप्रलयकालमें प्रत्येक जीव किसी भी स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरके साथ सम्बन्ध रखते हुए अपनेमें रहनेवाली आसक्ति—कामना आदि अर्थात् प्रकृतिके सहित ही परमात्मामें लीन होता है और महासर्गके आदिमें परमात्मा अपने पूर्व संकल्पसे पुनः उन्हीं जीवोंकी रचना करते हैं (९ । ८)। जैसे सोते समय हम जिस विद्या, योग्यता आदिके अभिमानको लेकर सोते हैं, जाग्रत्कालमें भी उसी विद्या, योग्यताकी स्फूर्ति होती है, वैसे ही परमात्मामें प्रकृतिसहित लीन होते समय जीव जिस कामना, आसक्ति आदि स्वभावको रखते हैं, उसके साथ ही सर्गके आदिमें पुनः प्रकट होते हैं और जो कर्म उन्हें पहले फल नहीं दे सके, वे ही कर्म परिपक्व हो प्रारब्ध बनकर अगले जन्ममें फल देते हैं। जीवोंका पूर्वार्जित प्रकृतिजन्य कर्मोंके साथ संयोग करा देना ही परमात्माका प्रकृतिमें बीज स्थापन करनेवाला पिता होना है। अपने अंशसहित कारण-शरीरका सूक्ष्म और स्थूल शरीरोंके साथ सम्बन्ध करा देनेसे नाना जीवोंकी उत्पत्ति होती है।

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

जैसे अपने माने हुए शरीरमें हमें अपना अस्तित्व प्रत्यक्ष दिखायी देता है, वैसे ही सम्पूर्ण शरीरधारियोंको भी अपने-अपने शरीरोंमें अपनी स्थिति दिखायी देती है। यह अस्तित्व या नित्यताकी भावना या जीव भी परमात्माका ही अंश अर्थात् परमात्मा ही है। अपनेको अलग माननेसे वह अंशरूपसे दिखायी देते हैं। वास्तवमें तत्त्वतः सबमें वही समभावसे स्थित है। भगवान् इसी बातको इन श्लोकोंमें कहते हैं कि सर्गके आदिमें एवं निम्नप्रकारकी योनियोंमें शरीरोंकी उत्पत्तिके समय भी सम्पूर्ण जीवोंकी समष्टि प्रकृति माता है और मैं चेतन अंशरूप बीजको प्रदान करनेवाला पिता हूँ। यह स्पष्ट समझना चाहिये कि अपने माने जानेवाले शरीरकी अन्य शरीरोंके साथ तत्त्वतः एकता है एवं व्यष्टि अस्तित्व या जीवकी समष्टि-सत्ताके साथ एकता है। किंतु अज्ञानके कारण जीव प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले गुणोंके साथ एकता करके अविनाशी होता हुआ भी गुणोंसे बँध जाता है (१४ । ५)। इसीलिये उसे बार-बार ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म लेना पड़ता है। अतः साधकको चाहिये कि स्थूल शरीरकी स्थूल समष्टिके साथ, सूक्ष्म शरीरकी सूक्ष्म समष्टिके साथ और कारण-शरीरकी कारण समष्टि अर्थात् प्रकृतिके साथ एकताको जानकर इन तीनों शरीरोंसे भिन्न परमात्माके साथ अपनी एकताका अनुभव करे। साधकको चाहिये कि वह सम्पूर्ण जीवोंमें व्यापक अविनाशी चेतन अंशको साक्षात् परमात्मस्वरूप देखे।

परमात्माके साथ अपनी नित्य अभिन्नताको जानना ही वास्तविकताको जानना है। इस वास्तविकताका अनुभव सर्वश्रेष्ठ

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

ज्ञानको धारण करके ही हो सकता है। मनुष्यने शरीरादिके साथ अपनी एकता भूलसे मान ली है और इसी कारण उसे प्रकृतिके साथ अपना नित्य सम्बन्ध दिखायी देता है, जो अवास्तविक है। भूलको भूल माननेसे वह मिट जाती है—यह सुगम उपाय है। भूल मिटते ही वास्तविकताका अर्थात् 'परमात्मा और परमात्माकी शक्ति (प्रकृति)के संयोगसे होनेवाले जीव प्रकृतिजन्य गुणोंसे कैसे बँधते हैं?' यह बोध हो जाता है और चेतनका अंश होनेके कारण जीव परमात्माके साथ अभिन्नताका अनुभव कर कृतकृत्य हो जाता है।

सम्बन्ध—

परमात्मा और परमात्माकी शक्ति (प्रकृति)के संयोगसे होनेवाले जीव प्रकृतिजन्य गुणोंसे कैसे बँधते हैं?—इस विषयका विवेचन अगले श्लोकसे प्रारम्भ करते हैं।

श्लोक—

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥ ५॥

भावार्थ—

हे महाबाहो! प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले तीन गुण हैं—सत्त्व, रज और तम। ये परस्पर भिन्न हैं। ये तीनों गुण ही अविनाशी देही (देहधारी जीव)को देहमें बाँधते हैं; अर्थात् अहंता-ममता उत्पन्न करके देहके साथ देहीकी एकताकी मान्यता कराकर बाँध देते हैं*।

---

* शरीरका सम्बन्ध संसारके साथ है तथा जीवका सम्बन्ध परमात्माके साथ है, परंतु प्राणी शरीरको अपना मान लेता है; वस्तुतः वह उसका अपना है नहीं।

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

अन्वय—

महाबाहो ! प्रकृतिसम्भवाः, सत्त्वम्, रजः, तमः, इति, गुणाः, अव्ययम्, देहिनम्, देहे, निबध्नन्ति ॥ ५ ॥

पद-व्याख्या—

महाबाहो—हे विशाल भुजाओंवाले अर्जुन !

'महाबाहो !' सम्बोधन अर्जुनकी शूरवीरताका द्योतक है। यद्यपि बड़े भारी मस्त हाथीको तलवार लेकर छेदन करनेवाले अथवा गरजते हुए सिंहको बन्धनमें डालनेवालेको भी शूरवीर कहा जा सकता है, परंतु गुणोंका अतिक्रमण करनेके लिये शारीरिक शौर्यकी अपेक्षा नहीं; यहाँ तो गुणोंपर आधिपत्य करनेका प्रयोजन है। स्वयंको प्रकृतिजन्य गुणोंसे असम्बद्ध, असङ्ग और निर्लिप्त अनुभव करके गुणोंसे अतीत होनेमें ही सच्ची शूरवीरता है। शारीरिक शूरवीरता तो सबमें नहीं होती, परंतु इस आध्यात्मिक शूरवीरताकी योग्यता प्रत्येक व्यक्तिमें है। भगवान् इस पदसे अर्जुनका ध्यान इसी आध्यात्मिक सामर्थ्यकी ओर आकर्षित करते हैं।

प्रकृतिसम्भवाः सत्त्वम् रजः तमः इति गुणाः—प्रकृतिसे उत्पन्न हुए सत्त्व, रज और तम—ये गुण तीन ही हैं।

समस्त जड पदार्थ एवं क्रियाएँ इन्हीं तीनों गुणोंका विस्तार हैं। यद्यपि सांख्यशास्त्रमें तीनों गुणोंकी साम्यावस्थाको* ही प्रकृति कहा गया है; किंतु गीताने तीनों गुणोंको प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाला एवं प्रकृतिका कार्य बतलाया है।

* सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः' (सांख्य० १ । ६१)। साम्यावस्थाका अर्थ है—तीनों गुणोंका बराबर-बराबर मात्रामें होना।

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

'इति' पदका तात्पर्य है—उतने ही अक्षर, जितने इस पदसे पहले प्रयुक्त हुए हैं, अधिक या कम नहीं। यहाँ सत्त्वादि गुणोंके साथ 'इति' पदका प्रयोग करनेमें भगवान्‌का यह अभिप्राय है कि गुण तीन ही होते हैं, ये दो अथवा चार नहीं हो सकते।

अव्ययम् देहिनम्* देहे निबध्नन्ति—(ये तीन गुण) वस्तुतः निर्विकार और अविनाशी देहीको देहमें बाँधते हैं।

जीवका वास्तविक स्वरूप सब प्रकारके विकारोंसे रहित और अविनाशी है। गोस्वामी तुलसीदासजी भी कहते हैं—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥

(मानस ७। ११६। २)

यह जीवात्मा परमात्माका अंश, अविनाशी, चेतन, निर्मल और सहज सुखराशि है, अर्थात् (इसके अपने) स्वरूपमें दुःख है ही नहीं। जीवका यह अविनाशी स्वरूप वस्तुतः कभी भी गुणोंके बन्धनमें नहीं आता, किंतु प्राणी जबतक विनाशी देहको

---

* यद्यपि देहसे लिप्तको भी 'देहिनम्' अर्थात् देहधारी कहा जाता है तथापि यहाँ भगवान्‌का आशय देहसे निर्लिप्त शुद्ध स्वरूपसे ही है। दूसरे अध्यायके चौबीसवें-पचीसवें श्लोकोंमें 'नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥ अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।' आदि पदोंसे भी भगवान्‌ने देहसे निर्लिप्त देही (आत्मा) का वर्णन किया है। गीतामें देहके साथ सम्बन्ध माननेवालेका वर्णन 'देहिनम्' (३। ४०, १४। ५, ७), 'देहिनाम्' (१७। २), 'देहिनः' (२। १३, ५९), 'देही' (२। २२), 'देहबद्धिः' (१२। ५), 'देहभृत्' (१४। १४) पदोंसे हुआ है और देहसे निर्लिप्त शुद्ध स्वरूपका वर्णन 'देही' (२। ३०, ५। १३, १४। २०) पदसे हुआ है।

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

'मैं', 'मेरा' और 'मेरे लिये' मानता है, तबतक अपनी मान्यताके कारण गुणोंके बन्धनसे बँधा रहता है और उसे परमात्म-तत्त्वकी प्राप्तिमें कठिनता प्रतीत होती है (१२ । ५) । देहाभिमानके कारण जब वह गुणोंके द्वारा देहमें बँध जाता है, तब तीनों गुणोंसे परे अविनाशी निजस्वरूपको नहीं जान सकता । गुणोंसे देहमें बँध जानेपर भी जीवका जो वास्तविक स्वरूप है, वह ज्यों-का-त्यों ही रहता है । भगवान् यहाँ 'अव्ययम्' पदसे जीवके वास्तविक स्वरूपका ही द्योतन करते हैं ।

यहाँ 'देहिनम्' पदसे भगवान् कहते हैं कि तीनों गुण देहमें तादात्म्य, ममता और कामना उत्पन्न करके इस पुरुषको ही देहमें बाँधते हैं । यदि देहमें तादात्म्य, ममता, कामना, आसक्ति और अभिमान न रखा जाय तो फिर वह परमात्म-स्वरूप है ही ।*

'अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः' (२ । १८)

देह विनाशी और देही अविनाशी है; किंतु अविनाशी देही जब नाशवान् देहसे सम्बन्ध मान लेता है, अर्थात् उसे ही अपना स्वरूप मानने लगता है, तब यह जीव कहा जाता है । प्रकृति और पुरुष दोनोंका अंश रहनेके कारण जीवमें संसार और परमात्मा दोनोंको प्राप्त करनेकी इच्छा और अभिलाषा होती है । संसारकी इच्छाका तात्पर्य चल-अचल सम्पत्ति, मान, यश और आदर आदि विनाशी पदार्थोंकी इच्छासे है, जो जड अंशकी मुख्यतासे है । नित्य-निरन्तर रहनेवाले सुख और महान् आनन्दकी जिज्ञासा तथा

* तादात्म्य, ममता और कामनाकी वास्तविक सत्ता नहीं है, केवल मान्यता है; इसीलिये ये मिट जाती हैं ।

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

तत्त्वका बोध प्राप्त करनेकी अभिलाषा यह चेतन अंशकी मुख्यतासे है। अपनेमें इस प्रकार दोनों प्रकारकी इच्छाएँ होनेके कारण वह द्विविधाग्रस्त हो जाता है। लेकिन सांसारिक पदार्थोंमें चूँकि तत्काल सुखकी प्रतीति होती है, इसलिये यह उन्हें ही विशेषतासे चाहने लगता है।

सांसारिक मान-बड़ाई, राज्य, वैभव आदि कितने ही क्यों न मिल जायँ, पर उनसे कभी तृप्ति नहीं होती; क्योंकि सांसारिक इच्छाका विषय असत् और अनित्य है। इसके विपरीत परमात्मतत्त्वके अनुभवकी अभिलाषा सदा पूर्ण ही होती है; क्योंकि परमात्मतत्त्वकी अभिलाषाका विषय सत्य और नित्य है। इसके अतिरिक्त सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्तिमें सब परतन्त्र हैं और किन्हीं दो व्यक्तियोंको भी उनकी समान प्राप्ति नहीं होती। प्रारब्ध-कर्मकी प्रधानता तथा योग्यताके अनुसार ही वस्तुएँ प्राप्त होती हैं। इसके विपरीत परमात्माकी प्राप्तिमें सब-के-सब स्वतन्त्र हैं, योग्य-अयोग्य सब इसके अधिकारी हैं और सबके परमात्माकी समान प्राप्ति होती है। अतः सांसारिक पदार्थोंकी इच्छा करना महान् प्रमाद है, जिसका त्याग करना साधकोंके लिये अत्यावश्यक है।

मार्मिक बात—यह (जीव) स्वयं चेतन और अविनाशी है, इसलिये अनेक जन्मोंमें बार-बार शरीर धारण करते हुए भी नाशवान् और जड सांसारिक पदार्थोंसे इसकी अभिलाषा कभी पूर्ण हो सकती ही नहीं; केवल पूर्णताका वहम होता है। चेतन जीवकी अभिलाषा तो चेतन तत्त्व (परमात्मा) के साथ अभिन्नताका

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

अनुभव होनेपर ही पूरी होती है। पारमार्थिक इच्छा होनेके मूलमें भी सांसारिक पदार्थोंके सम्बन्धको ही समझना चाहिये; क्योंकि जितने अंशमें यह जीव सांसारिक पदार्थोंको अपना मान लेता है और उनसे सुख लेना चाहता है, उतने ही अंशोंमें अपने सहज सुखका आच्छादन हो जाता है, इसलिये स्वभावतः—'चेतन अमल सहज सुखरासी' के सहज सुखमें बाधा आती है और उसे परमात्म-तत्त्वको प्राप्त करनेकी इच्छा होती है। संसारको लेकर जो इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं, वे कभी पूरी नहीं होतीं (३। ३९)।

अतः कभी-न-कभी इनका त्याग करना ही पड़ेगा। संसारकी इच्छा त्यागनेसे उसकी निवृत्ति हो जाती है और पारमार्थिक अभिलाषा, जिज्ञासा, मुमुक्षा या आवश्यकताकी पूर्ति हो जाती है। कारण यह कि पारमार्थिक इच्छा भी सांसारिक इच्छापर ही अवलम्बित है। जबतक सांसारिक इच्छाएँ रहती हैं, तबतक परमात्माकी इच्छा (दबनेपर भी) मिटती नहीं। परंतु सांसारिक इच्छाओंका त्याग करनेपर सांसारिक और पारमार्थिक—दोनों इच्छाएँ समाप्त हो जाती हैं (सांसारिक इच्छाओंकी निवृत्ति और पारमार्थिक इच्छाकी पूर्ति हो जाती है) फिर इच्छारहित वास्तविक स्वरूपका अनुभव हो जाता है।

संसारके जिन पदार्थोंसे इसे विमुख होना चाहिये उन क्षणिक पदार्थोंका स्वभावतः क्षय हो रहा है, वे नित्य नहीं हैं, नाशवान् हैं। वे इसे त्याग रहे हैं, यह सबके अनुभवकी बात है।

जो स्वतः इसका त्याग कर रहे हैं, उनका त्याग करनेमें क्या परिश्रम और क्या उद्योग! उद्योग है तो केवल इतना ही है कि

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

स्वतः वियुक्त होनेवाले पदार्थोंको पकड़ना नहीं है। इन्हें न पकड़नेसे (अपना न माननेसे) ये तो अपने-आप वियुक्त हो जायँगे और नित्य, अविनाशी परमात्मतत्त्वका अपने-आप अनुभव हो जायगा।

शरीर (संसार) के साथ मनुष्य दो प्रकारसे अपना सम्बन्ध जोड़ता है—(१) अभेद-भावसे—अपनेको शरीरमें स्थापित करना, जिससे 'मैं शरीर हूँ' ऐसा दीखने लगता है और (२) भेद-भावसे—शरीरको अपनेमें स्थापित करना, जिससे 'शरीर मेरा है' ऐसा दीखने लगता है। शरीरसे अभेद-भावसे सम्बन्ध जोड़नेसे जीव अपनेको शरीर मानता है, जिसे 'अहंता' कहते हैं, और भेद-भावके सम्बन्धसे शरीरको अपना मान लेता है, जिसे 'ममता' कहते हैं। इस प्रकार शरीरसे सम्बन्ध माननेपर प्राकृत-गुण (सत्त्व, रज और तम) अपनी वृत्तियोंके द्वारा शरीरमें अहंता, ममता, आसक्ति, कामना, आशा, तृष्णा और राग-द्वेष उत्पन्न कर जीवको बाँध देते हैं। इस प्रकार वह शरीरको ही 'मैं हूँ' और 'मेरा है' मानता हुआ गुणोंके द्वारा बँध जाता है। जिस प्रकार विवाह हो जानेपर ससुरालके नये परिवारसे सम्बन्ध जुड़ जाता है, साले-श्वशुर आदिमें ममता हो जाती है, पत्नीके वस्त्राभूषणकी आवश्यकता उसे अपनी आवश्यकता प्रतीत होने लगती है, स्त्रीके शरीर-निर्वाहकी वस्तुओंको भी वह अपनी आवश्यकता मानने लगता है, उसी प्रकार देहके साथ 'मैं' 'मेरे'का सम्बन्ध माननेके कारण देहधारी पुरुषका संसारके साथ आसक्ति, ममता, अहंताका सम्बन्ध हो जाता है। गुणोंके द्वारा बँध जानेके पश्चात् अर्थात् अनित्य शरीरसे एकता माननेके कारण

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

अनित्य शरीरोंको नित्य रखनेकी इच्छा होती है; क्योंकि यह स्वयं नित्य है। शरीरके साथ तद्रूपताके कारण ही अपनेको मरनेका भय होता है, हेतु यह है कि शरीर मरणधर्मा है। नित्य स्वरूपमें अनित्य शरीरको रखनेकी इच्छा नहीं हो सकती; क्योंकि शरीर अनित्य है ही एवं स्वयंमें मरनेका भय नहीं हो सकता, क्योंकि नित्य है ही। यदि अनित्य शरीरसे हमारा सम्बन्ध 'माना' हुआ है, ऐसा ज्ञान हो जाय, अपने वास्तविक स्वरूपका अनुभव हो जाय (अथवा इसका दृढ़ विश्वास हो जाय) तो फिर न तो नित्य बने रहनेकी इच्छा ही होगी और न मरनेका भय ही होगा। जबतक नित्य बने रहनेकी इच्छा और भय है, तबतक उसका गुणोंके द्वारा बन्धन है।

देहीका शुद्ध स्वरूप (आत्मा) देही-देह-भावकी उत्पत्तिमें कारण तीनों गुणोंका ही अतिक्रमण कर जाता है, तो फिर गुण उसे कैसे बाँध सकते हैं। वह कभी भी अपनेको एकदेशीय नहीं मान सकता; क्योंकि स्वयं गुणातीत है। उसे सम्पूर्ण शरीरोंमें सर्वत्र सत्ताका अनुभव होता है—**'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि'** (६।२९) इसलिये देही कहलाते हुए भी वह गुणोंसे अतीत ही है। उसके कहे जानेवाले देहमें गुणोंके रहते हुए भी वह गुणोंसे सर्वथा रहित है।

सम्बन्ध—

सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंके द्वारा अविनाशी देहीके बाँधे जानेकी सामान्य बात कहकर अब आगे तीन श्लोकोंमें सत्त्व,

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

रज और तम क्रमशः जीवको कैसे बाँधते हैं, इसका विशेषतापूर्वक वर्णन किया जाता है ।

श्लोक—

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥ ६ ॥

भावार्थ—

हे पापरहित अर्जुन ! उन तीनों गुणोंमें सत्त्वगुण तो निर्मल (स्वच्छ) होनेके कारण प्रकाशक है, अर्थात् अन्तःकरण एवं सम्पूर्ण इन्द्रियोंमें समझनेकी शक्ति उत्पन्न करनेवाला है और निर्विकार (रज एवं तमकी अपेक्षा विकाररहित) है । यह सत्त्वगुण सात्त्विक सुखकी आसक्तिसे एवं निर्मल होनेके कारण ज्ञानकी आसक्ति (अभिमान) से बाँधता है ।

तात्पर्य यह है कि रज और तमसे सम्बन्ध छूटनेके पश्चात् भी यदि सत्त्वगुणसे सम्बन्ध बना रहता है तो वह गुणातीत अवस्थाको प्राप्त नहीं होने देता, बल्कि ज्ञानजनित सुखकी आसक्ति पुनर्जन्मका हेतु बन सकती है; अतः साधकको यह सावधानी रखनी चाहिये कि सत्त्वगुणके साथ भी किसी तरहकी (सात्त्विक सुख एवं ज्ञानकी) आसक्ति न रहे । 'सुखी हूँ,' 'यह सुख बना रहे'—इस प्रकार साधक सात्त्विक सुखका उपभोग एवं सात्त्विक सुखकी इच्छा न करे ।

अन्वय—

अनघ ! तत्र, सत्त्वम्, निर्मलत्वात्, प्रकाशकम्, अनामयम्, सुखसङ्गेन, च, ज्ञानसङ्गेन, बध्नाति ॥ ६ ॥

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

पद-व्याख्या—

अनघ—पापरहित !

तीसरे अध्यायके तीसरे श्लोकमें अधिकारी-भेदसे दो प्रकारकी (ज्ञान और योग) निष्ठाका वर्णन करते हुए एवं पंद्रहवें अध्यायके बीसवें श्लोकमें उस अध्यायको गुह्यतम शास्त्र कहते हुए भगवान्‌ने अर्जुनके प्रति इसी सम्बोधनका प्रयोगकर उन्हें पापरहित कहा है; क्योंकि पापरहित हुए बिना ये सूक्ष्म बातें (कहने-सुननेपर भी) जीवद्वारा भलीभाँति धारण नहीं होतीं। तात्पर्य यह है कि पारमार्थिक जिज्ञासुके लिये निषिद्ध आचरणों (पापों)का सर्वथा त्याग आवश्यक है।

तत्र सत्त्वम् निर्मलत्वात्—उन तीनों गुणोंमें सत्त्वगुण स्वच्छ होनेके कारण रज और तमकी अपेक्षा तो निर्मल है, वस्तुतः वह सर्वथा निर्मल नहीं। तमोगुण, रजोगुण, और सत्त्वगुणका परस्पर सम्बन्ध—एक, दस और सौके अङ्कोंके तरह है। एकसे दसगुणा-दस और दससे दसगुणा सौ होता है, अर्थात् दोनों क्रमशः पूर्व-पूर्वकी अपेक्षा दसगुणा ही हैं। अङ्कोंकी दृष्टिसे एक और दसके अङ्क तो पास-पासमें हैं, जब कि सौका अङ्क उन दोनोंसे बहुत दूर है। (सौका अङ्क एकके अङ्कसे निन्यानवे और दसके अङ्कसे नब्बेकी दूरीपर है) वैसे ही तमोगुण और रजोगुण तो कुछ पास-पास हैं, जबकि सत्त्वगुण उन दोनोंसे बहुत दूर है। तात्पर्य यह कि सत्त्वगुण इन दोनों गुणोंकी अपेक्षा निर्मल है। सत्त्वगुण निर्मल होनेके कारण परमात्मतत्त्वका ज्ञान करानेमें सहायक है, अर्थात् सत्त्वगुणकी वृद्धिसे परमात्माकी ओर अग्रसर होनेमें बहुत बड़ी सहायता मिलती है। अतः गुणातीत होनेके लिये साधकको

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

अवश्य ही सत्त्वगुणका उपार्जन करना चाहिये, किंतु उसका उपभोग नहीं करना चाहिये तथा उसके साथ सङ्ग (आसक्ति) भी नहीं रखना चाहिये ।

प्रकाशकम्—प्रकाश करनेवाला ।

सत्त्वगुणका स्वरूप निर्मल होनेके कारण इसके प्रादुर्भावसे अन्तःकरण और सम्पूर्ण इन्द्रियोंमें प्रकाश, चेतना और हल्कापन विशेषतासे प्रतीत होते हैं, जिससे प्रत्येक पारमार्थिक या सांसारिक विषयको भलीभाँति समझनेमें बुद्धि पूरी तरह कार्य करती है एवं कार्य करनेमें बड़ा उत्साह रहता है । प्रकृति प्रतिक्षण परिवर्तनशील होनेके कारण प्रकृतिजन्य गुण भी परिवर्तित होते रहते हैं । इसलिये प्रत्येक प्राणीके जीवनमें ये गुण आते-जाते रहते हैं । सत्त्वगुणके दो रूप होते हैं, (१) शुद्ध सत्त्व—जिसमें उद्देश्य परमात्माका है और (२) मलिन सत्त्व* जिसमें उद्देश्य सांसारिक संग्रह और भोगोंकी प्राप्तिका होता है । शुद्ध सत्त्वगुणमें उद्देश्य परमात्मा होनेसे परमात्माकी ओर जानेकी स्वतः रुचि होती है, फिर भी वह अपने कार्य शान्ति, निर्विकारताके सङ्गद्वारा अटकानेवाला हो सकता है । यह अटकाना ही यहाँ बाँधना है । मलिन सत्त्वमें उद्देश्य पदार्थोंके संग्रह और सुख-भोगकी क्रियाओंके रहनेके कारण सांसारिक प्रवृत्तियोंमें रुचि होती है, अतः उसमें मनुष्य बँध जाता है । मलिन सत्त्वमें भी बुद्धि अपने (सांसारिक) विषयको भलीभाँति समझनेमें समर्थ होती है ।

* परमात्माका उद्देश्य न रहनेके कारण इसे मलिन-सत्त्व कहा गया है । मलिन-सत्त्वमें रजोगुण साथ रहता है ।

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

जैसे वैज्ञानिक भी सत्त्वगुणकी वृद्धिमें नये-नये अविष्कार करता है, उस समय उसकी वृत्तियाँ सात्त्विक होती हैं; किंतु उसका उद्देश्य परमात्माकी प्राप्ति न होनेसे वह अहंकार, मान-बड़ाई, धन आदिसे (संसारमें) बँध जाता है—

अनामयम्—रोगरहित अर्थात् विकाररहित ।

वास्तवमें गुणातीत पुरुष ही विकाररहित होता है, किंतु सत्त्वगुण भी चूँकि रज और तमकी अपेक्षा विकाररहित है, इसलिये उसे भी यहाँ विकाररहित कहा गया है । वस्तुतः प्रकृतिका कार्य होनेसे इसे सर्वथा विकाररहित नहीं कहा जा सकता । सत्त्वगुणकी वृद्धिमें दुःख, संतापादि दोषोंका नाश होनेपर साधकको सात्त्विक सुख (शान्ति) की प्राप्ति होती है । यह शान्ति बनी रहे, इस प्रकार उस शान्तिकी इच्छा एवं भोग न करने एवं परमात्म-प्राप्तिकी उत्कट चाह होनेसे साधक बहुत शीघ्र ही अपने निर्विकार स्वरूपका अनुभव कर सकता है । अतः सत्त्वगुणकी वृद्धिमें निर्विकार स्वरूपकी सहज अनुभूतिकी बहुत सम्भावना रहनेसे इसे भी निर्विकार कहा गया है । सत्त्वगुणकी वृद्धिसे जो शान्ति मिलती है या सुख मिलता है, उसमें स्थायी-बुद्धि और भोग-बुद्धि होना बन्धनके कारण हैं । 'यह शान्ति बनी रहे'—यह स्थायी-बुद्धि है और 'बड़ी शान्ति है'—यह भोग-बुद्धि है । साधककी इन दोनोंमेंसे किसीमें भी आसक्ति नहीं होनी चाहिये ।

सुखसङ्गेन बध्नाति—सत्त्वगुण सुखकी आसक्तिसे बाँधता है ।

तात्कालिक सुखकी अनुभूतिके कारण मनुष्य प्रायः विषय और इन्द्रियोंके (संयोगजन्य) सुख एवं आलस्य और प्रमादको भी

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

सुख मानते हैं (१८ । ३८-३९) । गीतामें भगवान्‌ने इन्हें राजस और तामस-सुखका नाम दिया है । वास्तवमें मनुष्य इनसे कभी सुखी नहीं हो सकता । आरम्भमें मनुष्यको इनमें सुख दिखायी देता है और वह ऐसी धारणा करता रहता है कि ऐसा-ऐसा हो जानेपर सुखी हो जाऊँगा अथवा ऐसे-ऐसे प्राणियों और पदार्थोंके मिलनेसे सुखी हो जाऊँगा, आदि । परंतु इनसे आजतक किसीकी तृप्ति हुई नहीं, आगे हो सकती नहीं और सम्भव भी नहीं; क्योंकि वास्तवमें ये नाशवान् होनेके कारण सुखरूप नहीं हैं, ये तो दुःखरूप ही हैं । विषय और इन्द्रियोंके (संयोगजन्य) सुखोंको भगवान्—'दुःखयोनय एव' (५ । २२) पदोंसे दुःखका ही कारण कहते हैं । जिन भोगोंको भगवान् दुःखका जन्मदाता कहते हैं, उन्हें सुख मानना जीवका अज्ञान ही तो है ।

सत्त्वगुणसे सात्त्विक सुखकी उत्पत्ति होती है, इसका वर्णन अठारहवें अध्यायके ३७वें श्लोकमें है, जहाँ इसे 'आत्मबुद्धि-प्रसादजम्' पदोंसे कहा गया है । इस प्रसादसे अर्थात् अन्तःकरणकी प्रसन्नतासे उस प्रसन्नताका भोग न करनेपर सर्वदुःखोंकी हानि (नाश) होकर शीघ्र परमात्म-तत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है—'प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते' (२ । ६५) । भगवान् यहाँ इन पदोंसे साधकको सावधान करते हैं कि जैसे संसारका लोभ—'जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई' बढ़ते-बढ़ते अन्तमें पतनका कारण होता है, इसी तरह सत्त्वगुणसे प्राप्त सुखमें भी आसक्ति करके 'यह सुख बना रहे'—ऐसी लोभकी वृत्ति परमात्मतत्त्व-रूप वास्तविक लाभसे वञ्चित करा देती है, अतः ग्राह्य नहीं है ।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

साधकोंसे प्रायः यही भूल हुआ करती है और इस भूलके परिणाम-स्वरूप वे गुणातीत-अवस्थाके वास्तविक लाभसे वञ्चित रह जाते हैं। यदि साधक यहाँ थोड़ी सावधानी रक्खे तो उसकी प्रगति द्रुतगतिसे हो सकती है, जिससे वह अल्प समयमें ही गुणातीत-अवस्थाको प्राप्त कर सकता है।

सत्त्वगुणसे उत्पन्न सात्त्विक सुखका उपभोग न करनेसे तो साधक शीघ्र ही सत्त्वगुणसे ऊँचा उठ जाता है, किंतु इसमें निरन्तर स्थित रहनेसे भी साधकको (गुणातीत होनेका लक्ष्य होनेसे) इस सुखसे स्वतः अरुचि हो जाती है और फिर वह वास्तविक स्थितिका अनुभव कर लेता है।

च—और

ज्ञानसंगेन (बध्नाति)—ज्ञानकी आसक्तिसे बाँधता है।

जाननेकी शक्तिका नाम 'ज्ञान' है। सत्त्वगुणमें स्थित रहनेसे साधकमें यह ज्ञान-शक्ति स्वतः प्रकट हो जाती है तथा साधकको शास्त्रीय और व्यावहारिक—दोनों ही विषयोंका अधिक स्पष्ट ज्ञान होने लगता है।*

साधकको बहुत-सी ऐसी बातोंकी आश्चर्यजनक ढंगसे जानकारी होती है, जो पहले कभी जानी हुई नहीं होती। इस

---

*—सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत॥
(गीता १४। ११)

'जिस समय इस देहमें तथा अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें चेतनता तथा विवेकशक्ति उत्पन्न होती है, उस समय ऐसा जानना चाहिये कि सत्त्वगुण बढ़ा है।'

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

ज्ञानका होना अपने-आपमें दोषपूर्ण नहीं है; परंतु 'उसे मैं अन्यकी अपेक्षा विशेष जानता हूँ' ऐसा अभिमान हो सकता है और दूसरी ऐसी इच्छा रह सकती है कि 'यह मेरा ज्ञान बना रहे और बढ़ता रहे' इस प्रकारका अभिमान और इच्छाएँ ज्ञानमें आसक्ति कर साधककी प्रगतिको अवरुद्ध कर देती हैं—अर्थात् उसे गुणातीत-अवस्थासे वञ्चित कर देती हैं। ज्ञानमें आसक्तिद्वारा सत्त्वगुण साधकको बाँध देता है।

सात्त्विक सुखमें लोलुपता या आसक्ति हो जानेसे पुनर्जन्म भी हो सकता है। इसलिये भगवान् साधकको चेतावनी दे रहे हैं कि सङ्ग या आसक्तिसे ही बन्धन होता है।

श्लोक—

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्॥ ७॥

भावार्थ—

'कुन्तीनन्दन! रजोगुणको रागस्वरूप जानो। यहाँ तृष्णा और आसक्तिको उत्पन्न करनेवाला है एवं तृष्णा तथा आसक्तिसे रजोगुण बढ़ता भी है। इनका परस्पर बीज-वृक्ष न्यायसे अन्योन्य कारण है। साधकको रजोगुण कर्मकी आसक्तिसे देहमें बाँधता है; अर्थात् कर्मोंमें आसक्ति, ममता और फलेच्छा उत्पन्नकर तथा उनके साथ सम्बन्ध जोड़कर देहधारीको देहमें बाँध देता है।

अन्वय—

कौन्तेय! रजः, रागात्मकम्, विद्धि, तृष्णासङ्गसमुद्भवम्, तत्, देहिनम्, कर्मसङ्गेन, निबध्नाति॥ ७॥

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

पद-व्याख्या—

कौन्तेय—कुन्तीनन्दन !

रजः रागात्मकं विद्धि—रजोगुणको रागस्वरूप जानो। जैसे स्वर्णके आभूषण स्वर्णमय हैं, ऐसे रजोगुणका स्वरूप रागमय है, अर्थात् रजोगुण रागकी ही प्रतिमूर्ति है।

यद्यपि पातञ्जलयोगदर्शनमें क्रियाको रजोगुणका स्वरूप कहा गया है—

'प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्।'* (सूत्र २। १८)

किंतु श्रीमद्भगवद्गीताके अध्ययनसे ऐसा ज्ञात होता है कि भगवान् (क्रियामात्रको गौणरूपसे रजोगुण मानते हुए भी) मुख्यतः रागको ही रजोगुणका स्वरूप मानते हैं।† इसीलिये 'योगस्थः कुरु

---

* इस सूत्रमें प्रकाशको सत्त्वका, क्रियाको रजका और स्थिति (अवष्टम्भ) को तमका कार्य या स्वरूप कहा है।

† श्रीमद्भगवद्गीताकी एक बहुत बड़ी विलक्षणता यह है कि वह किसी मतका खण्डन किये बिना ही उस विषयमें अपनी मान्यता प्रकट कर देती है। गीतामें भगवान्‌ने क्रियाको भी रजोगुण माना है, जैसे—लोभः प्रवृत्तिरारम्भः' (१४। १२) उत्तर कर्मको सात्त्विक कहा है (१८। २३)। इसलिये दोष क्रियाओंमें नहीं है, यह दोष राग या आसक्तिमें है। रागपूर्वक किये हुए कर्म ही बाँधते हैं, स्वरूपतः क्रियाओं-से बन्धन नहीं होता। तात्पर्य यह है कि मनुष्य कर्मोंकी आसक्ति और कर्मोंमें फलकी इच्छासे ही बँधता है, कर्मोंके करनेमात्रसे नहीं। राग न रहनेपर सम्पूर्ण कर्म करते हुए भी मनुष्य नहीं बँधता अर्थात् कर्म और पदार्थ दोनों ही बाँधनेवाले नहीं होते (४। १९)। यदि क्रियामात्र ही बन्धनकारक होती तो जीवन्मुक्त महापुरुषको भी बाँध

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

'कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा' (२ । ४८) पदोंमें आसक्तिका त्याग करके कर्तव्यकर्मोंको करनेकी आज्ञा दी गयी है। निष्काम भावसे किये गये कर्म मुक्तिप्रदाता हो जाते हैं (३ । १९; ५ । १०)। गुणातीत पुरुषके लक्षणोंका विवेचन करते हुए भगवान् कहते हैं कि 'प्रवृत्ति' (१४ । २२) अर्थात् क्रिया करनेका भाव उत्पन्न होनेपर उस (क्रिया) के प्रति उस गुणातीत पुरुषका राग नहीं होता। तात्पर्य यह कि गुणातीत पुरुषमें भी रजोगुणके प्रभावसे प्रवृत्ति तो होती है; किंतु रागपूर्वक नहीं। अतः यहाँ भगवान्का आशय क्रियाओंमें राग-द्वेष न रखना ही है। सत्त्वगुण गुणातीत होनेमें सहायक होनेपर भी इसे सुख और ज्ञानके सङ्ग (आसक्ति)से बन्धनमें हेतु कहा गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि आसक्ति ही बन्धनकारक है, सत्त्वगुण स्वयं नहीं। इस दृष्टिसे भगवान् देहके साथ अपना सम्बन्ध माननेवालेके रजोगुणद्वारा बाँधे जानेके प्रसङ्गमें इस पदद्वारा 'राग'को ही रजोगुणका मुख्य स्वरूप जाननेके लिये कह रहे हैं।

देती; क्योंकि क्रियाएँ तो उनके द्वारा भी होती ही हैं (१४ । २२)। भगवान्द्वारा सृष्टिकी रचना भी 'कर्म' है तथा अवतार लेकर वे भी लीलाएँ करते हैं, पर कर्मोंमें आसक्ति (राग) न रहनेसे 'कर्म' उन्हें नहीं बाँधते।

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय (९ । ९)

अठारहवें अध्यायके २३वें, २४ वें और २५ वें श्लोकोंमें भगवान् सात्त्विक, राजस और तामस तीन प्रकारके कर्मोंका वर्णन करते हैं। यदि मात्र कर्म रजोगुण ही होते तो फिर उनके सात्त्विक और तामस भेद ही कैसे होते ? इससे यह प्रतीत होता है कि गीता गौणरूपसे कर्मोंको, परंतु मुख्यतया रागको ही रजोगुण कहती है।

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

महासर्गके आदिमें परमात्मामें—'एकोऽहं बहु स्याम्' (छान्दोग्य० ६ । २ । ३) संकल्प या क्रियाका स्फुरण होता है। यह संकल्प रजोगुणी है और उसे आरम्भिक कर्म मानना चाहिये। इसीको गीताने, 'भूतोंके भावको उत्पन्न करनेवाला जो त्याग है, वह 'कर्म' नामसे—'भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः' (८ । ३) इन पदोंसे कहा है। जिस प्रकार दहीमें मथानी डालकर बिलोनेसे मक्खन और छाछ अलग-अलग हो जाते हैं, वैसे ही इस रजोगुणी संकल्पसे प्रकृतिमें क्षोभ उत्पन्न होकर सत्त्वगुण-रूप मक्खन और तमोगुणरूप छाछ अलग-अलग हो जाते हैं। सत्त्वगुण निर्मल, रजोगुण मटमैला (गँदला) और तमोगुण मलिन होता है। सत्त्वगुणसे अन्तःकरण और ज्ञानेन्द्रियाँ, रजोगुणसे प्राण और कर्मेन्द्रियाँ और तमोगुणसे स्थूल पदार्थ, शरीरादिका निर्माण होता है तथा तीनों गुणोंसे संसारके अन्य पदार्थोंकी उत्पत्ति होती है। इस प्रकार महासर्गके आदिमें सृष्टि-उत्पत्तिकी कारणरूपा भगवान्‌की क्रिया सर्वथा रागरहित होती है—इसीलिये भगवान् उसे दिव्य कहते हैं।

'जन्म कर्म च मे दिव्यम्।' (गीता ४ । ९)

भगवान्‌का अंश होनेसे स्वयं तो शुद्ध-बुद्ध-मुक्त है, फिर राग—आसक्तिके बिना वह कैसे बँध सकता है, क्योंकि क्रिया और पदार्थ तो जड हैं।

तृष्णासङ्गसमुद्भवम्—तृष्णा और आसक्तिको उत्पन्न करनेवाला।

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

इन पदोंके दो अर्थ हो सकते हैं—(१) तृष्णा और आसक्तिको उत्पन्न करनेवाला तथा (२) तृष्णा और आसक्तिसे उत्पन्न होनेवाला। जैसे बीज और वृक्षका अन्योन्य कारण है, अर्थात् बीजसे वृक्ष और वृक्षसे बीज होता है, वैसे ही रजोगुणरूप बीजसे तृष्णा और आसक्तिरूप वृक्ष उत्पन्न होता है तथा तृष्णा और आसक्तिरूप वृक्षसे रजोगुण बहुत बढ़ जाता है।

सांसारिक पदार्थोंके आकर्षणसे राग उत्पन्न होता है। 'राग'से चित्तपर उनका रंग चढ़ जाता है, अर्थात् अन्तःकरणमें उनका महत्त्व दृढ़ हो जाता है। फिर उन्हीं पदार्थोंके लिये कामना, आशा, तृष्णा आदि विकार उत्पन्न होते हैं। पुनः तृष्णा और आसक्तिसे पदार्थोंमें राग बढ़ता है। रागकी वृद्धिसे मनुष्य शान्त नहीं रह सकता, अर्थात् वह कामनापूर्वक क्रियाएँ करने लगता है। फलस्वरूप मनुष्यका अन्तःकरण उत्तरोत्तर रागमय होते-होते सांसारिक पदार्थोंका दास हो जाता है। अन्तःकरणमें संसारकी आसक्ति रहनेसे वह वस्तुतः परमात्माका स्वरूप होते हुए भी परमात्मामें अश्रद्धा करता है। वह तीनों गुणोंके कार्य संसारकी चमक-दमकमें जीवनका असली लक्ष्य (भगवत्प्राप्ति) भूलकर सांसारिक विषयोंके संग्रह और भोगको ही परम लक्ष्य मान लेता है।

तत् देहिनं कर्मसङ्गेन निबध्नाति—वह (रजोगुण) देहधारी पुरुषको कर्मकी आसक्तिसे बाँधता है।

निर्लिप्त होते हुए भी (जीवका) अपनेको लिप्त मानना और असङ्ग होते हुए भी सङ्गवाला मानने लगना—रागके ही कारण

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

होता है। देहसे सम्बन्ध माननेवाले देहीको ही यह राग कर्मोंकी आसक्तिसे बाँधता है; शुद्ध, अविनाशी देहीको नहीं।

रजोगुणकी वृद्धि होनेपर रागके कारण देहधारी पुरुषकी प्राणियों और पदार्थोंमें महत्त्व-बुद्धि उत्पन्न होनेसे उनकी कामना जाग्रत् हो जाती है। कर्म और पदार्थोंका सम्बन्ध है, किंतु यह आवश्यक नहीं कि जो पदार्थ अभी प्राप्त हो रहे हैं, वे वर्तमानमें किये जा रहे कर्मोंके फलस्वरूप ही प्राप्त हो रहे हैं। पदार्थोंकी प्राप्तिमें प्रारब्ध ही मुख्य है। परंतु जीव वर्तमानमें किये जा रहे कर्मोंसे ही उनकी प्राप्ति मानकर यह समझ बैठता है कि अभी कर्म करनेसे मुझे ये पदार्थ प्राप्त हुए हैं, यद्यपि वर्तमानमें किये गये पुत्रेष्टि-यज्ञ आदि शास्त्रविहित सकाम शुभ-कर्म नया प्रारब्ध बनकर वर्तमानमें फल दे सकते हैं, तथापि वर्तमानमें की गयी व्यापार आदि सांसारिक क्रियाओं एवं झूठ, कपट आदिका सम्बन्ध वर्तमानमें मिलनेवाले पदार्थोंसे नहीं है; परंतु उन झूठ, कपट आदिका अनिष्ट फल आगे अवश्य मिलेगा, इसमें कोई संदेह नहीं। अतः वर्तमानमें झूठ, कपट आदि करनेसे ही धनादि पदार्थोंकी प्राप्ति होती है—इस गलत मान्यताका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

प्राणियों और पदार्थोंमें महत्त्व-बुद्धि होनेके कारण उन्हें प्राप्त करनेकी इच्छासे साधक रागपूर्वक कर्मोंमें ही प्रवृत्त होता रहता है। इस प्रकार रजोगुण जीवको उत्कट इच्छाके साथ कर्मोंमें प्रेरित करता रहता है। फलस्वरूप आसक्ति, ममता और फलेच्छा आदि बढ़ते रहते हैं और जीवमें कर्तापनका अभिमान दृढ़ हो जाता है। इस प्रकार रजोगुणका

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

कर्मोंके साथ सम्बन्ध जोड़ना ही कर्मसङ्ग है। इस कर्मसङ्गका फल शुभ, अशुभ और मिश्रित तीन प्रकारका होता है (१८ । १२)। इस फलको भोगनेके लिये जीवको बारंबार उत्तम, मध्यम और अधम योनियोंमें जन्म लेना पड़ता है (१३ । २१)। रजोगुणद्वारा देहाभिमानी पुरुषको कर्मोंकी आसक्तिसे बाँधनेका यही तात्पर्य है।

श्लोक—

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ ८ ॥

भावार्थ—

'हे भरतवंशी अर्जुन ! तमोगुणको अज्ञानसे उत्पन्न हुआ जान। वह सम्पूर्ण देहधारियोंको मोहित करनेवाला तथा जीवको प्रमाद, आलस्य और निद्रासे बाँधनेवाला है। तमोगुणको अज्ञानसे उत्पन्न कहनेका तात्पर्य यह है कि इसमें अज्ञानकी मुख्यता है। वैसे तो तीनो ही गुणोंके साथ सम्बन्ध अज्ञानसे होता है, परंतु तमोगुणमें (जड़ता होनेसे) अज्ञानकी प्रधानता रहती है। अज्ञानकी प्रधानता होनेसे तमोगुण न तो परमार्थ-साधनमें प्रवृत्त होने देता है और न (प्रमाद, आलस्य, निद्राका हेतु होनेके कारण) सांसारिक कार्योंको ही विवेकपूर्वक करने देता है।

अन्वय—

तु, भारत ! तमः, अज्ञानजम्, विद्धि, सर्वदेहिनाम्, मोहनम्, तत् (देहिनम्), प्रमाद-आलस्य-निद्राभिः, निबध्नाति ॥ ८ ॥

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

पद-व्याख्या

तु—और

प्रायः यह पद प्रकरणको पृथक् करनेके लिये ही आता है। यह भी तीनों गुणोंका विभाग करनेमें ही 'तु' पदकी सार्थकता है। इसके अतिरिक्त गीतामें इस 'तु' पदका प्रयोग प्रायः रजोगुणके प्रकरणमें आया है, जिसका तात्पर्य यह है कि सत्त्वगुणकी अपेक्षा रजोगुण और तमोगुण निकृष्ट हैं। कहीं-कहीं इस पदका प्रयोग तमोगुणके प्रकरणमें भी हुआ है, उदाहरणस्वरूप इसी श्लोकमें आया है।

भारत—हे भरतवंशी अर्जुन !

तमः अज्ञानजम् विद्धि—तमोगुणको अज्ञानसे उत्पन्न होनेवाला जान।

शङ्का—इस अध्यायके सत्रहवें श्लोकमें तो अज्ञानकी उत्पत्ति तमोगुणसे कही गयी है, जब कि यहाँ तमोगुणको अज्ञानसे उत्पन्न होनेवाला कहा है। इसका क्या भाव है ?

समाधान—इसका तात्पर्य यह है कि तमोगुणसे अज्ञान बढ़ता है और अज्ञानसे तमोगुण उत्पन्न होता है। इन दोनोंमें भी बीज-वृक्षकी भाँति अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। अज्ञानको बीज और तमोगुणको वृक्ष मानना चाहिये।

सर्वदेहिनाम् मोहनम्—सम्पूर्ण देहधारियोंको मोहित करनेवाला है।

भगवान् इन पदोंसे यह निर्देश कर रहे हैं कि मनुष्यमें जब तमोगुण बढ़ जाता है, तब उसकी बुद्धि मूढ़तासे आवृत हो जाती है। बुद्धिमें मूढ़ताके आच्छादनसे सत्त्वगुणके कार्य—प्रकाश और ज्ञान ढक जाते हैं तथा रजोगुणके कार्य—पारमार्थिक और व्यावहारिक

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

प्रवृत्तिकी क्षमता नहीं रहती, तमोगुणके कारण प्राणीका विवेक पूर्णतः आच्छादित हो जाता है। तात्पर्य यह है कि तमोगुण बढ़ने-पर मनुष्य जब विवेकहीन हो जाता है, तब उसके आचरण असुर, राक्षस और पशुओंकी तरह हो जाते हैं, वह मनुष्यत्वसे गिर जाता है।

संसारमें तमोगुणी प्राणी अधिक हैं। तमोगुण तमोगुणी मनुष्योंको मोहित करके बाँधनेवाला तो है ही; रजोगुणी और सत्त्वगुणी मनुष्योंमें भी जो तमोगुणका अंश है, वह उनको भी मोहित करके बाँध देता है। अतः यहाँ बहुवचनात्मक 'देहिनाम्' पद देकर भगवान् कहते हैं कि तमोगुण केवल तमोगुणी मनुष्योंको ही नहीं बाँधता, प्रत्युत उन सभी प्राणियोंको जो देहके साथ अपना सम्बन्ध मानते हैं, बाँध देता है। 'सर्वदेहिनाम्' बहुवचनका एक तात्पर्य यह भी है कि तमोगुण बढ़नेपर मनुष्यकी चौरासी लाख योनियोंके अन्य प्राणियोंसे समता हो जाती है और वह पतनके गर्तमें चला जाता है, अर्थात् तमोगुणी मनुष्य जिस स्थितिमें है, उससे भी और नीचेकी स्थितिमें चला जाता है, जब कि सत्त्वगुणी मनुष्य उतने ही अंशोंमें पतनके भागी होते हैं, जितने अंशोंमें उनमें रजोगुण और तमोगुण बढ़ता है एवं रजोगुणी मनुष्य उतने ही अंशोंमें पतनके भागी होते हैं, जितने अंशोंमें उनमें तमोगुण बढ़ता है। (तमोगुणके प्रति सावधान होनेका उल्लेख आगेके विवेचनमें देखना चाहिये।)

तत् (देहिनम्)—वह (तमोगुण देहधारी पुरुषको)

प्रमादालस्यनिद्राभिः निबध्नाति—प्रमाद, आलस्य और निद्राके द्वारा बाँधता है।

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

प्रमाद दो प्रकारका होता है—(१) अक्रिय और (२) सक्रिय ।

(१) करनेयोग्य कामको न करना अक्रिय प्रमाद है। जैसे माता-पिताकी सेवा न करना अथवा द्विजाति होकर संध्या-वन्दन न करना आदि । प्राप्त अवसरका सदुपयोग न करना भी अक्रिय प्रमाद है । प्रमादवश निष्क्रिय रहनेसे आयु वृथा जाती है।

(२) अकरणीय कार्य (निषिद्ध आचरण) तथा व्यर्थ चेष्टा करना सक्रिय प्रमाद है; जैसे—ताश-चौपड़ खेलना, नाटक-सिनेमा देखना, बीड़ी-सिगरेट पीना, बैठे-बैठे कोई अङ्ग हिलाना, वृथा बोलना, अखबार पढ़ना आदि निरर्थक क्रियाएँ, जिनसे कोई सांसारिक और पारमार्थिक लाभ न होता हो । सक्रिय प्रमादमें शास्त्र-निषिद्ध और व्यवहारमें वर्जित—दोनों प्रकारके कार्य सम्मिलित हैं ।

अपने वास्तविक स्वरूपको भूलकर शरीरादिको 'मैं' और शरीरकी मृत्युको अपनी मृत्यु मानना प्रमाद है । शास्त्रोंमें इसे स्वरूप-प्रमाद कहा है । **'प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि ।'** (सनत्सु० ४२ । ४) प्रमाद ही मृत्यु है ।

प्रमाद सर्वथा त्याज्य है । प्रमाद (अकरणीय और निरर्थक क्रियाओं) की ओर विशेष झुकाव रहनेके कारण तमोगुणी मनुष्य पापकर्मोंमें भी प्रवृत्त होता है ।

आलस्य—निद्रासे पहले शरीरमें जो भारीपन प्रतीत होता है, उसे आलस्य कहते हैं । तन्द्राके वशीभूत होना अथवा व्यर्थ बैठे रहनेके स्वभावसे कर्तव्यकर्मको टालते रहना । जैसे—'आजका

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

काम कल कर देंगे'—यह भी आलस्यका ही एक प्रकार है। (यह दोष पशु-पक्षियोंमें भी देखनेमें आता है। जैसे कोई पशु तेज धूप या वर्षामें भी बाहर बैठा रहता है, वह उठकर छायायुक्त या वर्षारहित स्थानपर नहीं आता।)

कर्तव्य कर्मको टालनेवाला आलस्य भी प्रमादकी तरह सर्वथा त्याज्य है।

निद्रा-तन्द्रा, स्वप्न और सुषुप्ति—तीनोंका नाम निद्रा है। शरीरादिमें होनेवाली थकावटको दूर करनेके लिये अर्थात् क्षीण हुई शक्तिको पुनः प्राप्त करनेके लिये उचित निद्रा सभीके लिये आवश्यक है। (शास्त्रोंमें आयु और योनिके अनुसार निद्राका समय निश्चित है।)

निद्रामें दो वृत्तियाँ होती हैं—पहली विश्राम करनेवाली वृत्ति और दूसरी मोहित करनेवाली। विश्राम करनेवाली वृत्तिसे शरीरको विश्राम मिलता है एवं नयी स्फूर्ति आती है, जिससे जगनेपर प्राणी पुनः नयी शक्तिसे कार्य करता है। 'युक्तस्वप्नावबोधस्य' (६। १७) पदोंसे भगवान् शरीरादिके विश्राम-हेतु निद्राको आवश्यक बताते हैं। मोहित करनेवाली वृत्ति अर्थात् अतिनिद्रा जडताका ही एक प्रतिरूप कही जा सकती है। इस जडताजन्य सुखके भोगीको कुछ ज्ञान नहीं रहता। अनावश्यक होनेके कारण यह अतिनिद्रा दोषपूर्ण है। 'याति स्वप्नशीलस्य' (६। १६) पदोंसे भगवान्‌ने कहा है कि अति निद्रालुका योग (परमात्माकी प्राप्तिका लक्ष्य रखकर किया जानेवाला साधन) सिद्ध नहीं होता। निष्कर्ष यह है कि अतिनिद्रा दोषपूर्ण और योगकी प्राप्तिमें बाधक है।

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

तमोगुण मनुष्यको प्रमाद, आलस्य और निद्राद्वारा गुणातीत होनेके साधनोंसे वञ्चित रखकर जन्म-मरणमें फँसाये रखता है। यही इनके द्वारा तमोगुणका बाँधना और पतनकी ओर ले जाना है। मनुष्यको बाँधनेवाले तमोगुणके तीन पाशों—प्रमाद, आलस्य और निद्राके क्रमसे भगवान् यह बताना चाहते हैं कि तीनोंमें प्रमाद अतिभयावह है; आलस्य उससे कम और निद्रामें तो केवल अतिनिद्रा ही दोषपूर्ण है*। उचित निद्रा लेना दोष नहीं है। यह नियम है कि जो सबसे अधिक भयावह है, उसीका बन्धन सबसे प्रबल होता है। अतः प्रमाद और आलस्य तो सर्वथा त्याज्य है ही, अतिनिद्रासे भी मनुष्यको सावधान रहना चाहिये।

---

* अठारहवें अध्यायके ३९ वें श्लोकमें तामस सुखका वर्णन करते हुए भगवान्‌ने उपर्युक्त क्रमके सर्वथा विपरीत क्रम (निद्रा, आलस्य और प्रमाद) रक्खा है। 'निद्रालस्यप्रमादोत्थम्'।

इसका रहस्य यह है कि अठारहवें अध्यायमें क्रमशः एक-दूसरेसे निम्नकोटिके सुखका वर्णन होनेके कारण सात्त्विक, राजस और तामस सुखका वर्णन हुआ है। अतः तामस सुखका वर्णन करते हुए भी(तामस सुखके तीन भेद करके) यही क्रम रखना युक्तिसङ्गत हुआ। तात्पर्य यह है कि निद्रा, आलस्य और प्रमादके सुखोंमें निद्राका सुख आवश्यक होनेसे आलस्य और प्रमाद-जनित सुखोंसे अच्छा है। निद्राके सुखसे आलस्यका सुख निकृष्ट है और आलस्यके सुखसे प्रमादका सुख निकृष्ट अर्थात् त्याज्य है। तामसी सुखके वर्णनमें आया हुआ वह विपरीत क्रम भी उसी अर्थको प्रकट करता है, जिसे भगवान् इसी श्लोकमें इस क्रमसे बतलाना चाहते हैं। (उचित निद्राका सुख सात्त्विक है, आलस्यका सुख राजस और प्रमादका सुख तामस है।)

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

विशेष बात—उपर्युक्त चार श्लोकोंमें भगवान्‌ने देहधारी अविनाशी देहीकी तीनों गुणोंद्वारा बँध जानेकी बात कही है। तीनों गुण प्रकृतिके कार्य हैं और जीव स्वयं परमात्मस्वरूप या परमात्माका अंश है। गुणोंके साथ सम्बन्ध जोड़नेके कारण ही वह स्वयं निर्लिप्त होता हुआ भी गुणोंके द्वारा बँध जाता है। वास्तवमें उसका अपना स्वरूप गुणोंसे सर्वथा असम्बद्ध और निर्लिप्त है। अतः अपने वास्तविक स्वरूपका लक्ष्य रखनेसे ही साधक गुणोंके बन्धनसे छूट सकता है।

सम्बन्ध—

तीनों गुणोंमेंसे कौन-सा गुण मनुष्यको किस व्यापारमें संयुक्त करता है, जिससे वह बन्धनमें पड़ जाता है—यह नवें श्लोकमें स्पष्ट किया गया है।

श्लोक—

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत॥ ९॥

भावार्थ—

हे भरतवंशोद्भव अर्जुन! सत्त्वगुण मनुष्यको सात्त्विक सुखमें आसक्त करता (लगाता) है। यह तामस और राजस सुखोंकी अपेक्षा विलक्षण है। रजोगुण क्रिया, भोग और पदार्थोंमें प्रियता उत्पन्न कर मनुष्यको उधर प्रवृत्त करता है और उसे कर्मोंमें लगा देता है; क्योंकि यह रागस्वरूप है। इधर तमोगुण ज्ञानको आवृत्त कर न केवल मूढ़ता उत्पन्न करता है, वरन् मनुष्यको प्रमाद और आलस्यमें भी डुबो देता है; क्योंकि इसका अज्ञानके साथ सम्बन्ध घनिष्ठ है।

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

अन्वय—

भारत ! सत्त्वम्, सुखे, संजयति, रजः, कर्मणि, तमः, तु, ज्ञानम्, आवृत्य, प्रमादे, उत, संजयति ॥ ९ ॥

पद-व्याख्या—

भारत !—हे भरतवंशोद्भव !

सत्त्वम् सुखे संजयति—सत्त्वगुण (मनुष्यपर) सात्त्विक सुखमें विजय करता है ।

सत्त्वगुणका कार्य ज्ञान है । जानकारीके अभिमानसे, 'मैं विशेष जानकार हूँ'—ऐसा अनुभव करनेसे मनुष्यको एक प्रकारका सुख प्रतीत होता है । यह गुण मनुष्यमें एक ऐसा भाव और जगा देता है कि 'यह सुख मिलता रहे ।' जब मनुष्य इस सुखका उपभोग करता है और इसीमें संतोषका अनुभव करने लगता है, तब यह समझना चाहिये कि सत्त्वगुणने मनुष्यपर अधिकार कर लिया है अर्थात् जानकारीके अभिमानसे एवं सात्त्विक सुखके बने रहनेकी इच्छासे सत्त्वगुण मनुष्यको गुणातीत नहीं होने देता, और सात्त्विक सुखका उपभोग करनेसे सत्त्वगुण भी नहीं रहता । यद्यपि सुखके भोगसे सुख नष्ट होता है पर अभिमान रह जाता है, जो साधकके पतनका कारण होता है तथापि इस ओर साधककी दृष्टि नहीं जाती । इस प्रकार सत्त्वगुण मनुष्यपर विजय प्राप्त करके अर्थात् ज्ञानजन्य सुखकी वृद्धि और उसके निरन्तर अस्तित्वकी इच्छा उत्पन्न कर परमतत्त्वकी प्राप्तिके मार्गमें अग्रसर होनेमें अवरोध उत्पन्न कर देता है ।

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

रजः कर्मणि—रजोगुण विजय प्राप्त करके मनुष्यको कर्ममें (लगाता है)।

मुख्यतः राग ही रजोगुणका स्वरूप है। सांसारिक प्राणी, पदार्थ, क्रिया, घटना और परिस्थिति आदिमें राग होनेसे मनुष्य विभिन्न संग्रह और भोगोंकी इच्छा करता है। इस प्रकार रजोगुण उसे कामनापूर्वक संयोगजन्य सुख और पदार्थोंमें आसक्ति उत्पन्न कर उनकी प्राप्तिके लिये कर्मोंमें लगा देता है। वस्तुतः संयोग-जन्य सुखका भोग ही दुःखका कारण है*।

तमः तु ज्ञानम् आवृत्य प्रमादे उत संजयति—इधर तमोगुण ज्ञानको आवृत करके प्रमाद और आलस्यमें भी लगा देता है।

तमोगुण विवेक-शक्तिका विरोधी है, अतः तमोगुणके बढ़नेपर मनुष्यका विवेक कुण्ठित हो जाता है, फलस्वरूप सत्त्वगुणका कार्य—ज्ञान और रजोगुणका कार्य कर्मोंमें प्रवृत्ति—ये दोनों तमोगुणसे आच्छादित हो जाते हैं। इतना ही नहीं, तमोगुण मनुष्यपर हावी होकर उसे प्रमाद और आलस्यमें भी लगा देता है। यहाँपर यह समझना चाहिये कि सात्त्विक गुणसे ज्ञान और प्रकाश—ये दो वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। ज्ञान (विवेक) से कर्तव्य-अकर्तव्य,

---

* ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥ (५। २२)
जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप दिखते हैं तो भी दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले हैं अर्थात् अनित्य हैं; इसलिये हे अर्जुन! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri
Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-GI

सार-असारका ज्ञान होता है और प्रकाशसे बुद्धिकी स्वच्छता (श्रेष्ठता, अच्छापन) और निर्मलता (मलसे मुक्ति) होती है। तमोगुण ज्ञान (विवेक) और स्वच्छता दोनोंका विरोधी है। इसलिये विवेकको ढककर प्रमादमें लगाता है एवं बुद्धिकी निर्मलताको आवृत कर वह मनुष्यको आलस्य और निद्रामें लगा देता है, जिससे ज्ञानकी बातें कहने-सुनने, पढ़नेपर भी समझमें नहीं आतीं।

यहाँ 'उत' शब्दके प्रयोगका यही प्रयोजन है कि तमोगुण ज्ञानको आच्छादित कर प्रमाद (आरामकी दृष्टिसे अधिक शयनमें और अमुक कार्य फिर कर लेंगे—इस प्रकारके आलस्य) में और अन्तःकरण तथा इन्द्रियोंकी स्वच्छता नष्ट करके निद्रा और आलस्यमें लगा देता है, अर्थात् सात्त्विक वृत्तिसे उत्पन्न ज्ञान और प्रकाश दोनोंको आच्छादित कर देता है; साथ ही राजसी प्रवृत्ति क्रियाको भी नष्टकर अक्रिय प्रमाद (कर्तव्य कर्म न करना) और सक्रिय प्रमाद (न करने योग्य कार्य करना)—दोनोंमें लगा देता है।

सम्बन्ध—

मनुष्योंमें गुण तो तीनों रहते हैं—उनमेंसे एक-एक गुण मनुष्यपर कैसे विजय करता है, अब उसका वर्णन किया जाता है—

श्लोक—

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥ १० ॥

भावार्थ—

और हे भरतवंशी अर्जुन! समय-समयपर तीनों गुणोंमेंसे किस गुणकी भी प्रधानता रहती है, वही अन्य दो गुणोंको दबाकर

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

अपना कार्य प्रारम्भ कर देता है। अतः रजोगुण और तमोगुणको दबाकर सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है एवं तमोगुण और सत्त्वगुणको क्षीण करके रजोगुण बढ़ता है। उसी प्रकार सत्त्वगुण और रजोगुणको तिरस्कृत करके तमोगुणकी वृद्धि होती है।

अन्वय—

च, भारत ! रजः, तमः, अभिभूय, सत्त्वम्, भवति, च, तमः, सत्त्वम्, (अभिभूय) रजः, तथा, एव, रजः, सत्त्वम्, (अभिभूय) तमः ॥ १० ॥

पद-व्याख्या—

च—और

भारत !—हे भरतवंशी अर्जुन !

रजः तमः अभिभूय सत्त्वं भवति—रजोगुण और तमोगुणको दबाकर सत्त्वगुण वृद्धिको प्राप्त होता है।

रजोगुणके कार्य—लोभ, आसक्ति, अशान्ति, कामना, तृष्णा, ममता, प्रवृत्ति, स्पृहा, सांसारिक संग्रह और भोगोंमें प्रियता आदि एवं तमोगुणके कार्य प्रमाद, आलस्य, अतिनिद्रा, मूढ़ता, जड़ता, अज्ञान, विपर्यय आदिको दबाकर सत्त्वगुण अन्तःकरणमें संतोष, त्याग, शान्ति, उदारता, उपरति, समता, निवृत्ति, निःस्पृहता, वैराग्य आदि सद्वृत्तियोंको उत्पन्न कर देता है।

च—और

तमः सत्त्वम् (अभिभूय) रजः—तमोगुण और सत्त्वगुणको क्षीण करके रजोगुण बढ़ता है।

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-GI

तमोगुणके कार्य प्रमाद, आलस्य, अतिनिद्रा आदि और सत्त्वगुणके कार्य वैराग्य आदि वृत्तियोंको दबाकर रजोगुण अन्तःकरणमें लोभ आदि वृत्तियाँ उत्पन्न कर देता है।

तथा एव—वैसे ही।

रजः सत्त्वम् (अभिभूय) तमः—रजोगुण और सत्त्वगुणको क्षीण करके तमोगुण बढ़ता है।

रजोगुणके कार्य लोभ आदि और सत्त्वगुणके कार्य वैराग्य आदि वृत्तियोंको दबाकर तमोगुण अन्तःकरणमें प्रमाद आदि वृत्तियाँ उत्पन्न कर देता है।

सम्बन्ध—

रजोगुण और तमोगुणको दबाकर सत्त्वगुण बढ़ता है। अब सत्त्वगुणकी वृद्धिके लक्षणोंका वर्णन किया जाता है।

श्लोक—

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद् विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥ ११ ॥

भावार्थ—

इस मानव-शरीरमें ही जिस कालमें सम्पूर्ण इन्द्रियों तथा अन्तःकरणमें स्वच्छता और प्रकाश होता है अर्थात् वे अपने-अपने विषयोंको समझनेमें समर्थ होती हैं एवं उनमें अपने-अपने विषयोंके तारतम्य या उनके गुण-दोष होनेका ज्ञान होता है, उस समय सत्त्वगुण बढ़ा है—ऐसा समझना चाहिये।

'यह द्रुत प्रगति न रुक जाय'—ऐसी इच्छा होनेसे साधक

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

अटक जायगा। दूसरे शब्दोंमें 'सत्त्वगुण बना रहे और इसमें वृद्धि भी हो'—यह इच्छा प्रगतिको अवरुद्ध करनेवाली है।

अन्वय—

अस्मिन्, देहे, यदा, सर्वद्वारेषु, प्रकाशः, ज्ञानम्, उपजायते, तदा, इति, विद्यात्, उत, सत्त्वम्, विवृद्धम् ॥ ११ ॥

पद-व्याख्या—

अस्मिन् देहे—इस (मनुष्य-) देहमें (ही)।

सत्त्वगुणकी विवेक आदि वृत्तियोंको विशेष रूपसे समृद्ध करनेका अवसर इस मनुष्य-शरीरमें ही मिलता है, अन्य शरीरोंमें नहीं। भगवान्‌ने तमोगुणसे बँधनेवालोंके लिये 'सर्वदेहिनाम्' (१४ । ८) पदका प्रयोग किया है; क्योंकि रजोगुण-तमोगुण तो अन्य शरीरोंमें भी बढ़ते हैं, जबकि सत्त्वगुण विशेष रूपसे मानव-शरीरमें ही बढ़ सकता है। अतः मानवको चाहिये कि रजोगुण और तमोगुणपर विजय प्राप्त कर सत्त्वगुणसे भी ऊपर उठे, अर्थात् गुणातीत होनेका प्रयत्न करे। इसीमें मानव-जीवनकी सफलता है। स्वर्गके शरीरोंमें तीनों गुणोंसे ऊपर उठनेकी योग्यता होनेपर भी भोगोंकी अधिकताके कारण उनमें भोग भोगनेकी प्रवृत्ति ही अधिक रहती है, जो रजोगुणका कार्य है। शूकर-कूकर आदि नीच योनियोंमें तमोगुणकी प्रधानता रहनेसे विवेकके लिये स्थान (सम्भावना) ही नहीं है। इसलिये इस मानव-शरीरमें जागरूक होनेकी विशेष आवश्यकता है, जिससे सत्त्वगुणकी वृत्तियोंका विकास हो, रजोगुण और तमोगुणका दमन कर हम सात्त्विक गुणकी वृत्तियोंमें भी न बँधें तथा गुणातीत अवस्थाको प्राप्त

CC-0. Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgac

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

करें। भगवान्‌ने कृपापूर्वक मानव-शरीर देकर इन तीनों गुणोंपर विजय प्राप्त करनेका पूरा अवसर दिया है।

यदा सर्वद्वारेषु प्रकाशः ज्ञानम् उपजायते—जिस कालमें अन्तःकरण और सम्पूर्ण इन्द्रियोंमें चेतनता और विवेकशक्ति उत्पन्न होती है।

सत्त्वगुणकी वृद्धिमें आलस्यका अभाव होकर अन्तःकरण और सम्पूर्ण इन्द्रियोंमें एक चेतनता प्रस्फुटित होती है, जिससे वे अपने-अपने विषयोंको ठीक-ठीक समझ सकते हैं, इसी चेतनताका नाम 'प्रकाश' है। ऐसे प्रकाशके उत्पन्न होनेपर तमोगुणके कार्य—निष्क्रियता, आलस्य, अतिनिद्रा आदि दोष दब जाते हैं तथा अन्तःकरणमें कर्तव्य-अकर्तव्य, नित्य-अनित्य, सत्य-असत्य और विहित-निषिद्ध आदिका यथार्थ विवेक प्रकट होता है। उस विवेकको जागृतिको 'ज्ञान' कहते हैं। विवेक प्रकट होनेपर सत्त्वगुणके कार्य त्याग, सन्तोष, शान्ति, निःस्पृहता, वैराग्य आदिको एवं रजोगुणके कार्य लोभ, कामना, अशान्ति, स्पृहा, सांसारिक संग्रह और भोगोंकी इच्छा आदिको दबा देता है तथा तमोगुणके कार्य प्रमादको विशेषतासे दबा देता है। ज्ञानके प्रकट होनेपर तमोगुणके कार्य अज्ञान, मूढ़ता, जड़ता, विपर्यय आदि दोषोंका अभाव हो जाता है। दुर्गुण-दुराचार मिटनेपर वह सत्त्वगुण प्रकट दीखने लगता है, जो दुर्गुण-दुराचारकी वृत्तियोंसे केवल ढक गया था।

तदा—उस कालमें;

इति विद्यात्—ऐसा जानना चाहिये।

*

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-Gra

सत्त्वगुणकी स्वच्छता, रजोगुणकी आसक्तियुक्त प्रवृत्ति और तमोगुणके प्रमाद, आलस्य, निद्रा आदिका बढ़ना तथा एक गुणकी प्रधानताके कारण दूसरे दो गुणोंका दबना आदि-आदि परिवर्तन गुणोंमें ही होते हैं। इस बातको मनुष्य-योनिमें ही ठीक तरहसे समझा जा सकता है। साथ ही गुणों और वृत्तियोंके परिवर्तनका वर्णन करनेका एक ऐसा आशय भी जान पड़ता है कि इस मनुष्य-शरीरको धारण करनेवाला वह तत्त्व अविनाशी, परिवर्तन-रहित एकरस रहता है। मनुष्य भगवान्‌के दिये हुए विवेक और भगवत्कृपासे प्राप्त अधिकारको भूल गुणों, गुणजन्य भावों और क्रियाओंके साथ अभिन्नता मानकर उनके सम्बन्धसे ही अपनेको सात्त्विक, राजस या तामस मानने लगता है। मनुष्यको चाहिये कि ऐसा न मानकर अपनेको सर्वथा निर्विकार, अपरिवर्तनशील और एकरस रहनेवाला तथा गुणोंके परिवर्तनका प्रकाशक जाने। भगवान् इस पदसे इसी भावका उद्‌घाटन करते हैं।

तीनों गुणोंकी वृत्तियाँ अलग-अलग बनती-बिगड़ती हैं, इसका सबको अनुभव है। 'स्वयं' परिवर्तनरहित यह जीवात्मा इन सब वृत्तियोंको देखता है। यदि यह स्वयं भी बदल जाता तो इन वृत्तियोंके बनने-बिगड़नेके परिवर्तनको कौन देखता? उपर्युक्त विवेचनसे यह सिद्ध हुआ कि परिवर्तनको परिवर्तनरहित (एकरस रहनेवाला) ही जान सकता है।

उत सत्त्वम् विवृद्धम्—कि सत्त्वगुण बढ़ा है।

सत्त्वगुणके बढ़नेपर रजोगुण, तमोगुणकी वृत्तियाँ सर्वथा शान्त रहती हैं। विशेष सावधानी रखते हुए सत्त्वगुणकी वृद्धिके समय

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri Sarayu Trust. Funding by MoE-Gurukul Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding JKS-MoE-G

मनुष्यको अपना अधिकाधिक समय परमार्थ-तत्त्वको जाननेमें ही लगाना चाहिये । ऐसे समयमें किये गये अल्प प्रयाससे भी शीघ्र ही महान् लाभ हो सकता है । अतः ऐसा अवसर प्राप्त होनेपर मनुष्यको सदैव विशेषरूपसे सावधानीपूर्वक भगवच्चिन्तन आदि परमार्थ-साधनमें लग जाना चाहिये ।

सम्बन्ध—

सत्त्वगुण और तमोगुणको दबाकर रजोगुण बढ़ता है । अब रजोगुण-वृद्धिके लक्षण बारहवें श्लोकमें बताये जाते हैं—

श्लोक—

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥ १२ ॥

भावार्थ—

भरतवंशमें श्रेष्ठ अर्जुन ! रजोगुणकी वृद्धि होनेपर अधिक धन प्राप्त करने और उसके संग्रहकी लिप्सा (इच्छा), कार्य करनेकी प्रवृत्ति, नये-नये कार्य करनेकी स्फुरणा, अशान्ति एवं अनेक प्रकारकी वस्तुओं, क्रियाओं और व्यक्तियोंकी आवश्यकताका अनुभव होना—ऐसी वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं ।

अन्वय—

भरतर्षभ ! रजसि, विवृद्धे, लोभः, प्रवृत्तिः, कर्मणाम्, आरम्भः अशमः, स्पृहा, एतानि, जायन्ते ॥ १२ ॥

पद-व्याख्या—

भरतर्षभ !—भरतवंशमें श्रेष्ठ अर्जुन !

रजसि विवृद्धे—रजोगुण अर्थात् राग, आसक्ति, कामना, आशा, तृष्णा आदिके बढ़नेपर ।

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

लोभः—लोभ ।

जिस वृत्तिके कारण मनुष्य अधिक धनोपार्जन और उसके संग्रहका संकल्प करता है, उस वृत्तिका नाम लोभ है । लोभ उत्पन्न होनेसे उचित अवसर प्राप्त होनेपर भी धनका व्यय नहीं करता एवं अन्यायपूर्वक अनुचित उपायोंके द्वारा भी धनका संचय कर लेता है । लोभ सत्त्वगुणकी वृत्ति —'त्याग'को दबा देता है ।

प्रवृत्तिः—प्रवृत्ति ।

नाना प्रकारके कर्म करनेके लिये अन्तःकरणमें जो आसक्तिपूर्वक भाव उत्पन्न होते हैं, वे 'प्रवृत्ति' नामसे कहे गये हैं । प्रवृत्ति तमोगुणके कार्य आलस्य या निष्क्रियता (अप्रवृत्ति) की विरोधिनी है ।

कर्मणामारम्भः—नये-नये कार्य आरम्भ करना ।

अशमः—हृदयमें क्षोभ, अशान्ति ।

रजोगुणके बढ़नेपर प्राप्त पदार्थोंमें ममता और उनके नाश न होनेकी इच्छा एवं अप्राप्त पदार्थोंकी कामना होती है । ऐसी कामना ही चित्तमें अशान्तिको जन्म देती है । सम्पूर्ण सांसारिक पदार्थ परिवर्तनशील और नाशवान् हैं, इसलिये उनमें ममता-वासना रखनेसे कोई शान्त कैसे रह सकता है ? मनुष्यकी सम्पूर्ण मनचाही कभी होती नहीं और मनचाही न होनेसे ही अशान्तिका जन्म होता है ।

स्पृहा—आवश्यकता (अभिलाषा) ।

किसी भी प्रकारके सांसारिक पदार्थोंको अपने लिये आवश्यक मानना स्पृहा है ।

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Delga

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-GI

एतानि जायन्ते—ऐसी वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं ।

इस श्लोकमें वर्णित रजोगुणके पाँचों कार्यों—लोभ, प्रवृत्ति, नये-नये कर्मोंमें लगना, अशान्ति और स्पृहाका इस पदमें समाहार किया गया है ।

सम्बन्ध—

पहले दो श्लोकोंमें सत्त्व और रजोगुणकी वृद्धिके लक्षण बताये गये हैं । अब सत्त्वगुण और रजोगुणको दबाकर तमोगुण कैसे बढ़ता है, इसका तथा तमोगुणकी वृद्धिके उन लक्षणोंका निरूपण किया जा रहा है—

श्लोक—

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥ १३ ॥

भावार्थ—

कुरुनन्दन ! तमोगुणके बढ़नेपर अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें अस्वच्छता, किसी कार्यको करनेका मन न होना, आवश्यक लौकिक, पारलौकिक कार्योंकी अवहेलना और न करने योग्य कार्य करना एवं मूढ़ता तथा विपरीत निर्णय करना इत्यादि वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं ।

अन्वय—

कुरुनन्दन ! तमसि, विवृद्धे, अप्रकाशः, अप्रवृत्तिः, च, प्रमादः, च, मोहः, एतानि, एव, जायन्ते ॥ १३ ॥

पद-व्याख्या—

कुरुनन्दन—कुरुवंशी अर्जुन !

तमसि विवृद्धे—तमोगुणके बढ़नेपर ।

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

सत्त्वगुण और रजोगुणके कार्योंको रोककर तमोगुणका अपने कार्यकी प्रबलता रखना ही उसका बढ़ना है । सत्त्वगुणके समय अन्तःकरण और इन्द्रियोंकी वृत्तिमें स्वच्छता और सावधानी रहती है । फिर सांसारिक स्फुरणा आदि रजोगुणके आनेपर यह स्वच्छता कुछ मलिन हो जाती है । तदुपरान्त आलस्य आदि तमोगुणके आ जानेसे यह स्वच्छता सर्वथा दब जाती है । तमोगुणके बढ़नेका यह क्रम है । उदाहरणार्थ, सत्सङ्ग सुनते समय (नींद आ जाय तब)पहले सांसारिक बातोंका चिन्तन होता है, फिर नींद या आलस्य आता है ।

तमोगुणकी वृत्तिको दूर करनेके लिये सीधे सत्त्वगुणसे सम्बन्ध जोड़नेकी अपेक्षा रजोगुण (क्रियाओं)से सम्बन्ध जोड़ना होगा । वही क्रिया (रजोगुण) अगर संसारकी तरफ होगी तो तमोगुणमें ले जायगी और परमात्माकी तरफ होगी तो सत्त्वगुणकी तरफ ले जायगी । जैसे, गाना-बजाना राजसी क्रिया है, जो भगवान्‌के लिये होगी तो सत्त्वगुणकी वृत्तियाँ पैदा होंगी और संसारके लिये होगी तो तमोगुणकी वृत्तियाँ पैदा होंगी ।

अप्रकाशः—इन्द्रियोंद्वारा अपने-अपने विषयोंको यथार्थतः न समझनेकी वृत्ति । यह वृत्ति प्रकाशको दबा देती है ।

अप्रवृत्तिः—किसी भी कार्यको करनेका मन न होना । केवल निरुद्देश्य लेटे-बैठे रहकर ही समय बितानेकी इच्छा करना । 'अभी नहीं, फिर कर लेंगे'—इस भावका उदय होना ।

अप्रवृत्तिको मिटानेके लिये प्रवृत्तिका आह्वान करना चाहिये । पहलेसे ही दृढ़ निश्चय करे कि मुझे 'अप्रवृत्ति'में समय लगाना

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

ही नहीं है । यह उद्देश्य पहलेसे ही बनाया हुआ होनेसे अप्रवृत्तिके समय याद आ सकता है । यदि याद नहीं आयेगा तो समय आलस्य आदिमें चला जायेगा, परंतु सावधानी होते ही पुनः पश्चात्ताप होगा ।* पश्चात्ताप (जलन)के सदुपयोगमें वह शक्ति है, जो इस स्वभावमें परिवर्तन ला देगी । इससे शीघ्र सुधार हो सकता है । बलपूर्वक यह निश्चय होना चाहिये कि अब 'अप्रवृत्ति'में समय बिताना ही नहीं है । उद्देश्यकी ढिलाई और सुखासक्तिके कारण इस निश्चयमें कमी आती है ।

च—और ।

प्रमादः—कर्तव्यकर्मकी अवहेलना अर्थात् कर्तव्यकर्म न करना और अकर्तव्यमें लगना । शरीर आदिद्वारा निरुद्देश्य चेष्टा करते रहना । यह (प्रमाद) सत्त्वगुणकी 'ज्ञान' वृत्तिका विरोधी है† ।

च—तथा (अनुक्त समुच्चय अर्थमें है ।)

---

* पश्चात्तापका दुरुपयोग और सदुपयोग दोनों हो सकते हैं । बीती हुई (भूतकालकी) गल्तीपर चिन्ता करना पश्चात्तापका मुख्य दुरुपयोग है, जिससे आगे पुनः वैसी गल्ती होती है; क्योंकि चिन्ता करनेसे वृत्तियोंका प्रवाह भूतकालकी गल्तीकी ओर हो जाता है । इसके विपरीत भविष्यमें पुनः यह गल्ती नहीं करूँगा—ऐसी सावधानी (दृढ़ निश्चय) रखना पश्चात्तापका मुख्य सदुपयोग है, जिससे आगे पुनः वैसी गल्ती होनेकी सम्भावना नहीं रहती; क्योंकि सावधानीसे वृत्तियोंका प्रवाह भविष्यमें गल्ती न करनेकी ओर हो जाता है । भूतकालके विचारसे तमोगुण एवं भविष्यके विचारसे सत्त्वगुण उत्पन्न होता है ।

† 'प्रमाद'की व्याख्या इसी अध्यायके ८वें श्लोकके अन्तर्गत देखिये ।

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

तमोगुणकी आलस्य और अज्ञानादि वृत्तियोंका (जिनका वर्णन इस श्लोकमें नहीं किया गया) समुच्चय इस पदसे किया गया है ।

मोहः—मूढ़ता ।

मोहके कारण विवेकका अभाव हो जानेसे मनुष्यपर मूढ़ता छा जाती है और वह कुमतिवश विपरीत निर्णय करने लगता है । तब वह कर्तव्यको अकर्तव्य, पवित्रको अपवित्र, नित्यको अनित्य, शुचिको अशुचि और हितको अहित मानने लगता है । (गीता १८ । ३२)

मनका मोहित हो जाना, किसी बातकी स्मृति न रहना, अतिनिद्रा, आलस्य आदिसे अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें चेतनाशक्तिका शिथिल हो जाना—यहाँ 'मोह' कहा गया है ।

तमोगुणके बढ़नेपर बुद्धिमें निश्चय ही विपरीत धारणा (मूढ़ता) आती है और उस समय मनुष्य सांसारिक और पारमार्थिक—दोनों ही प्रकारके कार्योंमें प्रमाद करता है । अतः तमोगुणकी उपर्युक्त वृत्तियोंमेंसे किसीका भी लक्षण अपनेमें दिखायी दे तो साधकको विशेषरूपसे सावधानी बरतनी चाहिये अर्थात् इनका शमन ही उसका कर्तव्य है ।

एतानि एव जायन्ते—ऐसी वृत्तियाँ भी पैदा होती हैं ।

इस श्लोकमें वर्णित तमोगुणकी चारों वृत्तियों—अप्रकाश, अप्रवृत्ति, प्रमाद और मोहका इन पदोंमें समाहार किया गया है ।

विशेष बात—सत्त्व, रज और तम—तीनों गुणोंकी वृत्तियाँ स्वाभाविक उत्पन्न, नष्ट तथा न्यूनाधिक होती रहती हैं । ये सभी

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-GI

परिवर्तनशील हैं। साधक इन वृत्तियोंके परिवर्तनका अपने जीवनमें अनुभव भी करता है—इससे यह सिद्ध होता है कि एक वस्तु परिवर्तनशील (बदलनेवाली) है और एक तत्त्व अपरिवर्तनशील (न बदलनेवाला) है। तीनों गुणोंकी वृत्तियाँ—प्रकाश, ज्ञान, लोभ, प्रवृत्ति, अशान्ति, स्पृहा, अप्रकाश, अप्रवृत्ति और मोह आदि सभी बदलनेवाली हैं और इनके परिवर्तनको जाननेवाले पुरुषमें कोई परिवर्तन नहीं होता है। तीनों गुणोंकी वृत्तियाँ दृश्य हैं और पुरुष इनको देखनेवाला होनेसे द्रष्टा है। द्रष्टा दृश्यसे सर्वथा भिन्न होता है—यह नियम है। दृश्यकी तरफ दृष्टि होनेसे ही द्रष्टा संज्ञा होती है। परन्तु दृश्यपर दृष्टि न रहनेपर द्रष्टा संज्ञारहित रहता है। भूल यह होती है कि दृश्यको अपनेमें आरोपितकर 'मैं कामी हूँ, 'मैं क्रोधी हूँ' आदि मान लेता है।

काम-क्रोधादि विकारोंसे सम्बन्ध जोड़कर उन्हें अपनेमें मान लेना उन विकारोंको निमन्त्रण देना है और उन्हें स्थायी बनाना है। मनुष्य भूलसे क्रोध आनेके समय क्रोधको उचित समझता है (कि यह तो सभीको आता है !) और अन्य समय 'मेरा क्रोधी स्वभाव है'—ऐसा भाव रखता है। इस प्रकार 'मैं क्रोधी हूँ' ऐसा मान लेनेसे अहंता परिवर्तित होकर वैसी ही बन जाती है। फिर क्रोधरूप विकारसे छूटना कठिन हो जाता है। यही कारण है कि साधक प्रयत्न करनेपर भी क्रोधादि विकारोंको दूर नहीं कर पाता, उनसे अपनी हार मान लेता है।

काम-क्रोधादि विकारोंको दूर करनेका मुख्य और सुगम उपाय है कि साधक इन्हें अपनेमें माने ही नहीं। वास्तवमें क्रोध निरन्तर

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

नहीं रहता; अपितु क्रोधसे रहित अवस्था निरन्तर रहती है। कारण कि क्रोधादि विकार आते और चले जाते हैं, पर स्वयं निरन्तर निर्विकार रहता है। क्रोधादि विकार भी अपनेमें नहीं, अपितु वृत्तियोंमें आते हैं। पर साधक वृत्तियोंसे तद्रूप होकर विकारोंको भूलसे अपनेमें मान लेते हैं। विकारोंको अपनेमें न माननेसे उनसे माना हुआ सम्बन्ध मिट जाता है। फिर विकारोंको दूर करना नहीं पड़ता; अपितु वे अपने-आप दूर हो जाते हैं। जैसे—क्रोधके आनेपर ऐसा विचार करे कि 'मैं' तो वही हूँ, मैं आने-जानेवाले क्रोधसे कैसे मिल गया?' ऐसा विचार दृढ़ होनेपर क्रोधका वेग कम हो जायगा और पहलेकी अपेक्षा कम बार आयेगा। फिर अन्तमें वह सर्वथा दूर हो जायगा।

भगवान् उपर्युक्त तीन श्लोकोंमें क्रमशः सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणकी वृद्धिके लक्षणोंका वर्णन करके साधकको सावधान करते हैं कि गुणोंके साथ अपना सम्बन्ध माननेसे ही गुणोंमें होनेवाली वृत्तियाँ उसे अपनेमें प्रतीत होती हैं, वस्तुतः साधकका इनसे किंचित् भी सम्बन्ध नहीं है। ये सभी वृत्तियाँ बदलती रहती हैं और स्वयं इन वृत्तियोंको देखनेवाला (गुणातीत) है। गुण एवं गुणोंकी वृत्तियाँ प्रकृतिका कार्य होनेसे परिवर्तनशील हैं और स्वयं 'पुरुष' परमात्माका अंश होनेसे अपरिवर्तनशील है। प्रकृति और पुरुष—दोनों विजातीय हैं। बदलनेवालेके साथ न बदलनेवालेका एकात्मभाव हो ही कैसे सकता है? इस वास्तविकताकी ओर ध्यान रखनेसे तमोगुण और रजोगुण दब जाते हैं तथा साधकमें सत्त्वगुणकी वृद्धि स्वतः होती है। सत्त्वगुणमें भोग-बुद्धि होनेसे

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-GI

अर्थात् उससे प्राप्त सुखमें राग होनेपर यह (सत्त्वगुण) भी गुणातीत होनेमें अवरोध उत्पन्न कर देता है । अतः जैसा कि पहले कहा जा चुका है, साधकको सत्त्वगुणसे उत्पन्न सुखका भी उपभोग नहीं करना चाहिये । सात्त्विक सुखका उपभोग करना रजोगुण-अंश है । रजोगुणमें राग बढ़नेपर रागमें बाधा देनेवालेके प्रति क्रोध पैदा होकर सम्मोह हो जाता है (२ । ६२-६३) और रागके अनुसार पदार्थ मिलनेपर लोभ पैदा होकर सम्मोह हो जाता है । इस प्रकार सम्मोह पैदा होनेसे वह रजोगुणसे तमोगुणमें चला जाता है और उसका पतन हो जाता है ।

सम्बन्ध—

तीनों गुणोंकी वृद्धिमें क्रमशः कौन-कौन-सी वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, यह विवेचन पिछले तीन (११, १२, १३) श्लोकोंमें किया गया है । अब सत्त्व, रज और तमोगुणकी तात्कालिक वृद्धिमें प्राण त्यागनेवालोंकी गतिका वर्णन अगले दो (१४, १५) श्लोकोंमें किया जाता है—

श्लोक—

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान् प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥
रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥ १५ ॥

भावार्थ—

जिस कालमें सत्त्वगुण बढ़ा हुआ हो, उस कालमें प्राणोंको त्यागनेवाला प्राणी उच्च और उत्तमवेत्ताओंके पवित्र लोकोंको

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

(जिन लोकोंमें पुण्य कर्मोंका अनुष्ठान करनेवाले जाते हैं*,) प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

जो रजोगुणके बढ़नेपर मृत्युको प्राप्त होता है, वह जीव कर्मोंमें आसक्तिवाले मनुष्योंमें जन्म लेता है तथा जो तमोगुण बढ़नेके समय मृत्युको प्राप्त होता है, वह शूकर-कूकर, कीट-पतङ्ग, साँप-बिच्छू-जैसी मूढ़ योनियोंमें जाता है ॥ १५ ॥

अन्वय—

यदा, सत्त्वे, प्रवृद्धे, देहभृत्, प्रलयम्, याति, तदा, तु, उत्तम-विदाम्, अमलान्, लोकान्, प्रतिपद्यते । रजसि, प्रलयम्, गत्वा, कर्म-सङ्गिषु, जायते, तथा, तमसि, प्रलीनः, मूढयोनिषु, जायते ॥ १४-१५ ॥

पद-व्याख्या—

यदा तु सत्त्वे प्रवृद्धे देहभृत् प्रलयं याति—जिस कालमें सत्त्वगुण बढ़ा हो, उस कालमें यदि मनुष्य प्राणोंको त्यागता है, (जिस समय स्थूल-शरीरका सूक्ष्म शरीर—इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदिसे वियोग होता है, उसी समयका बोध इस पदसे कराया जा रहा है ।) तो उसकी इन सात्त्विक वृत्तियोंके अनुसार गति होती है, किंतु जो पुरुष गुणातीत हो जाता है, उस गुणातीत पुरुषका गुणोंकी वृत्तियोंसे सम्बन्ध ही नहीं रहता । अतः वृत्तिके अनुसार

* पुण्यकर्मोंका अनुष्ठान करना द्रव्य और श्रमसाध्य है, सत्त्वगुण-प्रधान वृत्तियोंका अर्जन उतना कठिन नहीं; फिर भी सत्त्वगुणकी वृद्धिमें शरीर छोड़नेवाले जीव पुण्यात्माओंके प्राप्तव्य उच्च लोकोंमें जाते हैं। इसका तात्पर्य—गुणोंसे उत्पन्न होनेवाली वृत्ति कर्मकी अपेक्षा निर्बल नहीं है—ऐसा समझना चाहिये । सात्त्विकवृत्ति भी पुण्यकर्मोंके समान ही श्रेष्ठ है ।

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

गति न होनेसे उसके लिये फलाफलकी कोई बात ही नहीं उठ सकती।

तदा—उस कालमें।

तु—तो (वे)।

उत्तमविदाम् अमलान् लोकान् प्रतिपद्यते—उत्तम वेत्ताओंके निर्मल लोकोंको प्राप्त होते हैं।

वास्तवमें भगवान्‌के सम्मुख और संसारसे विमुख होनेवाला ही उत्तम वेत्ता है; पर यहाँ श्रुति, स्मृति आदि शास्त्रोंमें वर्णित कर्म और उपासना करनेवाले पुण्यात्माओंको भी 'उत्तमवित्' कहा गया है। ऐसे कर्म तथा उपासनावाले प्राणियोंको तो उच्चलोकोंमें जानेका अधिकार प्राप्त है ही, किंतु जो स्वाभाविक रूपसे जीवनपर्यन्त रजोगुण अथवा तमोगुणमें स्थित रहा हो, वह भी मरणकालमें सत्त्वगुणकी वृद्धि अर्थात् सत्सङ्ग, महापुरुषोंकी कृपा, तीर्थस्थल और शुद्ध वातावरणके प्रभावसे (जो इस जन्म अथवा पूर्वजन्मके अच्छे संस्कारोंके उदय होनेसे मिलते हैं) उत्तम वेत्ताओंके लोकोंको प्राप्त हो जाता है। इस दृष्टिसे शास्त्रविहित पुण्यकर्मोंमें भी भावका महत्त्व ही अधिक है, पुण्यकर्मविशेषका नहीं। इसलिये सात्त्विक भावका स्थान बहुत ऊँचा है। पदार्थ, क्रिया, भाव और उद्देश्य—ये चारों क्रमशः एक दूसरेसे ऊँचे होते हैं। रजोगुण और तमोगुणकी अपेक्षा सत्त्वगुणकी वृत्ति सूक्ष्म और व्यापक होती है। लोकमें भी स्थूलकी अपेक्षा सूक्ष्मका आहार कम होता है; जैसे देवता सूक्ष्म होनेसे केवल सुगन्धिसे ही तृप्त हो जाते हैं। हाँ, स्थूलकी अपेक्षा

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgac

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

सूक्ष्ममें शक्ति अवश्य अधिक होती है। यही कारण है कि सूक्ष्म-भावकी प्रधानतासे अन्त समयमें सत्त्वगुणकी वृद्धि मनुष्यको उच्च पुण्यवानोंके लोकोंमें ले जाती है।

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते—रजोगुणके बढ़नेपर (जो) प्राणोंका त्याग करता है, वह (कर्माधिकारी) मनुष्योंमें जन्म लेता है।

रजोगुणकी तात्कालिक वृद्धि होनेपर प्राणोंको त्यागनेवाले मनुष्योंको (चाहे वे तामसी स्वभाववाले अथवा सात्त्विक स्वभाववाले ही क्यों न हों) रजोगुणके प्रभावसे मनुष्यलोककी ही प्राप्ति होती है (जैसे कि सत्त्वगुणकी वृद्धिसे उच्चलोकोंकी प्राप्ति बतलायी गयी है)।

मनुष्यलोकमें मनुष्योंको सब प्रकारके शुभकर्म करनेका अधिकार है। मनुष्य-योनि ही कर्मयोनि है। अन्य योनियोंमें तो केवल प्रारब्धानुसार फलभोग ही होता है। अतः वे भोगयोनियाँ हैं।

मनुष्ययोनि 'कर्मसङ्गी' तो है, परंतु वास्तवमें साधनयोनि ही है—सत्सङ्ग, स्वाध्याय, सात्त्विक कर्म, जपादि करनेवाले साधक कर्मफलासक्ति कामनाके मिटानेसे परमात्माकी प्राप्तिके पात्र हो जाते हैं।

अहंता, ममतापूर्वक किये हुए कर्म मनुष्यको बाँधनेवाले होते हैं। कामनापूर्वक देवादिकी उपासनाद्वारा मनुष्य स्वर्गादिके श्रेष्ठ भोग प्राप्त कर सकता है। कर्म करनेका अधिकार बहुत ऊँचा और व्यापक (इष्ट, अनिष्ट, मिश्र—तीन प्रकारका) है तथा कर्मोंद्वारा,

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgac

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

ही फल प्राप्त किया जा सकता है। 'कर्मसङ्गी' पद इसी भावको व्यक्त करता है।

तथा—तथा (और)।

तमसि प्रलीनः मूढयोनिषु जायते—तमोगुणके बढ़नेपर प्राणोंका त्याग करनेवाला मूढ़योनियोंमें उत्पन्न होता है। तमोगुणकी तात्कालिक वृद्धिमें प्राण त्यागनेवाले सात्त्विक अथवा राजसी पुरुषोंको भी मूढ़योनियाँ प्राप्त होती हैं। ये योनियाँ दुःखप्रद होती हैं।

विशेष बात—सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणोंकी तात्कालिक वृद्धिके समय मरनेवाले प्राणी क्रमशः उत्तम तत्त्ववेत्ता पुरुषोंके लोकों, मनुष्ययोनि एवं मूढ़योनियोंको प्राप्त होते हैं और इन गुणोंमें स्वभावतः स्थित मनुष्योंको मृत्युके पश्चात् ऊर्ध्व, मध्य और अधोगति निश्चित रूपसे प्राप्त होती है (गीता १४। १८)। स्वाभाविकरूपसे तमोगुणमें स्थित मनुष्योंकी गतिके विषयमें 'अधो गच्छन्ति' कहा गया है, जब कि तमोगुणकी तात्कालिक वृद्धिमें मरनेवालोंके लिये 'मूढयोनिषु जायते' कहा है। तमोगुणी मनुष्योंके विषयमें उपर्युक्त दो प्रकारकी गतियोंके विधानमें विशेष तात्पर्य है। ऐसे मूढ़योनि और अधोगतिको प्राप्त होनेवाले दोनों प्रकारके ही प्राणियोंके नरकोंमें जानेकी आशङ्का रहती है।

नरक दो प्रकारके हैं—(१) योनिविशेष नरक 'आसुरीष्वेव योनिषु' (गीता १६। २०) और (२) स्थानविशेष नरक—'पतन्ति नरकेऽशुचौ' (गीता १६। १६)। योनिविशेष नरकमें उतना दुःख-संताप नहीं मिलता, जितना

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

स्थानविशेष नरकमें मिलता है । मूढ़योनिवाले प्राणी स्थानविशेष नरक—कुम्भीपाक, रौरवादिमें—(जिन नरकोंका विस्तृत वर्णन श्रीमद्भागवत, पञ्चम स्कन्धके छब्बीसवें अध्यायमें हुआ है) नहीं ले जाये जाते, किंतु सत्त्वगुणमें स्वभावतः स्थित होने एवं केवल मरणकालमें तमोगुणकी तात्कालिक वृद्धिके हो जानेसे मूढ़योनिमें जन्म तो प्राप्त करते हैं, पर उनमें पूर्वजन्मका विवेक बराबर बना रहता है; जैसे भरत मुनिको बना रहा (श्रीमद्भा० ५ । ८ । ९) ।

गति गुणोंके अनुसार होती है अथवा कर्मोंके अनुसार ? इस प्रश्नका समाधान यह है कि—भावी जन्म अन्त समयके प्रभावक गुणोंके अनुसार होता है (गीता १४ । १४, १५ । १८) और भावी जन्ममें होनेवाली सुख-दुःखकी परिस्थितियाँ कर्मोंके अनुसार आती हैं । इस बातका पुष्ट प्रमाण कई बार प्रत्यक्ष देखनेमें आता है कि मूढ़योनियोंमें उत्पन्न होनेवाले जीवोंको भी अनेक बार ऐसे सुख भोगनेकी सामग्री, साधन मिलते हैं, जो सामान्य मनुष्योंके लिये दुर्लभ होते हैं । पर यह भी ध्यान देनेकी बात है कि प्रायः अन्त समयकी वृत्ति पूर्वजन्म और वर्तमान जन्मके कर्मोंके अनुसार एवं तात्कालिक सङ्गके अनुसार होती है ।

[**विशेष बात**—इस प्रकरणमें एक बात यह भी विचारणीय है कि सत्त्व, रज और तम—तीनों गुणोंकी तात्कालिक वृद्धिमें प्राण त्यागनेवालोंकी गतियोंका वर्णन करनेमें भगवान्‌का ऐसा संकेत भी है कि परिवारमें अर्थात् जहाँ आप रहते हों, वहाँ किसी भी मरणासन्न प्राणीके पास सत्त्वगुणी और भगवत्सम्बन्धी वायुमण्डल

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Siddhanta eGangotri Trust. Funding by MoE-Gra

बनानेका हर सम्भव प्रयास करना चाहिये । जैसे गीता, रामायणादिका पाठ, भगवन्नाम-कीर्तनादि करने-कराने चाहिये, जिससे मरणासन्न प्राणीको भगवत्स्मृति बनी रहे । यह उस प्राणीकी अन्तिम और परम सेवा है * ।]

---

* यहाँ परमश्रद्धेय ब्रह्मलीन श्रीजयदयालजी गोयन्दकाद्वारा लिखित 'तत्त्व-चिन्तामणि' प्रथम भागमें 'मृत्यु-समयके उपचार' लेखसे कुछ प्रधान-प्रधान बातें सर्वसाधारणकी जानकारी-हेतु दी जा रही हैं । प्रायः इन बातोंको हम भूलते जा रहे हैं । (पूरा लेख उसी पुस्तकमें पढ़ना चाहिये ।)

(१) इस अवस्थामें गङ्गाजल और भगवान्‌को चढ़ा हुआ तुलसीदल देना अति उत्तम है, परंतु उसे निगलनेमें क्लेश होता हो तो तुलसीका पत्ता पीसकर गङ्गाजलमें मिलाकर पिला देना चाहिये ।

(२) रोगीके पास बैठकर घरका रोना नहीं रोना चाहिये और संसारकी बातें उसे याद नहीं दिलानी चाहिये··· ।

(३) डाक्टरी या जिसमें अपवित्र पदार्थोंका संयोग हो, ऐसी दवा न दें ।

(४) यदि रोगी भगवान्‌के साकार या निराकार किसी रूपका प्रेमी हो तो साकारवाले भक्तको भगवान्‌की छवि या मूर्ति दिखानी चाहिये और उसके रूप-लीला तथा प्रभावका वर्णन सुनाना चाहिये ।

(५) प्राण निकलनेके बाद भी कम-से-कम पंद्रह-बीस मिनटतक किसीको खबर न दें, क्योंकि प्रायः कई बार ऐसा भी होता है कि नाड़ी और हृदयगति बंद हो जानेपर भी शरीरमें प्राण रहते हैं, अतः भगवन्नाम-कीर्तन करते रहें, जिससे वहाँका वायुमण्डल सात्त्विक बना रहे । रोनेका हल्ला न हो; क्योंकि उस समयका रोना प्राणीके लिये अच्छा नहीं है ।

(६) शोक-चिह्न बारह दिनसे अधिक नहीं रखना चाहिये । (१२ दिनोंमें एवं उसके बाद सत्सङ्ग, कथा-कीर्तन, मन्दिर, तीर्थ आदि धार्मिक जगहोंपर जानेमें संकोच-लज्जा बिल्कुल नहीं करनी चाहिये । घरवालोंको

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgac

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

जो मनुष्य एकमात्र अपने कल्याणके उद्देश्यसे ही दूसरोंकी सेवा, भगवद्भजन, ध्यान, ईश्वर-चिन्तन और परमार्थ-विचार आदि करता है, उसकी मृत्यु चाहे किसी भी गुणकी वृद्धिके समयमें क्यों न हो, उसकी दुर्गति हो नहीं सकती (गीता ६ । ४०) ।

सम्बन्ध—

कर्मोंकी विभिन्नतामें मुख्य कारण गुणोंकी वृत्तियाँ हैं । वृत्तियाँ जैसी होंगी, वैसे ही कर्म होंगे । पिछले श्लोकोंमें यह वर्णन किया गया कि गुणोंके अनुसार ही जीवकी गति होती हैं, किंतु साधारण लोगोंकी यह मान्यता है कि गति और फलभोग कर्मानुसार ही होते हैं । अतः अब श्रीभगवान् सात्त्विक, राजस और तामस तीन प्रकारके कर्मोंका फल बतलाते हैं । तात्पर्य यह है कि गुणोंका वृत्तियोंसे और वृत्तियोंका कर्मोंसे परस्पर सम्बन्ध है ।

चाहिये कि विधवा माता, बहन, भौजाईको अपने साथ सत्सङ्गमें ले जायँ ।)

(७) मृतकके लिये शोक-सभा न कर अपनी सावधानीके लिये सभा करनी चाहिये । यह बात याद करनी चाहिये कि इसी प्रकार एक दिन हमारी भी मृत्यु होगी ।

(८) जीवन्मुक्त पुरुषकी मृत्युपर शोक न करें, ऐसा करना उनका अपमान करना है । (वस्तुतः शोक तो किसीकी भी मृत्युपर नहीं करना चाहिये ।)

(९) यदि मृतक व्यक्तिकी ज्यादा याद आती हो तो उसके निमित्त भगवन्नाम-जप, गीता-पाठ आदि करें और उस व्यक्तिको भगवान्‌के चरणोंमें बैठा देखें । समय-समयपर गरीब लोगोंके छोटे बच्चोंको मिठाई, कपड़े, खिलौने देने चाहिये, जिससे मृतक प्राणीकी याद आना बंद हो सकता है और इससे मृतक प्राणीको भी शान्ति मिलेगी ।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

श्लोक—

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्॥ १६॥

भावार्थ—

(महर्षियोंने) श्रेष्ठ कर्मका सात्त्विक (सुख और ज्ञानादि) निर्मल फल कहा है। राजस-कर्मका फल दुःख, अशान्ति और असंतोष तथा तामस-कर्मका फल अज्ञान और मूढ़ता कहा है।

वर्तमान जीवनमें कर्मोंके अनुसार स्फुरणा, प्रेरणा होती है और पूर्वजन्मके कर्मोंके फलरूप घटनाएँ अथवा परिस्थितियाँ आती हैं। उपर्युक्त श्लोकमें वर्णित 'फल'में मरणोपरान्त सत्त्व, रज, तम-गुणप्रधान कर्मोंसे मिलनेवाले फलके साथ ही पूर्वजन्मोंके कर्मोंका फल भी सम्मिलित मानना चाहिये।

अन्वय—

सुकृतस्य, कर्मणः, तु, सात्त्विकम्, निर्मलम्, फलम्, आहुः, रजसः, फलम्, दुःखम्, (आहुः), तमसः, फलम्, अज्ञानम्, (आहुः) ॥१६॥

पद-व्याख्या—

सुकृतस्य कर्मणः तु सात्त्विकम् निर्मलम् फलम् आहुः—महर्षियोंने श्रेष्ठ-कर्मका तो सात्त्विक निर्मल फल कहा है।

श्रेष्ठ (सात्त्विक) कर्मोंके* संस्कारोंसे जीवितावस्थामें अन्तः-करणमें सुख, ज्ञानादिके भाव एवं स्वच्छता, निर्मलताका उत्पन्न होना तथा मरणोपरान्त उच्च और निर्मल लोकोंकी प्राप्ति होती है, ये ही उन कर्मोंके सात्त्विक और निर्मल फल हैं।

---

* सात्त्विक कर्मोंका विवेचन गीता १८। २३वें श्लोकमें इस प्रकारसे हुआ है—

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgac

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

ध्यान देने योग्य बात यह है कि पहले भाव बनता है, फिर क्रिया होती है, उसके बाद कर्मोंके अनुसार भाव दृढ़ होता है। 'आहुः'का तात्पर्य सामान्यतः ऐसी प्रसिद्धिसे भी है। जन्म होता है—अन्तकालकी स्मृतिसे ('यं यं वापि स्मरन्' ८। ६) और स्मृति होती है भावसे; फिर जन्म होनेपर कर्मोंके अनुसार फलकी परिस्थिति मिलती है; जैसे—अन्तकालकी स्मृतिसे कोई कुत्तेकी योनिमें चला जाय तो वहाँ भी उसे सुख-सुविधा साधारण मनुष्यसे भी अच्छी मिल सकती है, दूसरी ओर मनुष्य होनेपर भी हो सकता है कि रोटी भी न मिले, अपितु मार पड़े[1]।

रजसः फलम् दुःखम् (आहुः)—राजस-कर्मका[2] फल दुःख कहा गया है।

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्। अफलप्रेप्सुना कर्म यत् तत् सात्त्विकमुच्यते॥

अर्थात्—'जो कर्म शास्त्रविधिसे नियत किया हुआ हो और कर्तापनके अभिमानसे रहित हो तथा फल न चाहनेवाले पुरुषद्वारा बिना राग-द्वेषके किया गया हो, वह सात्त्विक-कर्म कहा जाता है।'

१. क्वचित् पुमान् क्वचिच्च स्त्री क्वचिन्नोभयमन्धधीः।
देवो मनुष्यस्तिर्यग्वा यथाकर्मगुणं भवः॥
क्षुत्परीतो यथा दीनः सारमेयो गृहं गृहम्।
चरन् विन्दति यद्दिष्टं दण्डमोदनमेव वा॥
(श्रीमद्भा० ४। २९। २९-३०)

'इस प्रकार अपने कर्म और गुणोंके अनुसार देव, मनुष्य अथवा पशु-पक्षि-योनियोंमें जन्म लेकर वह अज्ञानान्ध जीव कभी पुरुष, कभी स्त्री और कभी नपुंसक होता है। जिस प्रकार बेचारा भूखसे व्याकुल कुत्ता दर-दर भटकता हुआ अपने प्रारब्धानुसार कहीं डंडा खाता है और कहीं भात, वैसे ही जीवात्मा भी अपने प्रारब्धानुसार फल पाता है।

२- राजस-कर्मका लक्षण—

RaiGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

राजस-कर्मोंकी सम्पन्नतामें शारीरिक सुखभोगकी इच्छाके कारण अधिक परिश्रमके रूपमें दुःख होता है, इतनी ही बात नहीं है, अपितु राजस-कर्मका फल भी दुःखका हेतु बनता है। राजस-कर्मोंके संस्कारानुसार जीवित अवस्थामें भी मनुष्योंके अन्तःकरणमें प्राणियों, पदार्थों और क्रियाओंमें आसक्ति रहनेसे बार-बार भोग, काम, क्रोध और लोभकी प्रवृत्तियाँ अर्थात् राजसभाव उत्पन्न होते रहते हैं, जिनसे मनमें क्षोभ होता है और परिणामतः संताप, अशान्ति तथा दुःखोंकी अनुभूति होती है। राजस-कर्मोंके संस्कारों एवं उनके वशीभूत होकर किये गये कर्मोंके अनुसार फल भोगनेके लिये बारंबार जन्म-मरण—**'पुनरपि जननं पुनरपि मरणम्'** होता रहता है। यह महान् दुःख है। वास्तवमें तो सुखका भ्रममात्र है, वस्तुतः सब दुःखरूप ही है—**'दुःखमेव सर्वं विवेकिनः'**। (पातञ्जलयोगदर्शन २। १५) दादकी खुजली और जलन दोनों बीमारीके ही रूप हैं। अतः दुःखोंका कारण महापापी रजोगुण ही है[1]।

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्॥
(गीता १८। २४)

'जो कर्म बहुत परिश्रमसे युक्त होता है तथा भोगोंको चाहनेवाले पुरुषद्वारा या अहंकारयुक्त पुरुषद्वारा किया जाता है, वह कर्म राजस कहा गया है।'

१. काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥
(गीता ३। ३७)

'गुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यह बहुत खानेवाला

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgac

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

तमसः फलम् अज्ञानम् (आहुः)—तामस-कर्मका फल अज्ञान कहा है ।

पूर्वकृत तामसकर्मोंके[1] संस्कारोंसे वर्तमान जीवनमें मूढ़ता होती है और इस मूढ़तासे किये गये कर्मोंका फल पापोंके रूपमें संचित होता है । मनुष्य-शरीर छूटनेके बाद स्थान-विशेष नरक (कुम्भीपाक आदि) एवं योनि-विशेष नरक (शूकर-कूकर, साँप-बिच्छू आदि योनियों)की प्राप्ति होती है ।

कर्म मुख्यतः दो प्रकारके होते हैं शुभ और अशुभ । ये दोनों ही कर्म फल और संस्कार देनेवाले होते हैं । संस्कारोंसे कार्य करनेकी योग्यता आती है और स्फुरणा भी होती है । फलसे भावी परिस्थिति अथवा घटनाका निर्माण होता है । संस्कार और (कर्म-) फल दोनों ही अपनी-अपनी जगह पृथक्-पृथक् महत्त्व रखते हैं । दोनोंमें अन्तर यही है कि संस्कार तो सत्सङ्ग, शास्त्रोंके स्वाध्याय और विचार आदिसे बदले जा सकते हैं, किंतु फल प्रारब्ध बनकर 'सुख-दुःख'की परिस्थिति पैदा कर ही देते हैं । साधकको

अर्थात् भोगोंसे कभी न अघानेवाला और बड़ा पापी है, इसको तू इस विषयमें वैरी जान ।'

१. तामस-कर्मके लक्षण—

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत् तत्तामसमुच्यते ॥
(गीता १८ । २५)

'जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और सामर्थ्यको न विचारकर केवल अज्ञानसे आरम्भ किया जाता है—वह तामस कहा जाता है ।'

Rai Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding: IKS-MoE-Gra

विशेष ध्यान देना चाहिये कि अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियाँ तो प्रारब्धानुसार आयेंगी ही, परंतु उन परिस्थितियोंसे सुखी-दुःखी होनेमें केवल अज्ञान ही कारण है; क्योंकि सभी कर्म बाह्य (व्यक्ति, पदार्थ, देश, कालादिके) संघटनसे होते हैं; अतः ये कर्म बाह्य परिस्थिति ही बना सकते हैं । आपमें हलचल कर दें, यह प्रारब्धके हाथकी बात नहीं है । अतः अनुकूल और प्रतिकूल दोनों परिस्थितियोंका सदुपयोग कर सुख-दुःखसे ऊपर उठना साधकका काम है । अपने उद्धार (कल्याण)की उत्कट जिज्ञासा होनेपर प्रारब्ध-कर्म बाधा डाल ही नहीं सकते; क्योंकि मनुष्य-जन्म इसी कार्य (आत्म-कल्याण) के लिये मिला है ।

प्रारब्ध एवं संचितके पुराने संस्कार होते हैं और क्रियमाणके (इस जन्मके) नये संस्कार होते हैं । फल तो मुख्यतः प्रारब्धानुसार ही होता है । वर्तमानमें जो क्रियमाण कर्म कर रहे हैं, उनका (अर्थात् सकामभावसे किये गये शुभ कर्मानुष्ठानका शुभ फल और उग्र पाप—अन्यायका अशुभ कर्मफल प्रारब्ध बनकर उसके अनुसार) इस जन्ममें भी फल मिल सकता है । अधिकांश क्रियमाण-कर्म जन्म-जन्मान्तरोंके कर्मोंके पुञ्ज (संचित)में जुड़ जाते हैं, जिनका फल प्रारब्ध बनकर भावी जन्म मिलनेपर भोगना पड़ता है । मनुष्य-शरीरमें भी यह फल भोगे जाते हैं, किंतु मनुष्यमें परमात्माने कृपाकर यह एक विशेषता दी है कि वह चाहे तो अपने प्रारब्धका सदुपयोग करके अर्थात् प्रारब्धको साधन-सामग्री बनाकर मुक्त हो सकता है । जैसे प्रारब्ध-कर्मसे दुःखकी परिस्थिति आनेपर—'मुझे सुख कैसे मिले'—इस इच्छाका त्याग करना चाहिये और सोचना चाहिये कि

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

दुःखसे पाप नष्ट होकर शुद्धता हो रही है तथा पुनः ऐसा पाप नहीं करना है—यह चेतानेके लिये ही दुःखकी परिस्थिति आयी है। अनुकूल परिस्थितिमें सुख-भोग न करके निष्कामभावसे दूसरोंकी सेवा करनी चाहिये, जिससे दुःख-सुखसे मुक्त हो सकते हैं। कर्मके अनुसार गुण अर्थात् भाव होता है और जैसा गुण होता है, वैसी ही वृत्ति तथा वृत्तिके अनुसार कर्म बनता है। इसलिये ये (गुण-कर्म) एक-दूसरेपर आश्रित हैं।

कर्म करनेकी स्फुरणा संचित, क्रियमाण और प्रारब्ध—तीनों प्रकारके कर्मोंसे होती है। संचित और क्रियमाण-कर्मोंसे होनेवाली स्फुरणाएँ आती और चली जाती हैं। ऐसी स्फुरणाएँ प्रायः कर्मोंमें प्रवृत्त नहीं करतीं एवं फल भी उत्पन्न नहीं करतीं। हाँ, कहीं-कहीं सङ्ग, विचार, परिस्थिति आदि स्फुरणाके अनुकूल होनेसे प्रवृत्ति भी हो सकती है। प्रारब्ध-कर्मसे होनेवाली स्फुरणाएँ बार-बार आती ही रहती हैं और वे मनुष्यको फल भोगनेके लिये बाध्य करती हैं। मनुष्य उसके अनुसार कर्म करे, तो उसे प्रारब्धके अनुसार फल मिलता है। जबतक मनुष्य कर्म नहीं करता तथा उसे प्रारब्धका फल (अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितिके रूपमें) नहीं मिल जाता, तबतक वे स्फुरणाएँ समाप्त नहीं होतीं।

विशेष बात—भगवान् परम कृपालु हैं। वे जीवका कल्याण चाहते हैं। अतः उन्होंने इस प्रकरणमें गुणोंके साथ गुणजन्य कर्मोंके फलोंका यथातथ्य विवेचन किया है। भगवान् यही बतलाना चाहते हैं कि मूलमें जीवकी भूल कहाँ हुई है, इस तरफ वह ध्यान दे तो

RaiGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding: IKS-MoE-Gr

सदाके लिये कर्तापनसे होनेवाले दुःख, संतापसे छुटकारा पा जाय। वास्तवमें कर्म तो आचरित होते हैं प्रकृतिजन्य गुणोंद्वारा, किंतु मनुष्य भूलसे उन कर्मोंके साथ अपना सम्बन्ध जोड़कर अपनेको ही कर्ता मान लेता है*। अतः साधकको सावधान रहना चाहिये कि कर्मोंके साथ अपना नया सम्बन्ध न जोड़े और वह जो वास्तवमें अकर्ता है, उसीका अनुभव करे।†

सम्बन्ध—

गुणोंसे वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं और उन्हींसे गुणोंकी पहचान होती है। (इसी अध्यायके) ग्यारह, बारह और तेरहवें श्लोकों

---

*—प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥
(गीता ३। २७)

'वास्तवमें सम्पूर्ण कर्म सब प्रकारसे प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये जाते हैं, किंतु अहंकारसे मोहित अन्तःकरणवाला अज्ञानी 'मैं कर्ता हूँ'—ऐसा मानता है।'

†-नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन् स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन् गच्छन् स्वपञ्श्वसन्॥
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन् निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥
(गीता ५। ८-९)

किंतु 'तत्त्वको जाननेवाला सांख्ययोगी तो देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, भोजन करता हुआ, गमन करता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ तथा आँखोंको खोलता और मूँदता हुआ भी, सब इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थोंमें बरत रही हैं—इस प्रकार समझकर निःसंदेह ऐसा माने कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ।'

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding: IKS-MoE-Gran

द्वारा वृत्तियोंके प्रकरणका जो उपक्रम किया था, उन्हींका उपसंहार करते हुए अब तीनों (सत्त्व, रज और तम) गुणोंकी मुख्य वृत्तियोंका अगले श्लोकमें विवेचन करते हुए कारण बतलाया जा रहा है—

श्लोक—

सत्त्वात् संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ १७ ॥

भावार्थ—

सत्त्वगुणसे ज्ञान (जिसमें सांसारिक और पारमार्थिक दोनों ज्ञान सम्मिलित हैं) उत्पन्न होता है। रजोगुणसे निःसंदेह लोभ उत्पन्न होता है। (विधि-निषेधमें संदेह होना रजोगुणका काम है।) तमोगुणसे प्रमाद और मोह उत्पन्न होते हैं। अज्ञान अर्थात् कर्तव्य-अकर्तव्य, हेय-उपादेय, विधि-निषेध आदिका विपरीत ज्ञान कराना भी तमोगुणका ही कार्य है।

अन्वय—

सत्त्वात्, ज्ञानम्, संजायते, च, रजसः, एव, लोभः, च, तमसः, प्रमादमोहौ, भवतः, अज्ञानम्, एव ॥ १७ ॥

पद-व्याख्या—

सत्त्वात् ज्ञानम् संजायते—सत्त्वगुणसे ज्ञान उत्पन्न होता है। यद्यपि यहाँ सत्त्वगुणसे उत्पन्न मुख्य वृत्तिके रूपमें ज्ञानका ही वर्णन हुआ है, किंतु 'ज्ञान' पदसे सत्त्वगुणसे उत्पन्न होनेवाली अन्य सभी वृत्तियाँ जैसे—त्याग, वैराग्य, शान्ति, उदारता, समता, मनकी

CC-0. RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding by MoE-Gra

प्रसन्नता, प्रकाश, प्रीति, निर्मलता, उत्साह और धैर्य आदिका होना भी मानना चाहिये।

च—और

रजसः एव लोभः—रजोगुणसे निःसंदेह लोभ उत्पन्न होता है।

रजोगुणसे उत्पन्न होनेवाले 'लोभ'से भी उस (रजोगुण) की सभी वृत्तियोंका होना मान लेना चाहिये। जैसे—आसक्ति, कामना, तृष्णा, ममता, स्वार्थपूर्ण प्रवृत्ति, अशान्ति, स्पृहा, सांसारिक संग्रह और भोगमें लिप्सा आदि। रजोगुणकी इन वृत्तियोंमें प्रधानतः लोभ-वृत्तिका संकेत करनेका यह तात्पर्य है कि मनुष्यका व्यक्ति-पदार्थादिकी तरफ जो आकर्षण होता है, वह रजोगुणका ही मुख्य कार्य है; क्योंकि **'रजो रागात्मकं विद्धि'** रजको रागरूप कहा गया है।

च—तथा

तमसः प्रमादमोहौ भवतः अज्ञानम् एव—तमोगुणसे प्रमाद और मोह (उत्पन्न) होते हैं (और) अज्ञान भी (होता) है।

अज्ञानसे बुद्धिमें जड़ता आती है, जिससे प्रमाद, आलस्य, निद्रा, भ्रम, विपरीत निश्चय, शरीरको ही अपना स्वरूप मानना, अकरणीय कार्योंको करना और कर्तव्य कर्मोंका न करना आदि वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं।

सम्बन्ध—

(इसी अध्यायके) पाँचवें श्लोकसे सत्रहवें श्लोकतक जिन गुणोंका विस्तृत विवेचन किया गया, उन्हीं गुणोंमें प्रधान रूपसे

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS MoE-Grant

स्थित पुरुषोंकी गतिका वर्णन कर आगे अठारहवें श्लोकमें गुणोंके विषयका उपसंहार करते हैं—

श्लोक—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥ १८ ॥

भावार्थ—

गुणोंकी तात्कालिक वृद्धिमें मरनेवाले पुरुषोंकी गतिका वर्णन इसी अध्यायके चौदहवें और पंद्रहवें श्लोकोंमें किया जा चुका है, जिन पुरुषोंकी सत्त्वादि गुणोंमें प्रधान स्थिति है, मरणोपरान्त उनकी गतिका निरूपण इस प्रकार किया गया है ।

सत्त्वगुणकी वृत्तियोंमें स्थित पुरुष ऊर्ध्वलोकोंको जाते हैं, रजोगुणमें स्थित पुरुष मरनेके बाद मनुष्यलोकमें ही रहते हैं और तमोगुणकी (प्रमाद, मोह, अज्ञानादि) वृत्तियोंमें प्रधानतः स्थित पुरुष (तमोगुणी) पशु, पक्षी आदि मूढ़योनियों और नरकोंको प्राप्त होते हैं ।

अन्वय—

सत्त्वस्थाः, ऊर्ध्वम्, गच्छन्ति, राजसाः, मध्ये, तिष्ठन्ति, जघन्यगुणवृत्तिस्थाः, तामसाः, अधः, गच्छन्ति ॥ १८ ॥

पद-व्याख्या—

सत्त्वस्थाः ऊर्ध्वम् गच्छन्ति—सत्त्वगुणमें स्थित पुरुष ऊर्ध्वलोकोंको जाते हैं । ऊर्ध्वगतिके दो भेद हैं ।[1] जिन सत्त्वगुणी पुरुषोंमें

---

१. ऊर्ध्वलोकोंमें जानेवालोंकी गतियोंका वर्णन गीतामें दो प्रकारसे हुआ है—प्रथम जो सर्वथा सत्त्वगुणमें स्थित रहते हैं, वे ऊर्ध्वलोकोंसे वापस लौटकर नहीं आते । ऐसे पुरुषोंके विषयमें कहा है कि 'यं प्राप्य

RaiGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

. In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding by MoE-Gra

न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम' (गीता ८ । २१) 'जिस सनातन अव्यक्त भावको प्राप्त होकर मनुष्य वापस नहीं आते, वह मेरा परमधाम है, (जैसा कि गीता ८ । २४वें श्लोकमें कहा है—) अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् । तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥ 'जिस मार्गमें ज्योतिर्मय अग्नि अभिमानी, दिनका अभिमानी, शुक्ल-पक्षका अभिमानी और उत्तरायणके छः महीनोंका अभिमानी देवता है, उस मार्गमें मरकर गये हुए ब्रह्मवेत्ता योगिजन उपर्युक्त देवताओंद्वारा क्रमसे ले जाये जाकर ब्रह्मको प्राप्त होते हैं और 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते' (गीता १५ । ६)—'जिस परम पदको प्राप्त होकर मनुष्य लौटकर संसारमें नहीं आते ।'

दूसरी गतिके लोग वे हैं—जो ऊर्ध्वलोकोंमें जाकर वापस लौट आते हैं । उनका वर्णन दो प्रकारसे हुआ है । इनमें प्रथम वे पुरुष हैं, जो सकाम कर्म करते हैं—'त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा'''। गतागतं कामकामा लभन्ते ॥ (गीता ९ । २०-२१) अर्थात् 'तीनों वेदोंमें विधान किये हुए सकाम कर्मोंको करनेवाले, सोमरसको पीनेवाले, स्वर्ग-प्राप्तिके प्रतिबन्धक पापोंसे रहित पुरुष मुझको यज्ञोंके द्वारा पूजकर स्वर्गकी प्राप्ति चाहते हैं, वे पुरुष अपने पुण्योंके फलस्वरूप स्वर्गलोकको प्राप्तकर स्वर्गके दिव्य देवताओंके भोगोंको भोगते हैं और उस विशाल स्वर्गलोकको भोगकर स्वर्गमें भोगे जानेवाले पुण्य क्षीण होनेपर मृत्युलोकको प्राप्त होते हैं । इस प्रकार स्वर्गके साधनरूप तीनों वेदोंमें कहे हुए सकाम कर्मका आश्रय लेनेवाले और भोगोंकी कामनावाले पुरुष बार-बार आवागमनको प्राप्त होते हैं, अर्थात् पुण्यके प्रभावसे स्वर्गमें जाते हैं और पुण्योंके क्षीण होनेपर मृत्युलोकमें आ जाते हैं ।' ऐसे सकामी पुरुषोंको जो केवल स्वर्गको ही श्रेष्ठ मानते हैं, उन्हें भगवान्‌ने गीताके दूसरे अध्याय श्लोक बयालीसवेंमें अज्ञानी (अविपश्चित्) कहा है, क्योंकि वे 'कामात्मानः स्वर्गपराः' और 'भोगैश्वर्यप्रसक्ताः' हैं । इसी प्रकार भगवान्‌ने आठवें अध्यायके पचीसवें श्लोकमें कहा है—'धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् । तत्र

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

रजोगुणका मिश्रण है, वे सत्त्वगुणके प्रभावसे स्वर्गादि उच्च लोकोंको जाते हैं। वहाँ जाकर उन्हें मृत्युलोकमें लौटना पड़ता है। योगभ्रष्ट पुरुष भी जो सात्त्विक रुचि, सात्त्विक कर्म और सात्त्विक स्थितिमें प्रीति रखनेवाले हैं, उन्हीं उच्चलोकोंको प्राप्त करते हैं। मुख्यतासे सत्त्वगुण होनेपर कभी-कभी गौणरूपमें राजसी-तामसी वृत्तियाँ भी रहती हैं; किंतु सत्त्वगुणकी प्रधानता होनेसे इन गुणोंका प्रभाव नहीं होता। ऊर्ध्वलोकोंसे वापस लौटनेवालोंका सकामभाव (रजोगुण) जैसे-जैसे मिटता जाता है, वैसे-वैसे ही वे पुनः परमार्थ-पथपर अग्रसर होते जाते हैं।

सत्त्वगुणकी स्थितिमें मरनेपर ऊर्ध्वगति ब्रह्मलोकतक हो सकती है। ब्रह्मलोकमें जानेवाले पुरुष दो प्रकारके होते हैं—(१) क्रम-मुक्तिवाले, जो अधिक-से-अधिक महाप्रलयतक ब्रह्मलोकमें

चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥' जिस मार्गमें धूमाभिमानी, रात्रि-अभिमानी तथा कृष्णपक्षका अभिमानी और दक्षिणायनके छः महीनोंका अभिमानी देवता है, उस मार्गमें मरकर गया हुआ सकाम कर्म करनेवाला योगी उपर्युक्त देवताओंद्वारा क्रमसे ले जाया गया चन्द्रमाकी ज्योतिको प्राप्त होकर स्वर्गमें अपने शुभकर्मोंका फल भोगकर वापस आ जाता है।

दूसरी गतिके दूसरे पुरुष वे हैं, जो योगसे विचलित होकर प्राण छोड़ते हैं। वे भी स्वर्गादि पवित्र लोकोंमें जाकर शुद्ध आचरणवाले श्रीमानोंके घर जन्म लेते हैं, जिनका वर्णन गीता (६। ४१) में हुआ है। योगभ्रष्ट भी दो प्रकारके होते हैं—(१) जिनमें शास्त्रों या संतोंसे उपदेश श्रवणकर वैराग्य होता है, किंतु जिनके अन्तःकरणमें सुखेच्छा रहती है, वे योगभ्रष्ट स्वर्गादि लोकोंमें जाकर पुनः लौट आते हैं (६। ४१) (२) जिनको स्वतः तीव्र वैराग्य होता है, वे योगभ्रष्ट किसी लोक-विशेषमें न जाकर यहाँ योगियोंके कुलमें जन्म लेकर योग पूरा करते हैं (६। ४२)।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

रहनेके पश्चात् ब्रह्माजीके साथ ब्रह्ममें लीन हो जाते हैं। ऐसे महापुरुष लौटकर नहीं आते—'न निवर्तन्ते'। (२) भोगोंकी इच्छावाले, जो ब्रह्मलोकके सुख-भोगकर वापस मृत्युलोकमें आ जाते हैं (८। १६)। यही कारण है कि सकाम कर्मोंके फलस्वरूप वे बार-बार जनमते-मरते हैं।

जो साधक परम तत्त्वके लिये साधन कर रहा है, वह यदि साधन-कालमें ही योगसे विचलित होकर प्राण छोड़ता है तो सुखेच्छा रहनेके कारण स्वर्गादि पुण्यलोकोंमें जाकर पुनः अधूरा योग पूरा करनेके लिये लौट आता है (६। ४१)। यद्यपि सकाम कर्म करनेवाले तथा योगभ्रष्ट साधक—इन दोनोंका ऊर्ध्वलोक मार्ग एक ही है, फिर भी योगभ्रष्टका उद्देश्य तत्त्वकी प्राप्ति होनेसे सकाम पुरुषोंसे वह कितना ही श्रेष्ठ है।

राजसाः मध्ये तिष्ठन्ति—(सत्त्वगुणमिश्रित) रजोगुणमें स्थित राजसपुरुष मध्यलोकमें (ही) रहते हैं।

रजोगुणी पुरुष वे हैं, जो पाप करना नहीं चाहते और व्यर्थ आचरण भी नहीं करते; किंतु आसक्तिके रहनेसे जिनकी पाप एवं व्यर्थ आचरणोंमें लग जानेकी आशङ्का रहती है। मध्यलोकमें आसक्ति, कामनाके कारण पाप, पुण्य दोनों बनते रहते हैं; अतः दुःख-सुख दोनों भोगने पड़ते हैं। केवल कामनापूर्वक शुभ-कर्मोंमें ही लगे रहते हैं अर्थात् सकामभावसे शास्त्रीय कर्म करते हैं, उनके मनमें भी संग्रह करने और सुख भोगनेके भाव रहते हैं। इसलिये शास्त्रीय सकाम अनुष्ठान करनेवालोंकी भी राजसी वृत्ति बनी रहती है। ऐसी राजसी वृत्तिवाले पुरुष मरनेके बाद पुनः मध्यलोक

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

(मनुष्यलोक) में आते हैं। सकामकर्मी (सत्त्वगुणमिश्रित रजोगुणी) एवं योगभ्रष्ट साधक (रजोमिश्रित सत्त्वगुणी) भी स्वर्गादिसे लौटकर पुनः मनुष्यलोकमें आते हैं, जिनका वर्णन पहले हो चुका है।

जघन्यगुणवृत्तिस्थाः तामसाः अधः गच्छन्ति—तमोगुणके कार्य—प्रमाद आदिमें स्थित (रजोगुणमिश्रित) तमोगुणी पुरुष अधोगतिको प्राप्त होते हैं।

प्रमाद, आलस्य, मूढ़ता, जडता, अविवेक, अप्रवृत्ति आदि निन्दनीय वृत्तियोंमें स्थित एवं शरीर और धन-सम्पत्ति ही सब कुछ है, ऐसे निश्चयवाले पुरुष (रजोगुणमिश्रित) तमोगुणी कहलाते हैं। इन तमोगुणी वृत्तिवालोंको अधोगतिमें जाना पड़ता है।

ऊर्ध्वगतिकी तरह अधोगतिके भी दो भेद हैं* । एक योनिविशेष नरकमें जन्म होना—जैसे शूकर, कूकर आदि और दूसरा स्थान-विशेष (रौरवादि) नरकमें जाना—जहाँ भोगायतन शरीरसे पापोंका फल भोगाया जाता है। [रौरव, कुम्भीपाक आदि स्थानविशेष नरकोंका श्रीमद्भागवतके पाँचवें स्कन्धके छब्बीसवें अध्यायमें विस्तृत वर्णन हुआ है।]

विशेष बात—गुणोंके सङ्गके अनुसार ही गति होती है, अर्थात् मरणकालमें जिस गुणमें स्थिति होती है, उसीकी वृत्तिके

---

* ऊर्ध्वगतिके दो, मध्यगतिका एक और अधोगतिके दो भेद हैं। इस प्रकार कुल पाँच प्रकारकी गतियोंका वर्णन हुआ है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें दो विषयोंका विशेष रूप और विस्तारसे विचार किया गया है। एक तो साधन (निर्गुण, सगुणादि उपासना)का और दूसरा जीवोंकी अन्तकालमें क्या दशा होती है उस गतिका।

Ra Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

अनुसार पुरुषकी गति (ऊँच, नीच, मध्य योनियोंमें) होती है। कर्मके अनुसार गति कहनेका तात्पर्य है—गुणोंके अनुसार गतिका होना; क्योंकि गुणोंकी वृत्तियोंके अनुसार ही कर्म होते हैं। अन्त समयकी स्मृतिके अनुसार गति होनेका भी वही तात्पर्य है—गुणोंके अनुसार गति। गुणोंकी वृत्तियोंके अनुसार जैसा सहायक—निमित्त* मिलता है, वैसी स्मृति बन जाती है। अतः तेरहवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें गुणोंके सङ्गसे जो गति बतलायी है, वही गति चौदहवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें कर्मोंके फलस्वरूप बतलायी गयी है और उसी गतिके विषयमें आठवें अध्यायके छठे श्लोकमें भी अन्त समयकी स्मृतिके अनुसार फल कहा गया है। उपर्युक्त तीनों श्लोकोंका तात्पर्य गुणोंके अनुसार गति बतलानेमें ही है।

भावी जन्म होनेमें अन्त समयका चिन्तन प्रधान कारण होता है (गीता ८। ६)। अतः भगवान्‌ने—'सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर'—नित्य-निरन्तर मेरा स्मरण कर, ऐसी आज्ञा दी है (गीता ८। ७)। जीवनका कौन-सा अन्तिम क्षण होगा, यह क्या पता ? इसलिये

* आगमोऽपः प्रजा देशः कालः कर्म च जन्म च।
ध्यानं मन्त्रोऽथ संस्कारो दशैते गुणहेतवः॥
(श्रीमद्भा० ११। १३। ४)

शास्त्र, जल, जनता, देश, काल, कर्म, योनि, चिन्तन, मन्त्र और संस्कार—ये दस गुणोंके हेतु हैं अर्थात् गुणोंको बढ़ानेवाले हैं। अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त पदार्थ और व्यक्तिविशेष जिस गुणसे युक्त होते हैं, उनका सङ्ग उसी गुणको बढ़ा देता है। अतः उपर्युक्त रजोगुणी-तमोगुणी शास्त्रादिका सेवन नहीं करना है यह सावधानी रहनी चाहिये।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

प्रतिक्षण प्रभुका स्मरण-चिन्तन होना चाहिये। अब परमात्मासे किसी भी प्रकारका सम्बन्ध (निरन्तर) मान लेनेपर कल्याण होनेमें कोई संदेह नहीं रहता। स्वयं भगवान्‌ने श्रीमुखसे कहा है—

मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥
(गीता ८ । १६)

कुन्तीपुत्र ! मुझको प्राप्त कर लेनेपर (साधकका) पुनर्जन्म नहीं होता।

सम्बन्ध—

इसी अध्यायके पहले श्लोकमें भगवान्‌ने 'परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्' पदोंसे जिस सर्वश्रेष्ठ ज्ञानको पुनः भलीभाँति कहनेकी प्रतिज्ञा की थी; उस ज्ञानकी भूमिकामें पाँचवेंसे अठारहवें श्लोकतक प्रकृतिके कार्य गुणोंका परिचय देकर अब अगले दो (उन्नीसवें और बीसवें) श्लोकोंमें स्वयंको तीनों गुणोंसे अतीत अनुभव करनेरूप ज्ञानका वर्णन करते हैं।

इसी अध्यायके पाँचवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा है कि तीनों गुण ही 'अविनाशी देहीको बाँधते हैं। इन गुणोंके बन्धनसे छूटनेपर ही जीवका कल्याण हो जाता है।' अतः उन्नीस और बीस—दो श्लोकोंमें भगवान् गुणातीत होनेके उपाय और उसके फलस्वरूप अमरताकी प्राप्तिका कथन करते हैं।

श्लोक—

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥१९॥

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

भावार्थ—

जिस समय विवेकी पुरुष तीनों गुणोंके सिवा अन्य किसीको कर्ता नहीं देखता अर्थात् परमात्माके प्रकाश-ज्ञानसे ही सात्त्विक, राजस और तामस वृत्तियाँ प्रकाशित हो रही हैं, गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं या सम्पूर्ण क्रियाएँ गुणोंमें हो रही हैं, इनसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं—इस प्रकार अपने आपको तीनों गुणोंसे सर्वथा असम्बद्ध और निर्लिप्त जानता है तथा तीनों गुणोंसे अत्यन्त परे सच्चिदानन्दघनस्वरूप मुझ परमात्माको तत्त्वसे जानता है, उस समय वह अर्थात् समष्टि चेतनमें एकीभावसे स्थित हुआ साधक पुरुष मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है ।

अन्वय—

यदा, द्रष्टा, गुणेभ्यः, अन्यम्, कर्तारम्, न, अनुपश्यति, च, गुणेभ्यः, परम्, वेत्ति, सः, मद्भावम्, अधिगच्छति ॥ १९ ॥

पद-व्याख्या—

यदा—जिस समय ।

उस समय—जब कि साधक मनुष्य सावधानी-अवस्थामें शरीरके साथ अपने माने हुए सम्बन्धको अर्थात् अपने और शरीरके वास्तविक भेदको समझकर उन्हें पृथक्-पृथक् देखता है ।

द्रष्टा—विवेकी (विचारवान्) पुरुष ।

मनुष्य स्वभावतः शरीरको ही 'मैं' मानकर कर्मेन्द्रियोंकी प्रधानतासे अपनेको कर्ता और ज्ञानेन्द्रियोंकी प्रधानतासे भोक्ता मानता रहता है, परंतु वही जब विवेकपूर्वक पारमार्थिक मार्गमें अग्रसर होता है, तब उसे यह अनुभूति होती है कि मैं शरीर नहीं हूँ । अतः

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

कर्ता, भोक्ता भी मैं कैसे हो सकता हूँ ? वस्तुतः स्वरूपमें स्थित जो पुरुष गुणोंके अतिरिक्त अन्य किसीको कर्ता नहीं देखता, उसी द्रष्टाकी ओर इस पदसे संकेत किया गया है ।

गुणेभ्यः अन्यम् कर्तारम् न अनुपश्यति—तीनों गुणोंके सिवा अन्य किसीको कर्ता नहीं देखता ।

सात्त्विक, राजस और तामस—तीनों गुण प्रकृतिजन्य होनेसे स्वभावतः न्यूनाधिक होते रहते हैं । आकाशादि पञ्चमहाभूत, अहंकार, मन, बुद्धि, दस इन्द्रियाँ, शब्दादि पाँच (इन्द्रियोंके) विषय और अन्तःकरणकी सात्त्विकादि वृत्तियाँ (वृत्तियोंका घटना-बढ़ना और विकार उत्पन्न होना भी) ये सब इन्हीं तीनों गुणोंके कार्य हैं ।

देखना, सुनना, खाना, पीना, सोना-जागना, चिन्तन-मनन और व्यवहार आदि स्वाभाविक चेष्टाएँ इन्द्रियों, अन्तःकरण और प्राणादिसे होती हैं । जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है—इन्द्रियाँ आदि सभी करण तीनों गुणोंके कार्य हैं । अतः सम्पूर्ण क्रियाएँ तीनों गुणोंमें हो रही हैं । पुरुष सर्वथा गुणोंसे असङ्ग और निर्लिप्त है ।

विचारवान् पुरुष जब सम्पूर्ण क्रियाओंको गुणोंके द्वारा गुणोंमें हुई मानता है एवं अपनेको अकर्ता-अभोक्ता देखता है, तब उसका देखना सही अर्थोंमें देखना है । जब उस द्रष्टाकी दृष्टि सामान्य प्रकाशकी सत्तासे ही होनेवाली क्रियाओंकी ओर जाती है (अर्थात् जब वह ऐसा देखता है कि सम्पूर्ण क्रियाएँ परमात्मतत्त्वकी सत्तासे हो रही हैं) तब उसका यह देखना अनुपश्यति है* ।

* 'पश्यति' पद दृश्यकी ओर देखनेसे सम्बन्ध रखता है और

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

च—और ।

गुणेभ्यः परम् वेत्ति—तीनों गुणोंसे अत्यन्त परे सच्चिदानन्द-घनस्वरूप मुझ परमात्माको तत्त्वतः अर्थात् गुणोंसे अतीत जानता है ।

यहाँ 'परम्' पदका अर्थ दूर नहीं है, किंतु 'गुणोंके साथ रहते हुए भी जो सर्वथा निर्लिप्त हैं' यह उसका अर्थ है । अर्थात् अपने द्वारा जोड़े हुए गुणोंके सम्बन्धसे स्वयं अपनेको सर्वथा निर्लिप्त अनुभव करता रहे, यह 'परम्' पद उसी वास्तविकताकी ओर इङ्गित करता है ।

यद्यपि सत्, चित, आनन्द शब्द परमात्माके बोधक हैं और जीव भी उन्हींका अंश होनेसे उन्हींका स्वरूप है (जीवका वास्तविक सम्बन्ध भी परमात्माके ही साथ है), परन्तु इस जीवने भूलसे मोहवश संसारके अंश शरीरके साथ अपना सम्बन्ध मान लिया तथा प्रकृतिजन्य गुणोंके बन्धनसे गुणोंके कार्य शरीरको ही सत् मान लिया । चित्तसे मान्यता कर ली कि सम्पूर्ण संसारको जान जाऊँ और आनन्द पदसे मान लिया कि भोग भोगनेसे सुखी हो जाऊँ । इस प्रकार इसकी चाहना तो है परमात्माकी (अथवा परमात्माके साथ अपने वास्तविक सम्बन्धको पहचाननेकी) और मूर्खतासे भोगोंमें सुख मानकर उनमें फँस रहा है । जबतक भोगोंकी इच्छा करेगा, तबतक दुःख पाता ही

'अनुपश्यति' पद ब्रह्म (सामान्य चेतन) में अभिन्नभावसे स्थितिका द्योतक है अर्थात् क्रियाओंको प्रकृतिद्वारा होते हुए देखनेमें 'पश्यति' पदका और परमतत्त्वकी सत्तासे क्रियाओंको होते हुए देखनेमें 'अनुपश्यति' पदका प्रयोग किया गया है, यह समझना चाहिये ।

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

रहेगा;* क्योंकि भोग नष्ट होते रहेंगे और इस (स्वयं)का नाश नहीं होगा । इसलिये भोगोंसे कभी इसकी तृप्ति नहीं होती ।

साधक यदि साहस करके निश्चय कर ले कि अब मुझे तो केवल परमात्माकी तरफ ही चलना है तो वह महान् सुखी हो जाय; क्योंकि परमात्माकी तरफ चलनेपर भोग तो नाशवान् होनेसे छूट जायँगे और परमात्मा जो स्वतःसिद्ध, नित्य-प्राप्त हैं उनका अनुभव हो जानेपर वह प्राप्त-प्राप्तव्य, ज्ञात-ज्ञातव्य और कृत-कृत्य हो जायगा । यही परमात्मतत्त्वको गुणोंसे अतीत जानना है ।

(तदा—उस समय ।)

सः—वह (विचारवान् पुरुष) ।

प्रायः मनुष्य विना विचारे अन्यान्योंकी देखादेखी क्रियाएँ करते रहते हैं । ऐसे करनेका क्या परिणाम होगा, इस तरफ बहुत कम लोगोंका ध्यान जाता है । विचारवान् पुरुष कभी निरर्थक—प्रमाद, आलस्यमें समय नहीं खोता ।

मद्भावम् अधिगच्छति—मेरे भाव (स्वरूप) को प्राप्त होता है ।

---

* दुःखोंसे तभी छूटा जा सकता है कि या तो स्वयं (आत्मा) शरीरके साथ ही मर जाय अथवा शरीर ही स्वयंके साथ अमर हो जाय; परंतु इन दोनों बातोंमेंसे एक भी बातका पूरा होना सम्भव ही नहीं । कारण कि स्वयं चेतन और सत् है एवं शरीर जड़ और असत् है । इसलिये दुःखोंसे छूटनेका उपाय यही है कि (स्वयं) शरीरसे अपना सम्बन्ध न माने । ऐसा करनेमें यह सर्वथा स्वतन्त्र है ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

भगवद्भाव सभीको नित्य प्राप्त है। जो नित्य स्वतः प्राप्त है, उसीका अनुभव करना है, फिर भी उसकी प्राप्तिका अनुभव नहीं हो रहा है, कारण कि प्राप्तको अप्राप्त मान रखा है। अनेक प्रकारकी मनःकल्पित (जैसे—हम योग्य नहीं, अधिकारी नहीं, समय ही ऐसा है, इतना जल्दी कैसे हो सकता है, आदि) बाधाएँ स्वयं ही लगाकर वञ्चित रह जाता है। जो संसार-शरीर अप्राप्त है, वह तो कभी प्राप्त होनेका नहीं, किंतु अप्राप्तको प्राप्त माननेसे जो वास्तवमें नित्य प्राप्त है, उन (परमात्मा) का अनुभव नहीं हो रहा है।

'मद्भावम् अधिगच्छति' पदोंसे भगवान्‌का यही कहना है कि विचारवान् पुरुष जब ऐसा देखता है कि गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं और इनसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, तब उसे नित्यप्राप्त परमात्मासे अभिन्नताका अनुभव हो जाता है; अर्थात् यह स्वयं परमात्माका अंश होनेसे मद्भावको प्राप्त ही है।

श्लोक—

गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २० ॥

भावार्थ—

विचार-कुशल पुरुष शरीरकी उत्पत्तिके कारणरूप (बुद्धि, अहंकार और मन तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच भूत, पाँच इन्द्रियोंके विषय—इस प्रकार इन तेईस (२३) तत्त्वोंका पिण्डरूप यह शरीर प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले गुणोंका ही कार्य है, इसलिये इन तीनों गुणोंको इसकी उत्पत्तिका कारण कहा गया है)

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

इन तीनों गुणोंका उल्लङ्घन कर जन्म-मृत्यु-वृद्धावस्था और सब प्रकारके दुःखोंसे मुक्त हुआ परमानन्दको प्राप्त होता है, अर्थात् अमरताका अनुभव करता है।

अन्वय—

देही, देहसमुद्भवान्, एतान्, त्रीन्, गुणान्, अतीत्य, जन्ममृत्युजरादुःखैः, विमुक्तः, अमृतम्, अश्नुते ॥ २० ॥

पद-व्याख्या—

देही—देहवाला (विचार-कुशल पुरुष)।

जो पहले देहाभिमान रखता था तथा अब जो देहधारी कहा जाता है, उस विचार-कुशल पुरुषको यहाँ 'देही' कहा गया है।

वास्तवमें देही देहसे सर्वथा असम्बद्ध—निर्लिप्त है। उसका देहके साथ सम्बन्ध नहीं होता। यदि वह भूलसे देहको अपना मानता है तो फँस जाता है। यद्यपि विचार-कुशल पुरुषका देहके साथ सम्बन्ध नहीं होता, तथापि देहवाला होनेसे उसकी 'देही' संज्ञा हुई है।

देहसमुद्भवान्—देहके उत्पादक।

यह पद 'एतान्, त्रीन्' का विशेषण है। तीनों गुणोंमेंसे किसी भी गुणके साथ सम्बन्ध रहनेके कारण ही पुरुषका जन्म होता है। अतएव गुण ही देहके उत्पादक हैं।

एतान् त्रीन् गुणान् अतीत्य—इन तीनों गुणोंका अतिक्रमण कर इसी अध्यायके पाँचवें श्लोकसे जिन सात्त्विक, राजस और तामस—तीनों गुणोंका विवेचन होता आ रहा है, यहाँ उन्हींके उपसंहारमें गुणोंके उल्लङ्घन करनेकी बात कही गयी है। ध्यान

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

देनेकी बात यह है कि जिस प्रकृतिसे ये गुण उत्पन्न होते है, उस प्रकृतिके साथ भी पुरुषका सम्बन्ध नहीं है, फिर गुणोंके साथ तो उसका सम्बन्ध हो ही कैसे सकता है ?

जन्ममृत्युजरा दुःखैः विमुक्तः—जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था और सब प्रकारके दुःखोंसे मुक्त हुआ ।

जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा, रोग और सब प्रकारके दुःख देह (शरीर)में ही होते हैं । इसलिये भगवान्‌ने उपर्युक्त पदोंके साथ 'दुःखैः' (बहुवचन) पदका प्रयोग किया है । देहसे तादात्म्य नष्ट होनेपर अर्थात् अपने वास्तविक स्वरूपका अनुभव होनेपर गुणातीत जीवन्मुक्त महापुरुषका (जो वास्तवमें देहसे अलग है) देहमें होनेवाले जरा-मृत्यु आदि सब दुःखोंसे किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं रहता । अतः उसे यहाँ सब दुःखोंसे सर्वथा मुक्त कहा गया है ।

जरा और मृत्युके साथ जन्मको भी दुःख बतानेका तात्पर्य—मनुष्यको चाहिये कि वह गुणोंसे उत्पन्न देहके साथ अपना सम्बन्ध मानकर जरा, मृत्यु आदि दुःखोंमें न पड़े तथा पुनर्जन्मरूप दुःखके कारण—गुणोंका सङ्ग न करे । इसीलिये कहा गया है—'हेयं दुःखमनागतम्' (योगदर्शन) अर्थात् आगे आनेवाले दुःखका प्रतीकार पहलेसे ही करना चाहिये ।

विशेष बात

श्रीमद्भगवद्गीतामें 'जरामरणमोक्षाय' (७ । २९); 'जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्' (१३ । ८) और यहाँ 'जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तः' (१४ । २०) पद आये हैं । इन पदोंपर विहङ्गमदृष्टिसे विचार किया जा रहा है ।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

सातवें अध्यायमें 'जरा' और 'मरण' इन दोनोंसे ही मुक्त होनेके लिये कहा गया है, जिसका तात्पर्य ऐसा समझना चाहिये कि मनुष्यका जन्म तो हो ही चुका। अब वृद्धावस्था (जरा) और मरण ही शेष है। वृद्धावस्थामें प्रायः तरह-तरहकी व्याधियाँ हुआ करती हैं, इसलिये 'व्याधि'को 'जरा'के अन्तर्गत लिया गया है—ऐसा प्रतीत होता है। जब जरा-मरणके दुःखोंसे मुक्त हो जायगा तब पुनर्जन्मका प्रश्न ही नहीं रहेगा।

तेरहवें अध्यायमें जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधिके दुःखरूप दोषके कारणको बार-बार देखनेके लिये कहा गया। यहाँ ज्ञानका प्रकरण होनेसे साधक जब इन चारों (जन्मादि)के दुःखरूप दोषके कारणपर बार-बार गहरा विचार करेगा, तो समस्त दुःखोंके कारणरूप शरीरके साथ माने हुए सम्बन्धका सर्वथा अभाव हो जायगा। फिर पुनर्जन्म होनेका प्रश्न ही नहीं रहेगा।

यहाँ (चौदहवें अध्यायमें) जन्म, मृत्यु और जरा तथा सब प्रकारके दुःखोंसे विमुक्त होनेपर अमरताकी प्राप्तिकी बात कही गयी है। व्याधिका दुःख सब प्रकारके दुःखोंके अन्तर्गत आ ही जाता है। अतः इन चारों (जन्मादि)के दुःखोंसे छुटकारा पा जानेपर अमरताका अनुभव हो जाता है। फिर पुनर्जन्मका प्रश्न ही नहीं रहता।

गीताके उपर्युक्त तीनों चरणोंमें आये हुए इन चारों—जन्म-मृत्यु, जरा और व्याधिपर गहरा विचार करके देखा जाय तो पुनर्जन्मका न होना ही मुख्य विषय है। पुनर्जन्म होनेसे अर्थात् शरीर धारण करनेसे ही व्याधि, जरा आदि दुःख आते हैं। आठवें अध्यायके

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

पंद्रह श्लोकमें भी 'मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्। नाप्नुवन्ति महात्मानः·····॥' पदोंसे भगवान् कहते हैं कि मुझे प्राप्त होकर महात्माजन दुःखालय एवं क्षणभङ्गुर पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होते।

वर्तमानमें शरीरके साथ स्वयंकी एकता (तादात्म्य) माननेसे ही पुनर्जन्म होता है और शरीरमें होनेवाले जरा, व्याधि, आदिके दुःखोंको प्राणी अपनेमें मान लेता है। शरीर गुणोंके सङ्गसे उत्तम होता है (१३। २१)। गुणातीत महापुरुष देहके उत्पादक गुणोंसे रहित होनेसे देहमें होनेवाले सभी दुःखोंसे मुक्त हो जाता है। अतएव प्रत्येक मनुष्यको मृत्युसे पहले-पहले गुणातीत हो जाना चाहिये। गुणातीत होनेसे जरा, व्याधि, मृत्यु आदि सब प्रकारके दुःखोंसे मुक्ति हो जाती है और मनुष्य अमरताका अनुभव कर लेता है। फिर उसका पुनर्जन्म होता ही नहीं।

अमृतम् अश्नुते—(वह) अमृत (अमरता)का अनुभव करता है।

देहसे तादात्म्य (एकता) माननेसे ही प्राणी अपनेको मरणधर्मा समझता है। देहके सम्बन्धसे होनेवाले सम्पूर्ण दुःखोंमें सबसे बड़ा दुःख मृत्यु ही माना गया है। पुरुष स्वरूपसे है तो अमर ही, किंतु भोग और ऐश्वर्यमें आसक्त होनेसे और नाश होनेवाले शरीरको अमर रखनेकी इच्छासे इसे अमरताका अनुभव नहीं होता। विचारकुशल पुरुष देहसे तादात्म्य नष्ट होनेपर अमरताका अनुभव करता है।

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

पूर्व श्लोकमें 'मद्भावम् अधिगच्छति' पदोंसे भगवद्भावकी प्राप्ति कही गयी एवं यहाँ 'अमृतमश्नुते' पदोंसे अमरताका अनुभव करनेको कहा गया—वस्तुतः दोनों एक ही बात है। इसी प्रकार कर्मयोगी भी अमरताका अनुभव करता है 'यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्' (गीता ४ । ३१)।

गुणोंके विषयमें ज्ञातव्य बातें—

भगवान् कहते हैं कि पुरुष (जीव) मेरा ही अंश, अविनाशी है। मेरा अंश होनेसे मेरी (भगवान्‌की) सधर्मता (सत्-चित्-आनन्द) की प्राप्तिमें इस (जीव) का पूर्ण अधिकार है। प्रकृतिजन्य गुणोंका सङ्ग करके यह अपनेको पराधीन मानने लगता है। वह अविनाशी तथा मुक्त होता हुआ भी बन्धनमें पड़ जाता है, प्रकृतिजन्य पदार्थोंसे अपनेमें बड़प्पनका अनुभव करता है, अपनेको धनी-मानी मानता है और इन पदार्थोंके आने-जानेसे अपनी गरिमाकी कसौटी लगाता है। सिक्केका अधिक संग्रह होनेपर और पदार्थोंसे भोग भोगनेपर अपनेमें सुखका अनुभव करता है एवं राजी होता है। इन पदार्थ, योग्यता, अधिकार आदिसे अपनेको बड़ा मानकर और इनके अभावमें छोटापनका अनुभव कर सुखी-दुःखी होना, राजी-नाराज होना—यही जीवका गुणोंके द्वारा बँध जाना है। बन्धन तभीतक है, जबतक यह अपने स्वतःसिद्ध स्वरूपकी तरफ नहीं देखता।

प्रकृतिजन्य गुणोंके साथ तादात्म्य एवं अनेक प्रकारके भावों और क्रियाओंमें तदाकारता तथा उनसे लाभ लेनेकी भावनासे यह

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

प्राणी सुखी, दुःखी होता रहता है। क्रिया और भावनाकी अपेक्षा सुख मिलनेकी इच्छा ही बन्धनमें मुख्य हेतु है।

यद्यपि गुणजन्य वृत्तियोंसे सुख मिलता हुआ दीखता है, पर इनसे वास्तविक सुख मिलना असम्भव है; क्योंकि इनमें सुख है ही नहीं, प्रत्युत भगवान्‌ने तो इन्हें दुःखोंका हेतु बताया है।* सांसारिक सुखकी चाहके कारण उस (स्वयं) की दृष्टि अपने स्वरूपानन्दकी ओर जाती ही नहीं। वह (स्वयं) नहीं जान पाता कि मैं इन तीनों गुणोंसे अतीत, अविनाशी, साक्षात् सच्चिदानन्दघन परमात्माका अंश हूँ, प्रत्युत प्रकृतिजन्य गुणों एवं इनके कार्य (पदार्थादि) की ओर आकृष्ट होता रहता है। फल-स्वरूप कभी (सात्त्विक) सुखमें, कभी (राजस) कर्मों और कभी (तामस) मोह, प्रमाद एवं आलस्यमें रहता हुआ संतुष्ट नहीं हो पाता और कभी संतुष्ट हो सकता भी नहीं; क्योंकि तीनों गुण तो बदलते रहते हैं और स्वयं एकरूप रहता है, फिर इन आगन्तुक गुणोंसे सुखी कैसे हो सकता है? इस प्रकार यह तीनों गुणोंमें मोहित होनेके कारण जन्म-मृत्युरूप जालमें फँसा रहता है।

---

* ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥
(गीता ५। २२)

'जो (ये) इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे (यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं, तो भी) निःसंदेह दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं, अतः हे अर्जुन! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उन (भोगों) में नहीं रमता।'

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

आश्चर्यकी बात है कि मनुष्य इसपर ध्यान ही नहीं देता कि उसके सामने ही गुणों (शरीर, संसार) में परिवर्तन हो रहा है, किंतु वह स्वयं कभी नहीं बदलता । घटना और क्रियाएँ अनेक होती हैं; पर 'मैं' एक (सबका द्रष्टा) हूँ । वस्तुतः गुणोंसे पृथक् होते हुए भी वह अपनी पृथक्ताका अनुभव नहीं करता । यही जीवकी महान् भूल एवं भटकनेका खास कारण है ।

भगवान् गुणोंके परिवर्तनका वर्णनकर यह लक्षित कराते हैं कि गुणोंका घटना, बढ़ना, ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म होना, गुणोंके द्वारा प्रकाश, ज्ञान, प्रवृत्ति, लोभ, प्रमाद और मोह आदि वृत्तियोंका होना—यह सब दृश्य (कार्य) है । इनका परिवर्तन अपने सामने है । जन्म-मरण, व्याधि, वृद्धावस्था, हलचल आदि एवं सुखी-दुःखी होना अपने स्वरूपमें नहीं है ।

अन्तमें भगवान् कहते हैं कि 'जैसे मैं इन गुणोंसे सर्वथा असम्बद्ध, असंस्पृष्ट और निर्लिप्त हूँ, वैसे ही मनुष्य (जीवमात्र) भी है ।' अतः मनुष्योंको इसका अनुभव करना चाहिये । इसके पूर्ण अनुभवका नाम ही अमरता है । भगवान्ने (गीता १४ । २ में) 'मम साधर्म्यमागताः' पदोंद्वारा जो बात कही है, उसे ही यहाँ 'मद्भावम्' तथा 'अमृतमश्नुते' पदोंसे दोहराया है । तात्पर्य है कि जो मनुष्य इस कथनकी ओर ध्यान देगा, उसका मनुष्य-जन्म सफल हो जायगा।

शङ्का—इन गुणोंके वर्णनका क्रम पाँचवें श्लोकसे दसवेंतक जैसा भगवान्ने रखा है, वैसा न रखकर निम्नलिखित प्रकारसे रखा जाता तो ठीक लगता । दसवें श्लोकसे पाँचवें श्लोकतकका

Raj Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

क्रम—सर्वप्रथम दो गुणोंको दबाकर एक गुणके बढ़नेकी बात (गीता १४ । १०), गुणोंद्वारा विजय किये जानेपर मनुष्यको क्रमशः विशिष्ट कर्मोंमें लगाना (१४ । ९), देहाभिमानी पुरुषका गुणोंद्वारा बाँधा जाना (१४ । ५) और अन्तमें प्रत्येक गुण पृथक्-पृथक् किस प्रकारसे बाँधता है (१४ । ६—८) इसका वर्णन; किंतु भगवान्‌ने इससे ठीक विपरीत क्रम रखा है, इसका क्या कारण है ? और इसी अध्याय (चौदहवें) में गुणोंका वर्णन करनेका उद्देश्य क्या है ?

समाधान—उपर्युक्त प्रश्नोंके समाधानके लिये इस अध्यायमें आये श्लोकोंके सम्बन्ध-क्रमको विहंगमदृष्टिसे, किंतु ध्यानपूर्वक देखना चाहिये—दूसरे श्लोकमें भगवान् परमोत्तम ज्ञानकी महिमा बताते हुए कहते हैं कि इस ज्ञानको धारण करनेवाले महापुरुष महाप्रलयकालमें भी व्यथित नहीं होते एवं महासर्गके आदिमें पुनः उनका जन्म नहीं होता और जिनका जन्म होता है, उनका वर्णन तीसरे-चौथे श्लोकोंमें हुआ है कि जबतक प्रकृति-पुरुषका माना हुआ संयोग बना हुआ है, तबतक महासर्ग और महाप्रलय होनेपर भी जीवको जन्म-मृत्युसे छुटकारा नहीं मिलेगा। अब यह जानना स्वाभाविक हो जाता है कि पुरुषको प्रकृति कैसे बाँधती है, ताकि यह जानकर प्रकृतिके बन्धनसे छूटा जा सके। तब यह बताया गया कि प्रकृतिके कार्य तीनों गुण ही देहधारी पुरुषको बाँधते हैं (१४ । ५)। इसपर यह जिज्ञासा होती है कि गुणोंका स्वरूप क्या है और वे कैसे बाँधते हैं ? इसके उत्तरमें श्रीभगवान्‌को

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

छः, सात और आठ—इन तीनों श्लोकोंमें क्रमशः सत्त्व, रज और तमोगुणका स्वरूप तथा उनके द्वारा जीवको बाँधे जानेका प्रकार बताना पड़ा। 'कौन-सा गुण जीवको किस व्यापारमें लगाकर बाँधता है ?'—इस प्रश्नके उत्तरमें नवम श्लोकमें बताया गया कि प्रत्येक गुण मनुष्यपर अधिकार कर अपने-अपने कार्योंमें लगाता है। अपने-अपने विशिष्ट व्यापारमें एक ही गुण कैसे लगाता है ? इसके समाधानमें दसवें श्लोकमें कहा गया कि किन्हीं भी दो गुणोंको दबाकर तीसरा गुण अपना अधिकार जमा लेता है, फिर अपने विशिष्ट कार्योंमें लगाता है। इस प्रकारसे पर्यालोचन करनेसे स्पष्ट हो जाता है कि पाँचवेंसे दसवें श्लोकतक जो क्रम भगवान्‌ने रखा है, वही ठीक है।

मूलमें यह गुणोंका प्रकरण तेरहवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकसे बीजरूपमें कहा गया, जिसका विशद वर्णन चौदहवें अध्यायके चौदह श्लोकोंमें (पाँचवेंसे अठारहवेंतक) हुआ है। गुणोंके वर्णनमें भगवान्‌का यह भी लक्ष्य है कि मनुष्यमात्रको अन्त समयसे पहले ही किसी प्रकारसे अपने कल्याणका साधन (अपने गुणातीत स्वरूपका अनुभव) कर लेना चाहिये। गुणोंकी वृद्धिके लक्षणोंका वर्णन ग्यारह, बारह और तेरहवें श्लोकोंमें हुआ है। फिर चौदह और पंद्रह दोनों श्लोकोंमें तीनों गुणोंकी वृद्धिमें प्राण त्यागनेवालेकी गतिका विवेचन किया गया है। आगे कर्मोंका फल भोगना पड़ता है, अतः सोलहवें श्लोकमें कर्मफल बताकर गुणोंके कार्य—वृत्तियोंका लक्षण सत्रहवें श्लोकमें वर्णित किया है। इसी अध्यायके पाँचवें श्लोकमें गुणोंद्वारा प्रकृतिस्थ पुरुषके बाँधे जानेका उपक्रम

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

किया था, उसका अठारहवें श्लोकमें गुणोंकी स्थितिमें गति बताते हुए उपसंहार किया गया है। भगवान् चाहते हैं कि समस्त जीव गुणातीत होकर मुझे प्राप्त हो जायँ। इस हेतु उन्नीसवें और बीसवें (१४। १९-२०) दोनों श्लोकोंमें क्रमशः गुणातीत होनेका उपाय एवं फल बताया गया है।

वस्तुतः यह प्रकरण सगुण-निर्गुण उपासनाका है, जो बारहवें अध्यायसे प्रारम्भ है, बारहवें अध्यायके प्रथम श्लोकमें अर्जुनद्वारा किये गये सगुण-निर्गुण उपासना-विषयक प्रश्नके उत्तरमें उन्नीस श्लोक बारहवें अध्यायके, चौंतीस श्लोक तेरहवें अध्यायके और बीस श्लोक चौदहवें अध्यायके—इस प्रकार कुल तिहत्तर (७३) श्लोक भगवान् लगातार बोलते ही गये। जैसे भक्तिका विशेष वर्णन होनेके कारण बारहवाँ और पंद्रहवाँ अध्याय 'गीताका भक्तियोग' कहलाता है, वैसे ही तेरहवें अध्यायके चौंतीस श्लोक और चौदहवें अध्यायके बीस श्लोक तथा चौदहवें अध्यायके अन्तिम सात श्लोकों- (२१ से २७ तक) में वर्णित गुणातीत पुरुषविषयक प्रश्नोत्तर भी ज्ञानयोगसे सम्बन्धित होनेके कारण कुल इकसठ (६१) श्लोकोंका प्रकरण 'गीताका ज्ञानयोग' कहलाता है। गुणातीतके लक्षणोंका प्रकरण भी बड़े महत्त्वका है।

सम्बन्ध—

गुणातीत पुरुष दुःखोंसे मुक्त होकर अमरताको प्राप्त कर लेता है—भगवान्‌के श्रीमुखसे ऐसी महत्त्वपूर्ण बात सुनकर अर्जुनके मनमें गुणातीत पुरुषके लक्षण जाननेकी जिज्ञासा हुई। अतः वे

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

अगले श्लोकमें भगवान्‌से गुणातीत पुरुषके विषयमें तीन प्रश्न करते हैं ।

श्लोक—

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन् गुणानतिवर्तते ॥ २१ ॥

भावार्थ—

पिछले श्लोकोंमें भगवान्‌के रहस्ययुक्त वचनोंको सुनकर अर्जुन पूछते हैं कि—'हे सर्वसमर्थ प्रभो ! जो इन तीनों गुणोंसे अतीत हो जाता है, वह किस प्रकारके लक्षणोंसे युक्त होता है ? अर्थात् हम कैसे जानें कि उसने तीनों गुणोंका अतिक्रमण कर लिया है ? उसका आचरण कैसा होता है तथा जिन तीन गुणोंकी बात आप अभीतक कहते आये हैं, उनका भलीभाँति अतिक्रमण कैसे किया जा सकता है ? अर्थात् गुणातीत होनेका उपाय क्या है ?'

अन्वय—

प्रभो ! एतान्, त्रीन्, गुणान्, अतीतः, कैः, लिङ्गैः, भवति, च, किमाचारः (भवति), कथम्, एतान्, त्रीन्, गुणान्, अतिवर्तते ॥ २१ ॥

पद-व्याख्या—

प्रभो—हे सर्वसमर्थ प्रभो !

गुणातीत पुरुषके विषयमें जैसा आप जानते हैं, वैसा दूसरा कौन जाननेवाला है; क्योंकि आप गुणोंसे रहित हैं ।

सातवें अध्यायके तेरहवें श्लोकमें 'मामेभ्यः परमव्ययम्' पदोंसे भगवान्‌ने स्वयं अपने लिये कहा है कि मैं तीनों गुणोंसे परे अविनाशी हूँ ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

एतान् त्रीन् गुणान् अतीतः कैः लिङ्गैः भवति—इन तीनों गुणोंसे अतीत हुआ पुरुष किन-किन लक्षणोंसे युक्त होता है।

अर्जुनका प्रश्न है कि जो पुरुष गुणातीत हो जाता है, वह गुणोंके कार्य, शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिके द्वारा कैसे जाना जायगा; क्योंकि गुणातीत अगोचर है। इन्द्रियों आदिसे तो गुणोंके कार्य शरीरादि ही दिखायी देते हैं। अतः साधारण मनुष्य कैसे जाने कि अमुक पुरुष गुणातीत है?

किमाचारः (भवति)—(वह) किस प्रकारके आचरणवाला होता है।

अर्जुनका दूसरा प्रश्न है कि गुणातीत पुरुष और साधारण मनुष्यके आचरणमें क्या अन्तर है? अर्थात् गुणातीत पुरुषसे निषिद्ध आचरण तो स्वाभाविक ही होने सम्भव नहीं; क्योंकि निषिद्ध आचरणोंके मूलमें राग, आसक्ति और कामना ही कारण हैं। गुणातीतके आचरण सर्वथा ग्राह्य होनेसे अर्जुनके मनमें उन्हें सुननेकी जिज्ञासा हो रही है।

च—तथा

कथम् एतान् त्रीन् गुणान् अतिवर्तते—किस उपायसे इन तीनों गुणोंका अतिक्रमण किया जा सकता है?

श्रीभगवान्‌से अर्जुन पूछते हैं कि गुणातीत होनेके विषयमें आपने अभी उन्नीसवें और बीसवें श्लोकोंमें जो उपाय बताया उन्हें तो मैं समझ गया, पर इन उपायोंके अतिरिक्त क्या कोई और भी ऐसा उपाय है, जिससे गुणातीत हुआ जा सके?

CjGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

अर्जुनके इस तीसरे प्रश्नसे ऐसा भाव भी प्रतीत होता है कि इन तीनों गुणोंका अतिक्रमण करने हेतु (मेरे लिये) उत्तम उपाय कौन-सा है ?

सम्बन्ध—

अर्जुनके प्रश्नोंमेंसे पहले प्रश्नके उत्तरमें सर्वप्रथम निम्न दो श्लोकोंमें श्रीभगवान् गुणातीत पुरुषके निर्विकाररूप लक्षणोंका वर्णन करते हैं ।

श्लोक—

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥ २२ ॥
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥ २३ ॥

भावार्थ—

हे पाण्डुपुत्र अर्जुन ! साधक जबतक गुणोंके साथ अपना सम्बन्ध मानता है, तबतक उसमें सत्त्वगुणको समृद्ध करने और रजोगुण एवं तमोगुणको हटानेकी इच्छा तथा चेष्टा स्वाभाविकरूपसे विद्यमान रहती है । परंतु जब उसका गुणोंसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, तब अन्तःकरणमें सत्त्व, रज और तम (तीनों गुणों) के कार्यों (क्रमशः प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह)की वृत्तियाँ (पूर्णतः) आनेपर भी गुणातीतके किंचिन्मात्र भी राग-द्वेषका विकार नहीं होता । व्यवहारकालमें (बाहरसे) लोकसंग्रह या लोकहितार्थ राग-द्वेष करता हुआ दीखनेपर भी वास्तवमें (गुणातीत होनेसे) उसमें राग-द्वेष होते नहीं । कहनेका तात्पर्य यह है कि भोक्तारूपसे

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

जिसे इन वृत्तियोंका अभिमान था, उसने पूर्णताका अनुभव कर लिया। अतः वह वृत्तियोंसे कोई हानि-लाभ नहीं मानता।

एकमात्र अपने स्वतःसिद्ध स्वरूपमें स्थित होने एवं दूसरी स्वतन्त्र सत्ता न रहनेसे वह उदासीन किसके प्रति हो? इसलिये ही लोकदृष्टिमें उसे उदासीनकी तरह 'स्थित' कहा गया है। गुण तो वहाँ (स्वरूप) तक पहुँचते ही नहीं तो फिर वे उसे कैसे विचलित कर सकते हैं? 'गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं' (गीता ३। २८)—इस प्रकार समझता हुआ गुणातीत पुरुष अपने स्वरूपमें स्थित रहता है और उस स्थितिसे कभी चलायमान नहीं होता।

उपर्युक्त दोनों श्लोकोंमें गुणातीत महापुरुषके निर्विकार-रूप लक्षणोंका वर्णन हुआ है।

अन्वय—

पाण्डव, प्रकाशम्, च, प्रवृत्तिम्, च, मोहम्, एव, सम्प्रवृत्तानि, न, द्वेष्टि, च, न, निवृत्तानि, काङ्क्षति ॥ २२ ॥

यः, उदासीनवत्, आसीनः, गुणैः, न, विचाल्यते, गुणाः, एव, वर्तन्ते, इति, यः, अवतिष्ठति, न, इङ्गते ॥ २३ ॥

पद-व्याख्या

पाण्डव—हे पाण्डुपुत्र अर्जुन!

प्रकाशम्—प्रकाश।

इन्द्रियों और अन्तःकरणमें स्वच्छताका नाम प्रकाश है, जिससे विषयको याथातथ्य समझा जाता है।

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

गुणातीत पुरुषमें ज्ञान और शान्तिका कभी अभाव नहीं होता, यहाँ सत्त्वगुणके कार्यमें केवल 'प्रकाश' ही लिया गया है। 'प्रकाश'के अन्तर्गत सात्त्विक ज्ञानको भी समझना चाहिये; क्योंकि स्वच्छतामें स्वतः ज्ञान प्रकाशित होता है। गुणातीत पुरुषका गुणोंके साथ सम्बन्ध न रहनेसे उसे उस (प्रकाश) वृत्तिसे रागरूप विकार नहीं होता। तत्त्वका अनुभव होनेसे स्वयंमें कोई अन्तर* नहीं पड़ता, किंतु इन्द्रियों और अन्तःकरणमें स्वच्छता, निर्मलताका बोध होता है और इनका अपने स्वरूपके साथ सम्बन्ध है—ऐसा भ्रम मिट जाता है।

च—और

प्रवृत्तिम्—कार्य करनेका भाव और क्रिया।

यद्यपि रजोगुणके अन्य कार्य लोभ, अशान्ति, स्पृहा और आसक्ति आदि गुणातीत पुरुषमें नहीं होते, किंतु रजोगुणके बढ़नेपर प्रवृत्ति (कार्य करनेका भाव और क्रियाएँ) उसके द्वारा भी होती हैं। ऐसी प्रवृत्तिकी वृत्ति उत्पन्न होनेपर भी वह अपने स्वरूपमें स्थित रहता है। अतः उसके अन्तःकरणमें प्रवृत्तिके प्रति राग-द्वेष आदि विकार उत्पन्न नहीं होते।

च—तथा

मोहम्—आलस्य, निद्रा और व्यावहारिक कार्योंमें भूल होना।

---

* साधनावस्थामें साधक स्वयंको जैसा—देहसे निर्लिप्त, असम्बद्ध, निर्विकार मानता था (जो कि वास्तवमें है), गुणातीत होनेपर उसे वैसा ही अनुभव होता है। अतः उसमें मान्यता मिटनेके सिवाय कोई अन्तर नहीं पड़ता; क्योंकि जैसा पहले मानता था, वैसा ही अनुभव हुआ है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

यद्यपि तमोगुणकी अन्य वृत्तियाँ—अज्ञान, प्रमादादिका गुणातीत पुरुषमें सर्वथा अभाव हो जाता है (स्वरूप-ज्ञानके नित्य रहनेसे शरीरमें मैं-मेरारूप अज्ञान तो उसके पास आ ही नहीं सकता (गीता ४ । ३७) और बिना कर्ताके* प्रमाद करे ही कौन ?) तथापि तमोगुणके बढ़नेपर गुणातीत पुरुषके शरीरमें भी आलस्य, निद्रा और व्यावहारिक कार्योंमें भूल आदि वृत्तियाँ होती हैं । शरीर-इन्द्रियों आदिमें इन वृत्तियोंके आनेपर उसकी इनके प्रति राग-द्वेषरूप विकारकी वृत्ति नहीं होती । तात्पर्य—गुणातीत पुरुषकी स्थिति सदैव एक-सी ही रहती है ।

एव—भी

सम्प्रवृत्तानि न द्वेष्टि—(प्रकाशादि) वृत्तियोंके आनेपर उनसे द्वेष नहीं होता ।

'ये ऐसी वृत्तियाँ क्यों उत्पन्न हो रही हैं, या हुईं, ऐसी वृत्तियाँ नहीं आनी चाहिये'—इस प्रकारकी द्वेषवृत्तियाँ गुणातीत पुरुषमें कभी उत्पन्न नहीं होतीं; क्योंकि वृत्तियोंमें होनेवाले परिवर्तनोंके साथ वह अपना किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं मानता । इन वृत्तियोंके आने-जानेमें वह लाभ-हानि नहीं मानता; क्योंकि लाभ-हानि माननेमें

---

* वह पहले शरीरको मैं-मेरा मानकर उससे होनेवाली क्रियाओंका कर्ता (मूढ़तासे) अपनेको मानता था एवं अपने सुख-भोगके लिये प्रमाद करता था । परंतु जब शरीरके कारणप्रकृतिजन्य गुणोंसे अतीत (गुणातीत) हो गया (अर्थात् उसे गुणातीत अवस्थाका अनुभव हो गया), तब लोगोंकी दृष्टिमें क्रियाओंका कर्ता दीखनेपर भी वस्तुतः कर्ता नहीं है । फिर प्रमाद करनेका प्रश्न ही नहीं !

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

सम्बन्ध ही कारण है । साधारण प्राणी भी स्वरूपतः वृत्तियोंमें न मिलनेपर भी केवल अपनेको मिले हुए मान लेते हैं । यह मान्यता न माननेसे ही मिट सकती है, किसी अभ्याससे नहीं । जबतक संसारके साथ लिप्त रहता है, तबतक 'कैसे बचा जाय ?' इस जिज्ञासाकी अत्यावश्यकता है ।

च—और ।

न निवृत्तानि काङ्क्षति—वृत्तियोंके चले जानेपर उनके पुनरागमनकी इच्छा नहीं होती । गुणातीत पुरुष इन वृत्तियोंके प्रभावसे मुक्त होता है । अतः इनके चले जानेपर उसको ऐसी इच्छा कभी नहीं होती कि ये वृत्तियाँ पुनः आ जायँ । गुणातीत पुरुषमें जड-चेतनसे माने हुए सम्बन्धसे होनेवाले विकार नहीं होते ।

यः—जो ।

उदासीनवत् आसीनः—उदासीनकी तरह स्थित दीखता है ।

गुणातीत पुरुष तीनों गुणों तथा उनके कार्यरूप शरीरादि एवं वस्तु, व्यक्ति, घटना और परिस्थिति आदिसे सर्वथा निर्लिप्त रहता है । उसके कहे जानेवाले अन्तःकरणमें अन्तःकरण-सहित संसारका अभाव एवं परमात्माका भाव रहता है । अतः पक्षपात-रहित व्यवहार होनेसे वह उदासीनकी तरह स्थित कहा जाता है । वास्तवमें तो उसकी दृष्टिमें एक तत्त्वके सिवाय अन्य स्वतन्त्र सत्ता होती ही नहीं ।

शरीरका संसारसे एवं आत्माका परमात्मासे अटूट सम्बन्ध है; क्योंकि शरीर संसारका एवं आत्मा परमात्माका ही अंश है । जिस

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

प्रकार समुद्र और लहर—दोनोंकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, अपितु वे जलकी सत्तासे ही सत्तावाले हैं अर्थात् तत्त्वसे जलरूप ही हैं; उसी प्रकार शरीर और संसार—दोनोंकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है; अपितु वे परमात्माकी सत्तासे ही सत्तावाले हैं अर्थात् तत्त्वसे परमात्मस्वरूप ही हैं। इस प्रकार एक परमात्मतत्त्वके सिवाय अन्य कोई स्वतन्त्र सत्ता न होनेसे गुणातीत पुरुषका संसारमें कोई आकर्षण नहीं रहता। इस कारण लोगोंकी दृष्टिमें वह उदासीनकी तरह दीखता है। उसकी दृष्टिमें 'नहीं' (जड-संसार) है ही नहीं और 'है' (परमात्मतत्त्व) है ही, फिर वह किससे उदासीन हो !

मैं साधक, जिज्ञासु अथवा सेवक हूँ और मैं गृहस्थ, सम्पत्तिवान् अथवा भोगी हूँ—इन दोनों प्रकारकी मान्यताओंमें प्रथम मान्यता—'मैं साधक, जिज्ञासु अथवा सेवक हूँ' का प्रधान लक्ष्य चेतन परमात्माकी तरफ रहेगा और 'मैं गृहस्थ, सम्पत्तिवान् अथवा भोगी हूँ' इस मान्यतामें प्रधान लक्ष्य जड़ताकी तरफ रहेगा। जिसका लक्ष्य चेतन है, उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति और निवृत्ति साधन होगी जिससे (वह जैसे-जैसे साधन करता जायगा, वैसे-वैसे) जडता सुगमतासे छूटती जायगी और अन्तमें चिन्मय तत्त्व परमात्मा ही रह जायगा। जिसका लक्ष्य जडताकी प्राप्तिका है, वह चेतन तत्त्वकी तरफ तो ध्यान ही नहीं देगा और जड (नाशवान् होनेसे) स्वतः नष्ट हो जायगा, उसके पास रहेगी—आसक्ति, कामना, राग-द्वेषादि आसुरी सम्पत्ति; जिसके कारण उसे जन्मना-मरना पड़ेगा। सार यह निकला कि साधकका लक्ष्य चेतन होना चाहिये, न कि जड़।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

लक्ष्य चेतन होनेसे उसे परमात्म-तत्त्वका अनुभव हो जाता है और वह लोगोंकी दृष्टिमें उदासीनकी भाँति दीखता है।

गुणैः न विचाल्यते—गुणोंके द्वारा विचलित नहीं किया जा सकता।

सम्पूर्ण क्रियाएँ, परिवर्तन और विकार गुणोंमें होते हैं। गुणातीत पुरुष जब अपनेको गुणोंसे परे अर्थात् उनसे सर्वथा निर्लिप्त (अतीत) अनुभव कर लेता है, तब गुणोंमें होनेवाले परिवर्तन और क्रियाओंआदिसे उसमें राग-द्वेष आदि कोई विकार उत्पन्न नहीं होते, वह गुणोंके द्वारा किसी प्रकार भी विचलित नहीं किया जा सकता*।

गुणाः एव वर्तन्ते इति, यः अवतिष्ठति—गुण ही (गुणोंमें) बरतते हैं†—ऐसा (अनुभव करता हुआ) जो (सच्चिदानन्दघन परमात्मामें एकीभावसे) स्थित रहता है।

इन्द्रियाँ और अन्तःकरण तथा ज्ञानेन्द्रियोंके शब्दादि विषय—ये सभी गुणोंके कार्य हैं। अतः इन्द्रियों आदिकी क्रिया—देखना,

---

* यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥
(गीता ६। २२)

'जिस लाभको प्राप्त होकर उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता और (परमात्मप्राप्तिरूप) जिस अवस्थामें स्थित (योगी) बड़े भारी दुःखसे भी विचलित नहीं होता।'

† प्रकृतिजन्यगुणोंसे उत्पन्न अन्तःकरणके सहित इन्द्रियोंका अपने-अपने विषयोंमें विचरना ही 'गुणोंका गुणोंमें बरतना' है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grah

सुनना आदि ही 'गुणोंका गुणोंमें' बरतना है। ऐसा अनुभवकर गुणातीत पुरुष गुणोंके कार्यों तथा उनकी परस्पर क्रियाओंसे सर्वथा निर्लिप्त अपने स्वरूपमें स्थित रहता है।

न इङ्गते—(वह) उस स्थितिसे चलायमान नहीं होता।

इस पदका तात्पर्य यह है कि गुणातीत पुरुषको गुण तो विचलित कर ही नहीं सकते, वह स्वयं भी अपने स्वरूपसे किसी कालमें विचलित नहीं होता; क्योंकि अविनाशी शुद्ध स्वरूपमें कभी कोई क्रिया होती ही नहीं (१४ । २)।

सम्बन्ध—

इसी अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें अर्जुनद्वारा पूछे गये तीन प्रश्नोंमेंसे दूसरे प्रश्नके उत्तरमें अगले दो श्लोकोंमें गुणातीत पुरुषके समतारूप आचरणका निरूपण करते हैं।

श्लोक—

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥ २४॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥ २५॥

भावार्थ—

'गुणातीत पुरुष सुख-दुःख दोनों परिस्थितियोंमें सम तथा अपने स्वरूपमें ही स्थित रहता है। मिट्टीके ढेले, पत्थर और सोनेमें यथोचित व्यवहार-भेद रहते हुए भी उसकी दृष्टिमें ये (तीनों ही) प्रकृतिके कार्य (तत्त्वतः प्रकृति) ही हैं। फलस्वरूप इनकी प्राप्ति-अप्राप्ति, संयोग-वियोगमें उसे हर्ष-शोक नहीं होता। प्रिय-अप्रियकी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

प्राप्तिमें उसकी बुद्धि सम रहती है। वह पुकारे जानेवाले अपने नामकी निन्दा-स्तुतिमें भी सम रहता है। वह सत्-असत्, हेय-उपादेय, सार-असारको ठीक-ठीक तत्त्वसे जाननेवाला होनेके कारण धीर अर्थात् अविचलित है।

वह 'अपने' कहे जानेवाले शरीरके मान-अपमानमें सम रहता है। उसकी दृष्टिमें अपना कोई शत्रु-मित्र है ही नहीं, किंतु अन्य लोग अपनी मान्यताके अनुसार उसे अपना शत्रु या मित्र मान सकते हैं। उस समय उसका व्यवहार अपने शत्रु-मित्र कहे जानेवालोंमें भी पक्षपातरहित ही होता है। उसका सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तृत्वका अभाव होता है। गुणोंसे सर्वथा असम्बद्ध और निर्लिप्त होनेसे वह गुणातीत कहा जाता है।'

अन्वय—

समदुःखसुखः, स्वस्थः, समलोष्टाश्मकाञ्चनः, तुल्यप्रियाप्रियः, तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः, धीरः ॥ २४ ॥ सः, मानापमानयोः, तुल्यः, मित्रारिपक्षयोः, तुल्यः, सर्वारम्भपरित्यागी, गुणातीतः, उच्यते ॥ २५ ॥

पद-व्याख्या

समदुःखसुखः—सुख-दुःखकी परिस्थितियोंमें समान भाववाला।

सुख-दुःखका भोक्ता प्रकृतिस्थ पुरुष (प्रकृति और उसके कार्य गुणोंको मैं, मेरा और मेरे लिये माननेवाला) ही होता है (गीता १३। २१)। गुणातीत पुरुषका प्रकृति और प्रकृतिके कार्य गुणोंका अपने स्वरूपसे यत्किञ्चित् भी सम्बन्ध नहीं रहता। अतः व्यवहारमें सुख-दुःखरूप बाह्य परिस्थितियाँ उसके कहे

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

जानेवाले अन्तःकरणमें विकार पैदा नहीं कर सकतीं, अर्थात् वह सुखी-दुःखी नहीं होता।

स्वस्थः—निरन्तर अपने स्वरूपमें स्थित।

सुखदायी-दुःखदायी परिस्थितिके संयोग-वियोगमें समान भाववाला होनेके कारण गुणातीत पुरुषको 'स्वस्थः' पदसे लक्षित किया गया है। तात्पर्य यह है कि वह कभी (किसी कालमें भी) अपने स्वरूपसे चलायमान नहीं होता। उसकी अपने स्वरूपमें ही एक-रस स्थिति रहती है जो कि पहलेसे ही थी।

समलोष्टाश्मकाञ्चनः—मिट्टीका ढेला, पत्थर और स्वर्णमें समान भाववाला।

चिन्मयताकी प्राप्ति होनेपर गुणातीत पुरुषका जड़पदार्थोंकी ओर आकर्षण नहीं रह जाता। इसलिये सोना, पत्थर और मिट्टीसे यथोचित व्यवहार करते हुए भी उसकी उनमें राग-द्वेषपूर्ण बुद्धि नहीं होती।

तुल्यप्रियाप्रियः—प्रिय और अप्रियमें समान बुद्धिवाला।

व्यक्ति, वस्तु, परिस्थिति, घटना, स्वकृत-परकृत क्रियाएँ, देश-कालादि सभीके वाचक प्रिय-अप्रिय शब्द हैं। साधारण मनुष्योंका प्रकृतिसे माने हुए सम्बन्धके कारण इनके संयोग-वियोगमें प्रिय-अप्रियका भाव होता ही है, साथ ही उनके अन्तःकरणमें राग-द्वेष और हर्ष-

---

* छठे अध्यायके आठवें श्लोकमें 'कर्मयोगसे तत्त्वकी प्राप्ति करनेवाले महापुरुषोंके लिये भी इस पदका प्रयोग हुआ। यथा—'युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥'

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

शोकादि विकार भी होते हैं। किंतु गुणातीत पुरुषमें इनके संयोग-वियोगसे (अपने कहे जानेवाले शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धिके विचारसे) अनुकूलता-प्रतिकूलताका ज्ञान तो होता है, किंतु शरीरादिमें 'मैं'-'मेरे'का भाव न रहनेके कारण इस अनुकूलता-प्रतिकूलतासे उत्पन्न राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि विकार नहीं होते—यही तुल्यप्रियाप्रियता है।

तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः—निन्दा-स्तुतिमें समान भाववाला।

निन्दा-स्तुति वस्तुतः नामकी होती है। गुणातीत पुरुष नामसे अपना आसक्तिपूर्ण कोई सम्बन्ध नहीं रखता। अतः निन्दा करनेवालोंके प्रति उसका द्वेष नहीं होता और स्तुति करनेवालोंके प्रति उसका राग नहीं होता। इसी प्रकार स्तुति-निन्दासे उसके अन्तःकरणमें हर्ष-शोक भी नहीं होते। इसीलिये गुणातीतको निन्दा-स्तुतिमें समान भाववाला कहा जाता है।

धीरः—धैर्यवान्।

नित्य-अनित्य, सार-असार आदिके तत्त्वको जानकर स्वतः सिद्धस्वरूपमें स्थित होनेसे गुणातीत पुरुष धैर्यवान् कहलाता है।

सः—वह (गुणातीत)

मानापमानयोः तुल्यः—मान-अपमानमें समान भाववाला।

मुख्यतः शरीरको लेकर ही मान-अपमानका अनुभव होता है। साधारण मनुष्योंकी शरीरमें अहंता-ममता होती है, इसलिये मान-अपमानसे उन्हें सुख-दुःख तो होता ही है, साथ ही मान-अपमान करनेवालोंके प्रति इष्ट-अनिष्टकी भावना भी उत्पन्न हो जाती है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

अपने वास्तविक स्वरूपका बोध होनेसे गुणातीत पुरुषका शरीरके साथ अहंता-ममतायुक्त सम्बन्ध नहीं रहता। अतः शरीरके सम्बन्धसे होनेवाले मान-अपमान उसके कहे जानेवाले अन्तःकरणमें सुख-दुःखका भाव उत्पन्न नहीं कर सकते। इसलिये मान-अपमान करनेवालोंके प्रति उसके अन्तःकरणमें राग-द्वेषकी वृत्ति उत्पन्न होनेका प्रश्न ही नहीं उठता।

मित्रारिपक्षयोः तुल्यः—मित्र-शत्रुके साथ व्यवहारमें पक्षपातरहित।

यद्यपि गुणातीत पुरुषकी दृष्टिमें अपने कोई मित्र और शत्रु नहीं होते, किंतु दूसरे लोग अपनी भावनाके अनुसार उसे अपना शत्रु अथवा मित्र मान भी सकते हैं। साधारण मनुष्यको भी दूसरे लोग अपनी भावनाके अनुसार शत्रु या मित्र मान सकते हैं; किंतु इस बातका पता लगनेपर उस मनुष्यपर इस बातका असर पड़ता है, जिससे उसमें राग-द्वेष उत्पन्न हो सकते हैं। परन्तु गुणातीत पुरुषपर (इस बातका पता लगनेपर भी) कोई असर नहीं पड़ता। वस्तुतः शत्रु-मित्रकी भावनाके कारण ही व्यवहारमें पक्षपात होता है। गुणातीत पुरुषके अन्तःकरणमें शत्रु-मित्रकी भावना ही नहीं होती। अतः अपने लौकिक मित्र, शत्रु या औरके प्रति उसके व्यवहारमें पक्षपात नहीं होता।

समझौता कराते समय बँटवारेमें गुणातीत पुरुषद्वारा अपने कहे जानेवाले पक्षवालेको कम (उतना ही, जितना वह प्रसन्नतापूर्वक सहन कर सकता है) और विपक्षवालेको कुछ अधिक पदार्थादि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

देनेपर भी वह समता ही कहलायगी; क्योंकि अपने पक्षवालोंके प्रति न्याय और विपक्षवालोंके साथ उदारता होनी चाहिये। यह आदर्श और उत्तम व्यवहार है।

सर्वारम्भपरित्यागी—सम्पूर्ण क्रियाओंको करते हुए भी कर्तृत्वरहित।

सम्पूर्ण क्रियाएँ प्रकृतिके गुणोंद्वारा ही होती हैं। गुणातीत पुरुष (अपने वास्तविक स्वरूपका अनुभव होनेके कारण) अपनेको किसी भी क्रियाका कर्ता नहीं मानता। उसके सम्पूर्ण कर्म फलजनक अर्थात् बन्धनकारक नहीं होते। अतः वह सम्पूर्ण कर्मोंके करते हुए भी कर्तृत्वरहित ही है; क्योंकि गुणातीत होनेके कारण उसका सम्बन्ध गुणोंसे तथा उनसे होनेवाली वृत्ति और क्रियाओंसे भी नहीं होता।

गुणातीतः उच्यते—गुणातीत कहा जाता है।*

---

* गुणातीत होनेका सुगम उपाय और उसकी बाधाएँ हमारे (शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि) द्वारा जो भी क्रियाएँ होती हैं, उनमें प्रथम क्रियाके समाप्त होने और दूसरी क्रियाके प्रारम्भ होनेसे पहले जो संधि-काल आता है, थोड़ा विश्राम होता है, वही निर्विकार गुणातीत (अक्षय) अवस्था है। इस संधि-विश्राम, निर्विकार गुणातीत अवस्थाके लिये हमें कोई उद्योग-परिश्रम या चेष्टा नहीं करनी पड़ती, अपितु यह अवस्था सबकी नित्य स्वतःसिद्ध है। केवल प्रमादवश हम उस तरफ ध्यान नहीं देते और कुछ साधक ध्यान देते भी हैं तो इस अवस्थाका आदर नहीं करते। यहीं साधकसे भूल होती है, जो गुणातीत अवस्थाका अनुभव नहीं होने देती।

जैसे झूला प्रत्येक स्थिति (आगे पीछे या मध्य) में सम (जहाँसे झूलेकी रस्सी बँधी है, उसकी सीधमें) रहता है, उसी तरह गुणातीत

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

गुण प्रकृतिके कार्य हैं और गुणोंके कार्य शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि हैं। मन-बुद्धि आदिद्वारा अपने कारण गुणोंका भी पूरा वर्णन नहीं हो सकता, तो फिर गुणोंके भी कारण प्रकृतिका वर्णन हो ही कैसे सकता है! जो प्रकृतिसे सर्वथा अतीत है अर्थात् गुणातीत है, उसका वर्णन करना तो उन (बुद्धि आदि)के द्वारा सम्भव ही नहीं। वास्तवमें गुणातीतके ये लक्षण तात्त्विक स्वरूपमें तो होते ही नहीं; किंतु अन्तःकरणमें मानी हुई अहंता, ममताके नष्ट हो जानेपर उसके कहे जानेवाले अन्तःकरणके माध्यमसे ही ये लक्षण—गुणातीतके लक्षण कहे जाते हैं। इसीसे 'गुणातीत है' ऐसा न कहकर 'गुणातीतः स उच्यते' पदका प्रयोग किया गया।

वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो गुणातीत पुरुषके लक्षण-आचरण होते ही नहीं। नाशवान् जड़ (शरीरादि) से सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर उसके कहे जानेवाले अन्तःकरणके माध्यमसे ही ये (लक्षण-आचरण) गुणातीतके कहे जाते हैं। ये लक्षण-आचरण गुणातीत पुरुषको पहचाननेके संकेतमात्र हैं कि गुणातीत अवस्थाका अनुभव होनेके बाद अन्तःकरणके क्या लक्षण होते हैं। इसीलिये यहाँ 'गुणातीत है'—ऐसा न कहकर 'गुणातीत कहा जाता है' (गुणातीतः उच्यते) ऐसा कहा गया है।

अवस्था (समता) क्रियामात्रके आरम्भसे पूर्व, आरम्भकाल, समाप्ति तथा समाप्तिके पश्चात् एक समान रहती है और मध्यकाल (क्रियावस्था) में भी एक समान रहती है। परंतु साधकको दृष्टि उस नित्य-निरन्तर रहने-वाली साम्यावस्थाकी ओर न होनेके कारण वह उस अवस्थाका अनुभव नहीं कर पाता।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

गुणातीतके विषयमें महत्त्वपूर्ण बात—

उपर्युक्त चारों श्लोकोंमें गुणातीत पुरुषके निर्विकाररूप लक्षणों और समतारूप आचरणोंका जो वर्णन किया गया है, उसका आशय यह है कि साधकके अन्तःकरणमें जबतक राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि विकार होते हैं, तबतक उसे सन्तोष नहीं करना चाहिये (यद्यपि उसका स्वरूप तो पहलेसे ही गुणातीत है)।

विवेकशील साधक धैर्यपूर्वक बुद्धिके द्वारा कई स्थलोंपर समता रख सकता है, परंतु उपर्युक्त श्लोकोंमें भगवान्‌ने गुणातीत पुरुषके लक्षणों और आचरणोंके प्रसङ्गमें ऐसे पाँच नाम (परिस्थिति, वस्तु, नाम, शरीर और न्याय) गिनाये हैं, जहाँ अच्छे-अच्छे साधक भी समतासे विचलित हो सकते हैं। यदि कोई साधक विवेकपूर्ण बुद्धिद्वारा इन पाँचों अवस्थाओंमें विचलित नहीं होता, तो फिर वह भी सदा-सर्वदा, सर्वत्र 'सम' रह सकता है, अर्थात् गुणातीत हो जाता है—जो पहलेसे ही है। सामान्य साधककी दृष्टि बुद्धिकी समतातक होती है; जबकि गुणातीतकी समता स्वरूपगत होती है। गीताके पाँचवें अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें इन दोनों (साधक एवं गुणातीत) की समताका वर्णन इस प्रकार किया है—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥

अर्थात् जिनका मन (बुद्धि) समभावमें स्थित है, उनके द्वारा जीवित-अवस्थामें ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया है; क्योंकि ब्रह्म निर्दोष और सम है, इससे वे ब्रह्ममें ही स्थित हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

उपर्युक्त श्लोकमें 'येषां साम्ये स्थितं मनः' पदोंसे बुद्धिकी समता एवं 'ब्रह्मणि ते स्थिताः' पदोंसे स्वरूपकी समताकी ओर लक्ष्य है। तात्पर्य यह है कि साधक बुद्धिकी समताके लिये प्रयत्न करता है अर्थात् उसकी दृष्टि बुद्धिकी समतातक ही होती है। बुद्धिकी समता होनेपर स्वतः स्वरूपगत समता प्राप्त हो जाती है। तात्पर्य यह है कि बुद्धि (शरीरादि) से सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर बुद्धिमें स्वाभाविक समताका अनुभव होता है, जो स्वरूपगत समता कहलाती है। वस्तुतः स्वरूप कभी विषम होता ही नहीं। साधक बुद्धिमें समता लानेका प्रयत्न करता है, जबकि गुणातीत पुरुषमें स्वाभाविक समता है।

सम्बन्ध—

इसी (चौदहवें) अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें अर्जुनने श्रीभगवान्‌से गुणातीत पुरुषके लक्षण, आचरण और गुणातीत होनेके उपाय पूछे थे। बाईसवेंसे पचीसवें श्लोकतक गुणातीतके निर्विकाररूप लक्षणों और समतारूप आचरणोंका वर्णन करके श्रीभगवान् अब तीसरे प्रश्नके उत्तरमें गुणातीत होनेका उपाय बताते हैं।

श्लोक—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ २६ ॥

भावार्थ—

गुणातीत होनेकी जिज्ञासावाला साधक संसारसे पूर्णतः सम्बन्ध-विच्छेदका उद्देश्य रखकर, स्वार्थ तथा अभिमानका त्याग कर भगवान्‌का अनन्यभावसे भजन करता है। अव्यभिचारी भक्तियोगके सेवनसे वह

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

तीनों गुणोंका भलीभाँति अतिक्रमण करके ब्रह्मकी प्राप्तिका पात्र बन जाता है।

अन्वय—

च, यः, अव्यभिचारेण, भक्तियोगेन, माम्, सेवते, सः, एतान्, गुणान्, समतीत्य, ब्रह्मभूयाय, कल्पते ॥ २६ ॥

पद-व्याख्या—

च—और

यः—जो (जीवन्मुक्ति चाहनेवाला मुमुक्षु)।

अव्यभिचारेण भक्तियोगेन माम् सेवते—अव्यभिचारी भक्ति-रूप योगके द्वारा मेरा ही भजन करता है।

अव्यभिचारिणी भक्तिका अर्थ है—अनन्यभक्ति। स्मरण रहे कि ग्यारहवें अध्यायके चौवनवें श्लोकमें श्रीभगवान्‌ने अर्जुनको बताया था कि अनन्य भक्तिद्वारा मुझे प्राप्त किया जा सकता है। तदनन्तर बारहवें अध्यायमें अर्जुनके प्रश्नका उत्तर देते हुए ही श्रीभगवान्‌ने यह बताया कि—निर्गुण-उपासकों और अनन्य भक्तिवाले सगुण-उपासकोंमेंसे अनन्य भक्तियुक्त सगुण-उपासक ही श्रेष्ठ हैं। यहाँ भी श्रीभगवान्‌ने गुणातीत होनेके लिये अनन्यभक्तिको ही परमोत्तम साधन बताया है। तात्पर्य यह कि अनन्यभक्ति श्रीभगवान्‌के साकार-रूपके दर्शन और गुणातीत अवस्थाकी प्राप्ति—दोनोंको सुलभ बना देती है (गीता ११ । ५४)।

यदि साधक संसारको महत्त्व दे और संसारकी वासना रखे तो उसकी वह भक्ति 'व्यभिचारिणी' है। इसके विपरीत यदि वह संसारसे

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

सर्वथा विमुख (संसारके नाशवान् सुखोंसे उपरत—विरक्त) होकर एकमात्र परमात्मासे ही अनन्य प्रेम करता है तो उसकी वह भक्ति 'अव्यभिचारिणी' है। यदि वह (भक्त) संसारके प्राणियोंकी सेवा करता है, तो भगवत्स्वरूप या भगवान्‌की प्रजा समझकर करता है। जैसे पतिव्रता स्त्री सास-ससुर, देवर-जेठ आदिकी सेवा पतिके नातेसे ही करती है; क्योंकि वह जानती है कि इनकी सेवासे पति प्रसन्न होंगे, उसी प्रकार भगवद्भक्त भगवान्‌के नाते ही संसारके प्राणियोंकी सेवा करता है।

इस प्रकार अव्यभिचारिणी भक्तिमें केवल एक परमात्माका ही लक्ष्य रहता है। साधक अपने लक्ष्यसे कभी किञ्चिन्मात्र विचलित नहीं होता। उसके उपास्य और आश्रय श्रीभगवान् ही होते हैं।

'मुझे परमात्माको ही प्राप्त करना है' इस निश्चयमें इतनी शक्ति है कि साधक शीघ्र ही धर्मात्मा बनकर परमात्माकी प्राप्तिके योग्य बन जाता है (गीता ९। ३०-३१)। अतएव प्रत्येक साधकको ऐसा निश्चय तो अवश्य ही कर लेना चाहिये।

वास्तवमें अनन्य भक्तिमार्गके साधककी पारमार्थिक क्रियाएँ तो परमात्माकी प्राप्तिके लक्ष्यको लेकर ही होती हैं, पर उसकी व्यावहारिक क्रियाएँ भी परमात्माकी प्राप्तिके उद्देश्यसे ही होंगी। जो लोग धन, मानादि सांसारिक पदार्थोंकी प्राप्तिके लिये श्रीभगवान्‌का भजन-पूजन करते हैं, उनकी इन सात्त्विक क्रियाओंको अव्यभिचारिणी भक्ति नहीं कहा जा सकता। मुख्य बात यह है कि साधककी पारमार्थिक और व्यावहारिक क्रियाओंमें भेद होनेपर भी लक्ष्यका भेद

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

नहीं होता। अनन्य-भक्त एकमात्र श्रीभगवान्‌का ही पूर्ण आश्रय लेता है और अनन्य भक्तिसे गुणोंका सुगमतापूर्वक अतिक्रमण कर जाता है।

सः एतान् गुणान् समतीत्य—वह इन तीनों गुणोंको भली-प्रकार अतिक्रमण कर।

पूर्वोक्त गुणोंको (जिनका वर्णन इसी अध्यायके पाँचवें श्लोकसे अटारहवें श्लोकतक हुआ) अच्छी प्रकार अतिक्रमण करनेके लिये ही उक्त पदका प्रयोग किया है।

ब्रह्मभूयाय कल्पते—ब्रह्मप्राप्तिका पात्र बन जाता है।*

वस्तुतः परमात्मा सबको सर्वदा प्राप्त हैं। उनकी किसीसे देश, कालकी किञ्चिन्मात्र भी दूरी नहीं है। मनुष्य जब संसारके सम्मुख हो, उसका महत्त्व मानकर उससे अपना सम्बन्ध जोड़ लेता है, तभी वह परमात्मासे देश-कालकी दूरीका अनुभव करता है। जबतक परमात्मासे दूरीका अनुभव होता रहे, तबतक (संसारमें) राग—आसक्तिको दूर करनेके लिये साधन करना अत्यावश्यक है। सांसारिक पदार्थों और क्रियाओंमें होनेवाली आसक्ति तभी मिटती है, जब साधक समस्त संसारसे सर्वथा विमुख होकर अनन्य भक्तिरूप योगमें संलग्न हो जाता है; तात्पर्य यह है कि निष्काम भगवद्भक्तके उपाय और उपेय दोनों एक भगवान् ही होते हैं। इसलिये अनन्य भक्तियोगका साधक भगवान्‌के आश्रित होकर संसारसे विमुख और परमात्माके सम्मुख परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही होता है।

---

* दूसरे अध्यायके पंद्रहवें श्लोकमें 'अमृतत्वाय कल्पते' पदसे भी अमरता अर्थात् ब्रह्म-प्राप्तिकी पात्रताका ही कथन हुआ है।

CC-0. RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

मार्मिक बात

श्रीभगवान्‌ने यहाँ गुणातीत होनेके साधनरूप अपनी अनन्य भक्ति और उससे ब्रह्मप्राप्तिका पात्र होनेका कथन किया है। इसपर साधकोंके मनमें यह जिज्ञासा हो सकती है कि सगुण उपासनाके फलस्वरूप निर्गुण तत्त्वकी प्राप्तिकी बात क्यों कही गयी ?

इसका समाधान यह है कि परमात्माके निर्गुण और सगुण स्वरूपमें परमार्थतः कुछ भी भेद नहीं है। गीतामें श्रीभगवान्‌ने निर्गुण उपासकोंको अपनी प्राप्ति (१२ । ४ में), गुणातीत पुरुषको भगवद्भावकी प्राप्ति (१४ । १९ में) और ज्ञान-निष्ठावालोंको पराभक्तिकी प्राप्ति (१८ । ५४ में) बतलायी है। इसी प्रकार (७ । २९ में) श्रीभगवान्‌के अनन्य आश्रितोंको ब्रह्मकी प्राप्ति और (१० । १०-११ में) सगुण उपासना (भक्ति)से तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति होना बतलाया है।

उपर्युक्त विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि सगुण, निर्गुण दोनों ही प्रकारके उपासकोंको अन्तमें एक ही तत्त्वकी प्राप्ति होती है। रुचि, योग्यता, श्रद्धा और विश्वासके अनुसार उत्साह तथा तत्परतापूर्वक चाहे जिस साधन-मार्गसे चला जाय, अन्तिम प्रापणीय वस्तु एक ही है। अतः सांख्ययोग और कर्मयोगका अनुष्ठान करनेवालोंके लिये भी एक ही ध्येयकी प्राप्ति बतलायी गयी है (गीता ५ । ४-५)। श्रीभगवान्‌के किसी भी स्वरूपको इष्ट मानकर उनपर ही पूर्ण निर्भर होनेपर वे अपनी अहैतुकी कृपासे पूर्णताकी प्राप्ति करा देते हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

गम्भीरतासे विचार किया जाय तो परमात्मतत्त्वको सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार आदि रूपोंसे पूर्णतया निरूपित नहीं किया जा सकता । वह (परमात्मा) अपार, असीम और अनन्त होनेके कारण मन, वाणी, इन्द्रियाँ आदिका विषय ही नहीं—'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।'(तैत्तिरीय उ० २ । ९)। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने भी कहा है—'मन समेत जेहि जान न बानी।' उसी परमात्मतत्त्वको लक्ष्य करके सगुण और निर्गुण दो रूपोंसे उसका कथन किया जाता है । सगुण और निर्गुण दोनों उसी परमात्मतत्त्वके विशेषण हैं जो गुणरहित है, उसीमें सम्पूर्ण गुण रहते हैं और जिसमें सम्पूर्ण गुण रहते हैं, वह गुणोंसे रहित है । वह तत्त्व ऐसा अलौकिक और विलक्षण है कि जितने ऋषि, मुनि, महात्मा, तत्त्वज्ञ, जीवनमुक्त आचार्य महापुरुष हुए, वे सब उसके विषयमें जो कुछ कह गये, वह समग्र वर्णन यथार्थ है । इतना वर्णन होनेपर भी परमात्माका पूरा वर्णन हो चुका हो, यह नहीं कहा जा सकता; क्योंकि परमात्मा अपार, असीम तथा अनन्त है । इन्द्रियों, मन आदिके सीमित शक्तियुक्त होनेसे इनके द्वारा असीम परमात्मतत्त्वका पूर्णतया वर्णन हो पाना सम्भव नहीं है । उस तत्त्वकी तो बात ही क्या, उसकी विलक्षण शक्ति प्रकृति (माया) का भी पूरा वर्णन नहीं हो सकता; क्योंकि अन्तःकरण, इन्द्रियाँ आदि प्रकृतिके कार्य हैं । (ऐसा नियम है कि कार्य अपनेमें कारणको लीन नहीं कर सकता) जब इन्द्रियाँ आदिसे प्रकृतिका भी पूरा वर्णन नहीं हो सकता; तब उनके द्वारा परमात्मतत्त्व (जो प्रकृतिसे सर्वथा अतीत है)का पूरा वर्णन कैसे हो सकता है ? अतः इन्द्रियाँ, मन आदि भी अपने कारण—प्रकृतिसे परे परमात्मतत्त्वको

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

नहीं जान सकते। सभी महापुरुष कहते हैं कि वह तत्त्व सर्वव्यापक और सर्वसुहृद् है तथा सम्पूर्ण देश, काल, प्राणी, पदार्थोंसे अतीत होते हुए भी इनमें एकरस रहता है। 'वह परमात्मतत्त्व सर्वत्र पूर्णरूपसे व्याप्त है' इसी भावसे यदि साधक छोटी-से-छोटी प्रतिमामें परमात्माको परिपूर्ण मानकर उपासना करता है तो वह भी उसी तत्त्वको प्राप्त हो जाता है।

परमात्मा ऐसे विलक्षण हैं कि हम उन्हें पूर्णतया नहीं जानते; परन्तु वे हमें जानते हैं। श्रीभगवान्‌की यह महती कृपा है कि हम तो केवल उन्हें अपना मानते ही हैं, जब कि श्रीभगवान् हमें अपना जानते और मानते भी हैं। हम चाहे उनका स्मरण न भी करें, पर उनकी स्मृतिमें हम हैं। हम चाहे उनसे प्रेम न करें, पर वे हमारे परम सुहृद्, हमसे अवश्य प्रेम करते हैं। यदि हम परमात्माकी ओर अग्रसर होते हैं तो वे हमारा योग-क्षेम वहन करते हैं (गीता ९। २२) और यदि हम उनसे विमुख होकर उनकी आज्ञा और विधानके विरुद्ध आचरण करते हैं तो भी हमें शुद्ध करनेके लिये वे प्रतिकूल परिस्थिति भेजते हैं—इसे भी योग-क्षेम ही समझना चाहिये।

श्रीभगवान् पक्षपातसे रहित हैं। वे आस्तिकोंका तो योगक्षेम वहन करते ही हैं, नास्तिक-से-नास्तिकका भी भलीभाँति पालन करते हैं। श्रीभगवान् हमेशा उसी कार्यमें स्वतः लगे रहते हैं, जिसमें जीवका कल्याण हो, अर्थात् उनका प्रत्येक विधान प्राणीके परम मङ्गलके लिये ही होता है। आश्चर्य यह है कि हम भगवत्प्रदत्त वस्तुओंको तो

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

अपनी मानते हैं, पर उस मङ्गलमय विधान करनेवाले प्रभुको अपना नहीं मानते ! ऐसा करनेपर भी श्रीभगवान् हमसे रुष्ट नहीं होते । हम ही प्रभुसे विमुख होकर नाना प्रकारके दुःख पाते हैं ।

जब मनुष्य किसी साधारण व्यक्तिसे स्वार्थ सिद्ध करना चाहता है, तब वह याचक दाताके प्रति घृणा-द्वेष आदि न करके (चाहे दाताके आचरण, भाव आदि कैसे भी क्यों न हों) अपने अभीष्टको देखता है । फिर सच्चे हृदयसे परमात्म-प्राप्तिरूप साधनमें लगे हुए केवल सगुण और निर्गुण उपासक ही नहीं, अपितु अन्य धर्मावलम्बी साधक (बौद्ध, मुसलमान, ईसाई, यहूदी आदि जो सच्चे भावसे अपने उद्धारकी इच्छासे स्व-स्व सम्प्रदायाचार्यों, महापुरुषोंके कहे अनुसार अनुष्ठानमें लगे हैं; वे) भी जिस स्वरूपकी उपासना करते हैं, उसमें अवश्य ही अपने इष्ट परमात्माको देखेंगे । अन्य उपासकों एवं उपासनाओंके प्रति हृदयमें आदरभाव रखकर साधकको केवल अपने साधन-मार्ग और पद्धतिका अनन्य भावसे अनुसरण करना चाहिये; क्योंकि उपासनामें अनन्य निष्ठासे ही शीघ्र सिद्धि प्राप्त होती है । इस प्रकार सावधानीसे साधन करते रहनेसे उसे सबमें अपने इष्टदेव—परमात्माके (जो वास्तविक तत्त्व हैं) दर्शन होते हैं । ऐसा साधक साधारण-से-साधारण प्राणीके प्रति भी अनादर और घृणाका भाव नहीं रख सकता ।

निर्गुण-उपासकोंको अपनी प्राप्ति एवं सगुण-उपासकोंको निर्गुण-तत्त्वकी प्राप्ति कहनेका एक रहस्य यह भी हो सकता है कि उपासनाकी पृथक्-पृथक् प्रणालियोंको लेकर परस्पर न तो किञ्चिन्मात्र भी राग-द्वेष करना चाहिये और न किसी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

सम्प्रदायवालोंको हीन अथवा घृणाकी दृष्टिसे देखना चाहिये; क्योंकि सभी उपासनाओंसे अन्तमें उसी एक तत्त्वकी प्राप्ति होगी। सम्प्रदायका आग्रह, आसक्ति, पक्षपात और अभिमान आदि वे ही लोग करते हैं, जो अपने सम्प्रदायके नियमोंका पालन न कर केवल बाहरसे देखा-देखी समारोहके समय जय-घोषमें लगे रहते हैं। ऐसे लोग अपना कल्याण न चाहकर लौकिक सुख-भोगमें फँसे रहते हैं। अतः साधकको चाहिये कि वह स्व-सम्प्रदायके नियमोंके अनुसार अपना जीवन बनाये, जो साधनमें अत्यन्त सहायक हैं।

सम्बन्ध—

स्वाभाविक ही साधककी रुचि, योग्यता, श्रद्धा और विश्वासके अनुसार साधनाका रूप पृथक्-पृथक् होता है। गीताके तेरहवें और चौदहवें अध्यायोंके साधनाके फलस्वरूप अपनी प्राप्तिका वर्णन श्रीभगवान्‌ने विभिन्न स्थलोंपर अनेक पदोंसे किया है। इससे ऐसा प्रतीत हो सकता है कि भिन्न-भिन्न साधनोंसे प्राप्त फलमें भी विभिन्नता होती है, पर वस्तुस्थिति यह है कि नाम-भेद होनेपर भी प्राप्त होनेवाले तत्त्वमें कोई भिन्नता नहीं है। इसी एकताको इस चौदहवें*

---

* तेरहवें अध्यायमें—'अमृतमश्नुते' (१३ । १२), 'मद्भावायोपपद्यते' (१३ । १८), 'न स भूयोऽभिजायते' (१३ । २३), 'परां गतिम्' (१३ । २८), 'ब्रह्म संपद्यते' (१३ । ३०) और 'ये विदुर्यान्ति ते परम्' (१३ । ३४) पदोंसे तथा चौदहवें अध्यायमें—'परां सिद्धिमितो गताः' (१४ । १), 'मम साधर्म्यमागताः' एवं 'सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च' (१४ । २), 'मद्भावं सोऽधिगच्छति' (१४ । १९) और 'अमृतमश्नुते' (१४ । २०) पदोंसे श्रीभगवान् अपनी प्राप्ति कहते हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

अध्याय (गुणत्रयविभाग-ज्ञान-योग)के अन्तिम श्लोकमें स्पष्ट किया गया है ।

श्लोक—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ २७ ॥

भावार्थ—

श्रीभगवान् कहते हैं—क्योंकि ब्रह्म और अविनाशी—अमृत, शाश्वतधर्म, ऐकान्तिक सुख—इन सबका आश्रय मैं हूँ । अतः ये सब भगवान्‌के ही स्वरूप हैं ।

साधकोंकी रुचि, विश्वास और योग्यताकी भिन्नताके कारण प्रापणीय तत्त्व (परमात्मा) का भिन्न-भिन्न नामोंसे वर्णन होनेपर भी वस्तुतः प्रापणीय तत्त्व एक ही है । अतः साधक किसी भी नामसे (उसे सर्वोपरि समझकर) उपासना करे, परिणाममें उसे एक ही तत्त्व (परमात्मा)का अनुभव होगा ।

अन्वय—

हि, ब्रह्मणः, च, अव्ययस्य, अमृतस्य, च, शाश्वतस्य, धर्मस्य, च, ऐकान्तिकस्य, सुखस्य, अहम्, प्रतिष्ठा ॥ २७ ॥

पद-व्याख्या—

हि—क्योंकि ।

ब्रह्मणः—ब्रह्म अर्थात् निर्गुण तत्त्व ।

च—और ।

अव्ययस्य अमृतस्य—अविनाशी अमृतका ।

जिस अविनाशी अमृतको पाकर मनुष्य अमर हो जाता है, यह पद उसी अमृतका द्योतक है । वैसे देवता भी कालविशेषके लिये अमर तो हैं, किंतु वे भी अन्ततः विनाशको प्राप्त होते हैं ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grar

श्रीभगवान् कहते हैं कि इस अविनाशी अमृत-(जो कि नित्य प्राप्त है)का अनुभव होनेपर पुरुष कभी किसी कालमें भी मरता नहीं है, अर्थात् वह जन्म-मरणसे रहित (अमर) हो जाता है। इस अमरताकी प्राप्तिको ही ब्रह्मकी प्राप्ति कहते हैं।

च-और

शाश्वतस्य धर्मस्य-सनातनधर्मका।

यहाँ 'शाश्वतस्य' विशेषणके सहित 'धर्मस्य' पदके प्रयोगमें श्रीभगवान्का यह मन्तव्य है कि मेरी प्राप्तिका साधन होनेसे सनातन-धर्म भी मेरा ही स्वरूप है; क्योंकि इस धर्मका आचरण करनेसे साधक मुझे ही प्राप्त होता है। संसार और जन्म-मरणके दुःखोंसे छुड़ाकर जो परमात्माकी ओर ले जाय, वह धर्म ही अनादि अर्थात् सनातन है। वह धर्म सदा रहा है और रहेगा। अतः श्रीभगवान् इसे अपना ही स्वरूप बतला रहे हैं*।

---

* हिंदू, बौद्ध, ईसाई और मुस्लिम--ये चार धर्म (वर्तमान समयमें) संसारमें मुख्य माने जाते हैं। इन धर्मोंमें एक-एक धर्मको माननेवालोंकी संख्या करोड़ोंकी है। इनमें बौद्ध, ईसाई और मुस्लिम-धर्मके प्रवर्तक क्रमशः बुद्ध, ईसा और मोहम्मद माने जाते हैं। ये तीनों ही धर्म अर्वाचीन हैं। हिंदू-धर्मके मूलमें कोई मानव प्रवर्तक नहीं है अर्थात् यह धर्म किसी मानवीय बुद्धिकी उपज नहीं है, अपितु यह विभिन्न ऋषियोंद्वारा किया गया आविष्कार (खोज) है। खोज (आविष्कार)से उपलब्धि उसीकी होती है, जो पहलेसे ही है; क्योंकि नया पैदा होनेवाला अनादि नहीं होता। वैदिक सनातन हिंदू-धर्म अनादि, अनन्त एवं शाश्वत है, उत्पन्न (पैदा) नहीं। श्रीभगवान् भी हिंदू-सनातनधर्मकी स्थापना करनेके लिये प्रकट होते हैं, न कि उत्पन्न (पैदा) करनेके लिये (गीता ४। ८)। अन्य सभी धर्म तथा मत-मतान्तर इसी सनातनधर्मसे उत्पन्न होते हैं। इसलिये उन धर्मोंमें भी प्राणियोंके हितकी जो साधनाएँ बतलायी गयी हैं,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

च–और ।

ऐकान्तिकस्य सुखस्य–ऐकान्तिक सुखका ।

इस पदसे श्रीभगवान्‌ने यह बताया है कि यह अखण्ड एकरस आनन्द मेरा ही स्वरूप है* ।

अहम् प्रतिष्ठा–मैं आश्रय हूँ ।

इस पदसे श्रीभगवान् कहते हैं कि सगुण परमेश्वर, ब्रह्म, अविनाशी—अमृत, सनातनधर्म और अखण्ड एकरस आनन्दके रूपमें प्रापणीय तत्त्व एक मैं ही हूँ । तात्पर्य यह है कि साधकोंकी रुचि, योग्यतादिके अनुसार पृथक्-पृथक् स्थलोंपर एक परमात्मतत्त्वको ही भिन्न-भिन्न नामोंसे अभिव्यक्त किया गया है और उन नामोंसे यह एकता बतायी गयी है । (आठवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें भी इसी प्रकारसे उसी तत्त्वको भिन्न भिन्न नामोंसे कहकर उसकी एकता कही गयी है ।)

सारांश यह है कि प्रापणीय तत्त्व एक ही है, जो सभीको सदैव नित्य प्राप्त है । उससे भिन्न कोई अन्य वस्तु नहीं है ।

चौदहवें अध्यायके पद, अक्षर एवं उवाच

(१) इस (चौदहवें) अध्यायके श्लोकोंमें तीन सौ बाईस

वे भी हिंदू-सनातनधर्मकी ही देन माननी चाहिये । अतः उन धर्मोंमें बतलाये गये अनुष्ठानोंको भी निष्पक्ष, निष्काम भावसे कर्तव्य समझकर पालन किया जाय तो कल्याण होनेमें संदेह नहीं मानना चाहिये । प्राणिमात्रके कल्याणके लिये जितना गहरा विचार हिंदू-सनातनधर्ममें किया गया है, उतना अन्यत्र नहीं मिलता । वैदिक हिंदू-सनातनधर्मके सभी सिद्धान्त पूर्णतः वैज्ञानिक और कल्याण करनेवाले हैं ।

* पाँचवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें 'अक्षय-सुख'के नामसे और छठे अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें 'आत्यन्तिक सुख'के नामसे तथा छठे अध्यायके ही अट्ठाईसवें श्लोकमें 'अत्यन्त सुख'के नामसे इसी सुखका वर्णन किया गया है ।

CC-0. RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

(३२२) पद, पुष्पिकामें तेरह (१३) पद हैं, उवाचमें छः (६) पद एवं 'अथ चतुर्दशोऽध्यायः' ये तीन (३) पद हैं। इस प्रकारसे पदोंका पूर्ण योग तीन सौ चौवालीस (३४४) है।

(२) २७ श्लोकोंमें आठ सौ चौंसठ (८६४) अक्षर हैं, पुष्पिकामें इक्यावन (५१) अक्षर हैं, उवाचमें बीस (२०) अक्षर हैं एवं 'अथ चतुर्दशोऽध्यायः' आठ (८) अक्षरोंमें है। अक्षरोंका पूर्ण योग नौ सौ तैंतालीस (९४३) है। इस अध्यायके सभी श्लोक बत्तीस (३२) अक्षरोंके हैं।

(३) इस अध्यायमें तीन उवाच हैं—दो 'श्रीभगवान् उवाच' और एक 'अर्जुन उवाच'।

चौदहवें अध्यायमें प्रयुक्त छन्द

इस अध्यायके सत्ताईस श्लोकोंमेंसे—पाँचवें श्लोकके प्रथम चरणमें 'नगण' प्रयुक्त होनेसे 'न-विपुला', छठे श्लोकके प्रथम चरणमें 'रगण' प्रयुक्त होनेसे 'र-विपुला,' दसवें श्लोकके प्रथम चरण, पंद्रहवें श्लोकके तृतीय चरण और सत्रहवें श्लोकके तृतीय चरणमें 'भगण' प्रयुक्त होनेसे 'भ-विपुला' एवं उन्नीसवें श्लोकके प्रथम चरणमें 'मगण' प्रयुक्त होनेसे 'म-विपुला' अनुष्टुप् संज्ञावाले छन्द हैं।

नवें श्लोकके प्रथम चरणमें 'भगण' और तीसरे चरणमें 'नगण' प्रयुक्त हुआ है। इसलिये यह एक श्लोक संकीर्ण विपुलासंज्ञक छन्दका है। अन्य बीस श्लोक ठीक 'पथ्यावक्त्र' अनुष्टुप छन्दके लक्षणोंसे युक्त हैं।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalg

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding: IKS-MoE-Grant

Rajguru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jaipur